

कबीर काव्य में जन-चेतना

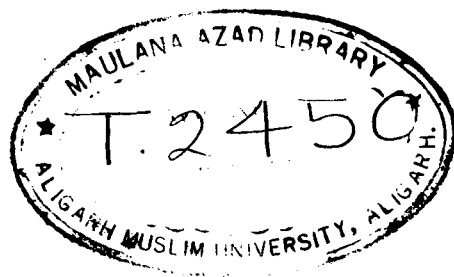
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध



निर्देशक
डा० नज़ीर मुहम्मद
डी० लिट्
रीडर

प्रस्तुतकर्त्री
कुमारी राकेश शर्मा
एम० ए०

हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़



T2450

प्रापकता

कल्कातीय हिन्दी साहित्य में कबीर का ज्ञान अपनी भाषा विषयक और वैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण अज्ञात ही माना जाता रहा है। ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग साधना के दो रूप हैं, जो सीधे न होकर परस्पर सम्बन्धित हैं, ज्ञान की अनुप्राप्ति ही भक्ति है। ज्ञान पर अपने बाह्य साधनों में भी ज्ञान के अनुप्राप्त पक्ष पर बल दिया है, जो अनुप्राप्ति का ज्ञान मात्र वाच्य ज्ञान है, जिससे कुछ भी छिड़ नहीं जाता। इस को विद्या, वाचा माननेवाले तथा ज्ञान मात्र को ही एक मात्र अपनी ज्ञान के रूप में स्वीकार करने वाले साधक कहकर ने भी ज्ञान के अनुप्राप्तिकता बल दिया है।

वाच्य रूप से यह माना जाता है कि निर्गुण प्रकृत सम्बन्ध ज्ञान मार्ग के साथ है और गुण प्रकृत का भक्ति के साथ है। किन्तु जब भी कोई निर्गुण प्रकृत की बात करता है तो प्रकृत का ध्यान वैयक्तिक रूप से ज्ञान मार्ग की ओर ही करता है, भक्ति मार्ग की ओर नहीं।

निर्गुण भक्ति की मान्यता के बारे में भी अनेक मत मतलब दिया जाता है, उसका प्रधान कारण है कल्कातीय साधना का एकलौती या एक पक्षीय विवेक प्रायः साधना के विविध मार्गों या रूपों— विद्वत् मार्ग और श्रुति मार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्ति मार्ग, निर्गुण भक्ति और गुण भक्ति, भक्ति और रहस्यवाद आदि का विवेक करते हुए यह सब

ही स्वीकार कर लिया जाता है कि यह मार्ग या रूप परस्पर विपक्षी और विरोधी है। यह तरह की मान्यता के ऐतिहासिक कारण हैं।

भारतीय धर्म साधना के इतिहास में कबीर दास जैसे महान् विचारक एवं प्रतिभाशाली महाकवि हैं जिन्होंने सत्ताधिनियों की शोभा का उत्खनन कर दीर्घकाल तक भारतीय जनता का मन बातीलित किया और उनके कर्णों में जनजीवन का नायकत्व किया। ईश्वर पर के समस्त कविता में कवि कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं नीतिक थे। अन्तर्गत के परम साधक कबीरदास सामान्य जनता के रहित थे। उन्होंने कई स्पष्ट कृत्यों में कहा है कि 'यदि कानन दुखी नहीं रहन नखी नहीं जाय।' अतः यह बात निर्विवाद है कि उन्होंने स्वतः किसी ग्रन्थ की लिपिक नहीं किया है। कवि के रूप में कबीर जीवन के अत्यन्त निकट हैं क्योंकि उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या व्यापक है, उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि 'मे कहता हूँ बहिष्कृत देखी हूँ कहता कानन की देखी'। वे कल्प थे ही विद्रोही, प्रकृति से अनाथ सुधारक कारणों से प्रेरित होकर धर्म सुधारक आधुनिक कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में विद्यमान है। कबीर की अभिव्यक्ति ऐसी बड़ी सविस्तर है, उन्होंने ज्ञान मण्डित वैराग्य, योग, छठयोग आदि विषयों की कई सुबोध रूप में व्यक्त किया है। एक और रहस्यवाद के भाषात्मक पक्ष की उद्घाटित करने वाले कवि हैं सुन्दर रूप की निर्मल धारा है जो सुखी और सत्य की अनुभूति और ज्ञान की गम्भीरता भी है। कबीर साहित्य का- कितना से जीत प्रीति है, रहस्यवाद, प्रतिपाद आदि में अनुभूति से सुख जीवन का जीवनशील स्पर्श करने वाले सत्य ही विद्यमान हैं।

प्रस्तुत तीसरे प्रबन्ध की कव्यावली में विनमृत है। प्रथम कव्याय विषयय प्रेरित के रूप में लिखा गया है। इसी कव्यावली कबीर कासीन परिस्थितियों को लिखा गया है। कबीर कासीन परिस्थितियों में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रभाव को विवक्षित करने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय कव्याय कबीर कासीन का चेतना के नैष्ठिक है। इस कव्याय में 'क' शब्द का अधिप्राय इसका प्रयत्न चेतना 'क' शब्द का अधिप्राय स्वरूप समाज में धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य में अधिष्ठात का चेतना के अनेक उपादानों का व्यावहारिक और वर्णन रूप है प्रस्तुत करने का प्रयास है।

तृतीय कव्याय का शीर्षक है- 'कबीर कासीन समाज'। इस कव्याय के अन्तर्गत कबीरकासीन सामाजिक विचार-धारा तत्कालीन व्यक्तिवाद, धर्म का वास्तविक स्वरूप और समाज में व्यापक कविता का व्यापक वर्णन समाज के परिग्रह में किया गया है।

तीसरे प्रबन्ध का चतुर्थ कव्याय 'कबीर की वाणीयों में धार्मिक चेतना' शीर्षक के नैष्ठिक है। इस कव्याय के अन्तर्गत धर्म, का स्वरूप, कबीर कासीन विभिन्न धार्मिक मत बाहुल्यम्बर, धार्मिक ग्रन्थों की मान्यताएँ, वाति पाति का विरोध, कथानुकरण, कबीर के धार्मिक विचार आदि के गुच्छित हैं।

चौथे कव्याय कबीर की वाणीयों में दार्शनिक चेतना शीर्षक के लिखा गया है। इस कव्याय के अन्तर्गत कबीर की वाणीयों

में प्राप्त बीज, ब्रह्म, माया, जड़, सर्वात्मभाव, केवलत्व और उनके वर्तन से सम्बन्धित दृष्टिकोण का अवलोकन किया गया है। इस कव्याय के अन्तर्गत ही निष्कर्ष रूप में कबीर का क्या दृष्टिकोण रहा उल्टा भी की प्रविष्टावन किया है।

तीसरा प्रबन्ध का अष्टम कव्याय 'कबीर काव्यीय संस्कृति का-वेत्ता' है। संस्कृति वेत्ता के अन्तर्गत संस्कृति का स्वल्प उल्टा तात्त्विक एवं विश्लेषण संस्कृति और साहित्य भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ, संस्कृति और सभ्यता, संस्कृति के अन्तर्गत उल्टा नीति पदा तथा कबीर साहित्य में प्राप्त संस्कृति पदा का पूर्ण रूप से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया।

अष्टम कव्याय 'कबीर साहित्य में प्राप्त का-वेत्ता' है। इसके अन्तर्गत कबीर द्वारा प्रविष्टावित सात्वतीय-यज पदवि उत्तम उत्तम की भावना कव्यात्मक विषय, उत्तम मीमांसा कबीर का ब्रह्म, वाचरण की सभ्यता आदि के अतिरिक्त कबीर के माया पदा की भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। माया पदा के अन्तर्गत की केवल सम्पीयोजना, कर्तार, आदि की ही किया है। यहाँ कि साहित्यिक वेत्ता के अन्तर्गत माय पदा और कलापदा दोनों की ही आवश्यकता होती है। अन्त में इसी कव्याय का निष्कर्ष भी किया गया है।

तीसरा प्रबन्ध का अष्टम कव्याय 'कबीर निर्वर्तन' शीर्षक से विहित है। इस कव्याय के अन्तर्गत कबीर निर्वर्तन की विशिष्टता कबीर निर्वर्तन का सामाजिक पदा, धार्मिक पदा, राज सात्वात्मक

पता, बाकि पता बादि का भी प्रविधान किया गया है।

सोध प्रबन्ध के अन्त में उपहार प्रस्तुत किया गया है जिसमें सुपूर्ण प्रबन्ध का प्रत्यागन और उत्तराधि है। यह अन्त में सोध के विविध बाधाओं का उपचार करता है।

परिचित के अन्त में संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तथा पत्रिकाओं की सूची भी गयी है जिसके सोध प्रबन्ध में उत्तराधि सामग्री का पता दिया गया है।

प्रस्तुत सोध प्रबन्ध डा० नवीर मुहम्मद डी० एड् , रीडर हिन्दी विभाग , अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय के सुयोग्य निर्देश में पूर्ण हुआ है। मैं अपने सोध निर्देशक और गुरु के प्रति विशेष आभार प्रकट करना प्रथम कर्तव्य समझती हूँ। उनकी कृपा के बिना यह सोध प्रबन्ध पूर्ण ही नहीं हो पाता बाकि मुझे पता पता पर सामग्री के पता देने में दिल्ली कठिनाई का अनुभव हुआ डाक्टर साहब ने मेरी समस्याओं के छोटे हुए भी अपना सुयोग्य निर्देश दिया और प्रबन्ध को पूर्ण कराने में गुरुवर भार को स्वीकार किया। अतः आभार प्रकट के लिए कुछ मन्त्रार तुक था गया है। फिर भी मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

मैं अपने विद्याभाष्यता प्रदेय प्रोफेसर डा० प्रेमचन्द मुन्दा , हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर सोध प्रबन्ध की सिली समय मुझे निम्न कठिनाईयों का समाधान करना पड़ा उन्होंने उनका समाधान प्रस्तुत कर मेरे मार्ग को प्रशस्त किया।

मैं अपनी प्रणय भाषा भी डा० मन्मथ साह
 सर्मा, रीडर , हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय एवं डा० रामानु
 सर्मा, डी०एड् , कन्नडा, हिन्दी विभाग , बी कैटेगरी विश्वविद्यालय,
 तिरुवति (बाम्नाप्रसिद्ध) की भी बाबारी हूँ, जिन्होंने मेरे तीर्थ प्रस्थ की
 पूर्ण करने के लिए मुझे समय समय पर लोक सुझाव दिये और लोका का यह
 केवल परिणाम है कि यह तीर्थ प्रस्थ यह रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है । अतः
 मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता अपना धर्म समझती हूँ ।

डा० रामेश्वर दयाल, एम० ए० पी-एचडी०,
 हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के सीनियर, स्नेह और सीधारे
 के लिए बाबारी हूँ, जिन्होंने मुझे यह तीर्थ प्रस्थ की पूर्ण करने में मेरी
 सहाय्यता प्रदान की ।

अतः मैं मैं अपनी परम प्रणय पिता भी रामजी
 साह सर्मा एवं मन्मथजी माँ सीतादेवी की कृपा का उल्लेख करते बिना नहीं
 रह सकती जिन्होंने यह तीर्थ प्रस्थ की पूर्ण करने के लिए मुझे सब प्रकार की
 सहाय्यता और स्नेह दिया । उनकी यह कृपा के बिना यह तीर्थ प्रस्थ दो वर्ण
 की अवधि में पूर्ण हो नहीं हो पाता । अतः माँ और पिता के प्रति कृतज्ञता
 ज्ञापन केवल औपचारिकता ही नहीं यह मेरे अन्तःस्वतः के भाव भूषण हैं, जिन्हें
 मैं लोका रूप में प्रस्तुत कर रही हूँ । लोका रूप मैं मैं अपनी लकी कन्य जीमती
सर्वज्ञ कुमारी सर्मा एम० ए० बी०एड् की अध्यक्षता देना नहीं चाहती कि उन्होंने
 यह अवधि के मध्य की सहाय्यता प्रदान की उनके मन्त्र की बाजार प्रसन्न के माध्यम
 से कम नहीं करता चाहती ।

एक संघर्ष में मैं अपनी बीमारी खुशों वि० रायसि
 मोह बीर वि० बीमो मोह को कि मुस्लिम विश्वविद्यालय के बीमोमोहिन
 एण्ड टेक्नीसीकी कारिब में क्यकन हत हैं उन्हें भी विस्तृत नहीं करता चाहूँगी ।
 विगत की बर्षों में कलीमद की क्वागाम्म स्थिति में उन बीमो भाव्यों ने मेरी
 एक धारस्वत-वात्रा को पूर्ण करने में भरपूर सहायता की । अतः मैं इनको
 अपना हार्दिक स्नेह बीर वासीमोमि देती हूँ।

प्रस्तुत सीध प्रमन्थ को पूर्ण करने में प्रत्येक
 बीर प्रमन्थ रूप से किन विद्वानों की कृतिवों से लाभान्वित हुए हैं उनके प्रति
 भी मैं कृतज्ञ हूँ ।

मेरा यह सीध प्रमन्थ पूर्ण रूप से मौलिक
 है। एक प्रमन्थ को एही रूप में मैं बीजापाणि के बरणों में समर्पित करती
 हूँ ।

हिन्दी विभाग

कलीमद मुस्लिम विश्वविद्यालय
 कलीमद

शक्तिश २०
 (५० राकेस सर्मा)

एन० ५०

विषयानुसूचिका

कबीर काव्य में जन-चेतना

पृष्ठ संख्या

विषय सूची

प्रथम अध्याय : कबीरसाहेब परिस्थितियाँ

१-५७

(अ) सामाजिक परिस्थितियाँ ✓

(ब) राजनीतिक परिस्थितियाँ ✓

(क) धार्मिक परिस्थितियाँ ✓

(ख) ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

✓ (ग) साहित्यिक प्रभाव

द्वितीय अध्याय : जन-चेतना

५८-९९

• जन • सङ्घ का वित्तप्रवाह

• जन • सङ्घ का प्रवर्तन

• चेतना • का सांस्कृतिक वित्तप्रवाह ✓

सांस्कृतिक

✓
" चेतना " का स्वरूप

काम्यस्य कथं चेतन

काम्यस्यैव कथं चेतना

सूक्ष्म वाक् काम्यस्यैव : चेतना का प्रकाश

वसाय काम्यस्यैव : धर्म- चेतना

काम्यस्यैव : धर्मान

चेतना : सत्त्व

चेतना का स्वरूप- विशेषण

समाय में अभिव्यक्त क-चेतना

धर्म में अभिव्यक्त क- चेतना

(१) विचारपदा

(२) वाच्य पदा

(३) साधना उपायना और पूजा पदा

(४) विश्वास और पुराण पदा

दर्शन में अभिव्यक्त क-चेतना :

सामान्य सिद्धान्त

(१) नैतिक व्यवस्था में विश्वास

(२) कर्म सिद्धान्त

(३) कर्म का कारण

(४) मोक्ष

(५) मोक्ष का उपाय

(६) कारण कार्य को मोक्षसा

✓ संस्कृति में अभिव्यक्त क-चेतना

साहित्य में अभिव्यक्त क-चेतना

विश्लेष

कबीर की सामाजिक विचारधारा

- (क) व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति
- (ख) धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप
- (ग) पारम्परिक संघर्ष
- (द) कबीर का कार्य
- (ध) दर्शन के क्षेत्र में
- (य) धर्म क्षेत्र में
- (र) समाज क्षेत्र में

✓ **कबीर की वाणियाँ में सामाजिक चेतना**

- (क) चेतना के रूप की जीवन दृष्टि
- (ख) धार्मिक उत्पत्ति
- (ग) साहित्यिक उत्पत्ति
- (द) धार्मिक एवं लौकिक साहित्य

कबीर कालीन समाज को प्रभावित करने वाले तत्त्व

१- मानवीय चेतना

२- परिवार

(बिबी गिरी की स्थिति , माता पिता कीर
पुत्र के सम्बन्ध)

३- नारी भावना

(नारी का वस्तु रूप : प्रतीक रूप में नारी)

४- हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध

निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय : कबीर की वाणियाँ में धार्मिक-वैतना ००

- १- धर्म का शाब्दिक अर्थ
- २- धर्म शब्द का अभिप्राय
- ३- धर्म का स्वरूप
- ४- कबीर एवं विभिन्न धार्मिक मत
- ५- बाह्याढम्बर हीनता पर बल

१- पूजा

२- स्नान

३- ब्रत

- ६- धार्मिक ग्रंथों की मान्यताएँ
- ७- वासि पाँति का सङ्गठन
- ८- सन्धानुकरण
- ९- मानवीय गुणों पर बल
- १०- कबीर के धार्मिक विचार

पंचम अध्याय : कबीर की वाणियाँ में दार्शनिक वैतना

३१३-३६३

००

- १- जीव का स्वरूप
- २- ब्रह्म का स्वरूप
- ३- कैवल्यत्व
- ४- स्यात्स्वाय
- ५- साया का स्वरूप
- ६- 'जह' का वास्तव

७- 'पद्म' वीर 'पैतल' का सम्बन्ध

८- पद्म की वात्सा है

९- कबीर का दृष्टिकोण

अष्ट अध्याय : सांस्कृतिक जन-पैतल

पृ० सं० ३७४-४२५

'सांस्कृतिक' का सांस्कृतिक अर्थ

सांस्कृतिक के विभिन्न स्वरूप वीर विशिष्टता

सांस्कृतिक वीर साहित्य

भारतीय सांस्कृतिक की विशिष्टताएँ

(क) विशिष्टता

(ख) सांस्कृतिकता

(ग) सात्वत धर्मिकता

(घ) लोकजीवन की भावना

सांस्कृतिक वीर सम्बन्ध

सांस्कृतिक

'सांस्कृतिक' का सांस्कृतिक अर्थ

सांस्कृतिक का उद्देश्य

(क) व्यक्ति का पूर्ण विकास

(ख) नीतिक समृद्धता

(ग) सांस्कृतिकता

(घ) वैयक्तिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति

(ङ०) अनुभव प्राप्त करने की दृष्टि

१- व्रज संस्कार

२- उपवास संस्कार

३- दीक्षा के प्रकार

४- विवाह संस्कार

द्विरागम

सुहागराज

वन्द्येय संस्कार

उत्सव और त्यौहार

१- धार्मिक पदा

रत्न राज

केशवराज

पुरुषार्थ के वस्त्र

नारियल के वस्त्र

कुमार प्रसाधन और बाधुचण

दान दान का स्वरूप

(क) निराभिध धीक

(ख) धामिध धीक

धम कार्य

पान सुपारी

✓ वैपारिक और भावनात्मक पदा 458

✓ विपार और कर्म का सम्बन्ध

✓ धादि के विस्वाह और वास्वाह

✓ कबीर का दृष्टिकोण

✓ धादा धीमन उच्च विपार

विचर्च

✓
संक्षेप कव्याय : कबीर की साहित्यिक विद्वत्ता

कबीर की साहित्यिक विद्वत्ता

सत्त्वान्वेषण का वि

सत्त्वसत्त्व- भाषणा

कव्यात्म विद्या

साहित्यिक विद्वत्ता

| सत्त्व नीतिशास्त्र (सत्त्वसत्त्व)

| कबीर का ज्ञान

| नीतिशास्त्र

| कबीर की साहित्यिक विद्वत्ता

| कबीर का समाज में स्थान

| समाजवादी भाषणा का स्वरूप

साधारण की सम्यक्ता

कबीर का भाषा पत्र

| इन्दीवीका

| कबीर

| निष्कर्ष

अष्टम अध्याय : कबीर निबर्तन

कबीर निबर्तन
कबीर निबर्तन की परिचिष्टता
कबीर निबर्तन और सामाजिक पक्ष
कबीर निबर्तन का धार्मिक पक्ष
कबीर निबर्तन और राष्ट्रवादात्मक पक्ष
कबीर निबर्तन का वार्तिक पक्ष

नवम अध्याय : उपनिषद्

५५६-५६८

उपनिषद् और मुख्यतः

परिचिष्ट

सहायक ग्रंथों की सूची
हिन्दी
संस्कृत
अंग्रेजी
सं- पत्रिकाएँ

विषय- सूची

कविकृतानां परिस्थितयः

- (क) सामाजिक परिस्थितयः
- (ख) राजनीतिक परिस्थितयः
- (ग) धार्मिक परिस्थितयः
- (घ) ऐतिहासिक परिस्थितयः
- (ङ) साहित्यिक प्रभाव

विषय- सूची

कबीरसाहेब परिचयिका

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में प्रवृत्त भाव और विचार उसे प्रभावित करते रहते हैं। कवि भी समाज में ही जन्म लेता है, क्योंकि उस कास की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों का प्रभाव उसकी रचनाओं पर पड़े बिना नहीं रहता। किसी भी कवि की रचनाएं उस समय की वास्तविक यता का ज्ञान कराने में सहायक होती हैं। संतों ने जहाँ एक ओर वैयक्तिक जीवन को समुत्पन्न किया वहीं दूसरी ओर लोक-जीवन को भी उदात्तता की ओर लक्ष्य करने का पुण्य प्रयास किया। उनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज के लोक चित्र परिलक्षित होते हैं। संतों ने सामान्य की उच्च मनीषा पर प्रतिष्ठित होकर जिस तत्त्व का दर्शन किया, वह साध्यात्मिक विम्वन धारा की महत्वपूर्ण कड़ी छिद्र हुई, क्योंकि संतों का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा ही था जो समाज के साथ घुलमिल गया था। वेस में जो थे वहि सभ्यताओं का सम्मिलन होने के कारण सामाजिक जीवन का समुच्च होना सामाजिक था। इसी समुच्चता की कारण बाणी की संतों ने सुना और अपने सुन की आवश्यकता को समझकर कही ही निष्ठा के साथ अपनी बाणी द्वारा जनजीवन में ज्ञान-मृत की बर्षा की। साथ ही धर्मांधता रीति-रिवाजों का लुपटण बाति-पाति का मेवभाव, साम्राज्यिकता बादि प्रभावों का विरोध करते उस व्यापक सत्य से परम-तत्त्व की प्राप्ति करने का वाग्रह किया। कबीर बादि संतों की

वा नियों में उनकी अपनी अनुभूति और समाज की प्रतिफलित नहीं हुआ एक कदो दूरी तक परम्परा भी प्रतिफलित हुई है। कबोर काव्य में जिन परम्पराओं की हम बात देखते हैं वे यद्यपि कभी बहुत प्राचीन हो चुकी हैं, तथापि उनके युग में वे जोषित वास्तविकताएँ थीं। सन्त-साहित्य में उनका एक ही पारिभाषिक कर्म है प्रतिफलित हुआ है। सन्त महात्मा प्रायः परि-प्राक्त होती वे जो क्थर उधर प्रवण करते रहते थे और जो भी तत्त्व मिलते उन्हें ग्रहण कर लेते थे, उन्होंने कभी समय की समस्त प्रसिद्ध धार्मिक, सामा-जिक एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं और विभिन्न सम्प्रदायों के सारभूत तत्त्वों की अनुभव के द्वारा आत्मसात् नहीं की तथा अपनी प्रतिभा और प्रयोग के बल से एक बहिनव रूप दिया। यह उनको पौलिक बन नहीं जा सकता है। इसी जागरूकता के सार-ग्रहण की प्रेरणा है उन्होंने उच्छ्वसता के वातावरण में बहुत उठनेवाली स्वात्मिकता और मुक्तता के विरुद्ध आत्मिकता की उद्घोषा किया। सन्तों का विचारधारा उस पैर का प्रवर्तन करने वाली विचार-सरणि थी जिसने युग की जड़ परम्पराओं पर खदेड़ प्रहार किये, और सत्य के अधान में आत्मा का दोष जलाकर बागे बढ़ती रही। संक्षेप में वह भाव-धारा निरान्त कसाम्प्रदायिक सामंजस्यवादी, एक सत्य की आत्मा है फूट पड़ने वाली किरण है।

कबोरकासम परिस्थितियों का व्यक्त निम्नलिखित तथ्यों में विभाजित करके उल्लेखपूर्ण किया जा सकता है।

(क) सामाजिक परिस्थितियाँ

मुस्लिम आक्रमण के पूर्व का भारतीय समाज वर्णों में विभाजित पर आधारित था जिन आदर्शों से प्रेरित होकर समाज की

वर्णों में विभक्त किया गया था। वे वादर्श कालान्तर में सुप्त हो चुके थे। जब वर्णों और कर्मों के सुस्पष्ट निर्धारित नहीं होकर जन्मना निर्धारित होति थे। साधारणतः सर्वपूर्ण जीवन ही गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत जा गया था। वैदिककाल से कलकल जीवन प्रवाह के रूप में बहने वाली भारतीय समाज को धारा जब निष्प्राण और निरजीव हो गई थी। जाति व्यवस्था की प्राण-शक्ति प्रायः सुप्त हो चुकी थी। इस व्यवस्था का रूप बदलते बदलते जब अत्यन्त निम्न कीटि का हो गया था। समाज मुख्यतः उच्च और निम्न वर्णों में विभक्त था। उच्च वर्णों में मुख्यतः ब्राह्मण और क्षत्रिय जाते थे। इनमें ब्राह्मण सर्वोत्तम माने जाते थे। कुत्र ग्रंथ, धर्मशास्त्र एवं स्मृतियों से ब्राह्मणों की सत्ता एवं पहलवानाकांक्षाओं का पता चलता है। अपनी सत्ता के लिए स्तर वर्णों के संगठन का उन्हें अधिकार दिया गया। परन्तु याज्ञवल्क्य एवं विष्णु आदि स्मृतियों के कलौकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मण सर्वोपरि हो गए थे और उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए शास्त्रीय विधानों को रचना की थी। ब्राह्मणवाद के इस अत्याचार का विरोध जैन एवं बौद्ध धर्म के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। बुद्ध ने वेदों की प्रामाण्य नहीं माना और न जातिवाद की ही स्वीकार किया। ये ही सिद्धान्त ब्राह्मणवाद के मुख्य आधार थे। बुद्ध ने यज्ञ, कर्म और परम हिंसा का भी विरोध किया। उन्होंने शास्त्रों के विधानों की स्वीकार नहीं किया। वेदादियों एवं वर्णों के स्थान पर व्यापक मानवीय दृष्टि का प्रचार जाहरी था। जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव में वर्ण व्यवस्था को सुस्तरार चरमराने लगी। बुद्ध के देशवसान के कुछ काल पश्चात् बौद्ध धर्म के मुख्य केन्द्र मगध में बुद्ध, नदी का राज्य स्थापित हुआ और बौद्ध राजास ने उसका पंक्षित्व किया। बुद्ध राजा एवं बौद्ध मंत्री दोनों के विरोध में ब्राह्मण जाणवय ने क्षत्रिय चन्द्रगुप्त की

जसा वस्त्र बनाकर दोनों का नाश किया । जातियों के संयोग के बिना
 शुद्ध एवं सौंदर्य का नाश संभव नहीं है, क्योंकि ये (शुद्ध और सौंदर्य) तो
 ब्राह्मणवाद की एक वर्ण व्यवस्था एवं शास्त्रवाद का हाठ विरोध कर रहे
 थे । कांटिल्य कांटिल्य के कालावधि में ब्राह्मणत्व के महत्त्व की धोखणा
 की गई , कांटिल्य ने काम लगने , बाद ए० महाभारती आदि से रक्षा के
 लिए देवता एवं ब्राह्मणों की पूजा की उचित ठहराया । कांटिल्य के काल-
 शास्त्र से पता चलता है कि शुद्धों के लिए अपने की ब्राह्मण शब्द से भी संबो-
 धित कर देना दण्डनीय अपराध था ।

“ यदि वह किसी ब्राह्मण के साथ संयोग
 करे तो उसे अग्नि में जला दिया जाय , यदि यह जान बूझकर किसी
 ब्राह्मण का उपहास करे जसा उसे किसी प्रकार की शारीरिक शक्ति पहुंचाये
 तो वह शुद्ध वंग- वंग के दण्ड का भागी समझा जाए । ”

वर्ण व्यवस्था का जो रूप वास्तव में प्राप्त
 है उसकी शुरुआत वर्णवर्द्धन के काल में ही हो गई थी । वर्ण व्यवस्था
 से जाति व्यवस्था विकसित हो रही थी, क्षत्रिय ने जातिवर्णों के अतिरिक्त
 जातियों का वर्णन किया है । उसके अनुसार जन समुदाय ने अपने समुदाय
 जातियां बना ली हैं । और उनका वर्णन (संस्था की व्यक्तिता से) संभव
 नहीं । वे जातियां विभिन्न थी और उनकी संस्था भी व्यक्ति थी । जाति-
 वर्णन के अन्तर्गत उनको गणना का विचार नहीं की गई थी ।

धीरे धीरे जैसे जाति उपजातियों की

१- कांटिल्य का कालावधि ५० ४१६

✓ २- निगुण जातिवर्णन - वास्तविक पुष्पुनि ५० २११

✓ ३- मज्झिम नि संत- जातिवर्णन ५० ६१

उत्पत्ति होती रही। वाचार्थे हजारों प्रवाद हिंदी ने सिद्धा है कि ,
 " इन्हीं सदी से दसवीं सदी तक के काल में जिस बात को लेकर हिन्दुत्व
 की भागी में विनम्र होने लगा वह यह था कि हिन्दुओं का एक विशाल समु-
 दाय सृष्टि के मार्ग का अनुयायी था, क्योंकि वह तीर्थ स्थान में पुण्य मानता
 था , वषाभिन्न- व्यसथा में वास्था रहता था, व्रत, उपवास, नरक, पिण्ड-
 दाद का वि में विश्वास करता था तथा सभी देवताओं को पूजा करता था
 किन्तु उनके विपरीत एक और समुदाय था, जो जातिप्रथा को नहीं मानता
 था जो पन्दिरी , तीर्थों और पुरीस्ति में विश्वास नहीं करता था तथा
 जिस देवताओं को शक्तियों में विश्वास नहीं था । यह समुदाय विशेषतः
 उन योगियों और तन्त्रियों से प्रभावित था जो यह कहते थे कि मनुष्य को
 सारी शक्तियाँ उसके अपने शरीर में किसी हुई हैं तथा शरीर और चित्त
 को रुद्धि के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता है।

वषाभिन्न व्यसथा के प्रति उग्र नोति
 स्वीकार करने वाले वषायानी सिद्ध, जैन, वामनागी, योगी , काया स्त्रि
 कादि सभी वेद विरोध में प्रतिस्पर्द्धा कर रहे थे । उनकी दृष्टि में धर्म के
 बाह्यान्तर नियमाचार थे । शास्त्रों का अध्ययन निर्णय था । ब्राह्मणों
 और वेदों की सार्थकता कुछ नहीं थी । उनकी दृष्टि में जाति प्रथा व्यर्थ थी ।
 इस प्रकार यह बात प्रायः स्पष्ट हो जाती है कि कुछ के समय से लगभग
 भारतीय संस्कृति को दो धाराएं बनने लगी थीं । एक धारा ब्राह्मण धर्म
 के समर्थकों को थी जो वेद, स्मृतियों के विधानोंको नहीं मानती थी और
 दूसरी धारा वह थी जो बुद्ध के विचारों से निकलकर सिद्धों से होती हुई

कबोर, नानक आदि में विकसित हुई इस प्रकार सुस्तिम वाङ्मय के समय तक आते आते दो प्रारंभ स्पष्ट हो गई थी। यद्यपि ब्राह्मण धर्म दखनी खदी तक अपनी प्रभुता पूरी तरह स्थापित कर चुका था। किन्तु जैन, बौद्ध, सिद्ध, कायालिक, पार्शुपातादि ने एक ऐसी जीवनधारा की जन्म दे दिया, जिसकी संभावना माना वर्णाश्रम धर्म के अनुयायियों के लिए संभव नहीं हो पाया। उन्होंने अपनी शास्त्रों द्वारा इन जातियों का विरुद्ध कर दिया। ब्राह्मणों द्वारा प्रवाद विवेदों ने लिखा है "गौरक्षमाय के पूर्व एक बहुत से लोग, बौद्ध और जैनत सम्प्रदाय में जो वेद काज्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान जब सुस्तिम धर्म प्रथम बार इस देश में प्रचलित हुआ, तब नाना कारणों से दो प्रतिस्पर्धी धर्म साधनायुक्त दलों में देश विभक्त हो गया। तब वेद काज्य कलर विरुद्ध हुए अथिक्त मानसिक धरातल से पुनः हो लगे थे इस समय जैननग नालो निवाह से देखी जानेवाली बारह धों उपभा लिया था। हिन्दू समाज में भिन्ना कोई आदर नहीं था। मुसलमान जब इस देश में आये तब उन्होंने इस्लाम में दीक्षित होने का निमन्त्रण सभी के सामने प्रस्तुत किया। इस्लाम सभी की बराबर का दर्जा देता था। इसलिए अधिकतर निम्न वर्ग की जातियाँ उनके प्रलोभन में हिन्दुत्व का परित्याग कर मुसलमान बन गईं। ब्राह्मण विवेदों की का कथन है कि, "मुसलमानों के आने के समय उत्तर भारत मैथिल पर्वी वाङ्मय के प्रष्ट जीमी जाति के वयमजोषी लोग धीरे धीरे मुसलमान बनने लगे थे। उन्होंने आगे लिखा है कि "पूर्व काल के वेद काज्य सम्प्रदायों के अन्तर्गत कर्ष जाकि सम्प्रदाय से थे, जिन्होंने मुसलमानों की अपना प्राणकतां समझा। वे समूहकर्म में मुसलमान हो गए। गौरक्षमाय के सम्प्रदाय में कीक बौद्ध, सिद्ध और जैनत सम्प्रदाय वन्धुबन्धत हुए। परन्तु इस सम्प्रदाय के नो बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गए।

मुस्लिम आक्रमण के समय भारतीय समाज को यही दशा थी जिस समय मुसल-
मानों का आक्रमण प्रारम्भ हुआ, भारत को केन्द्रीय सत्ता प्रायः नष्ट हो
चुकी थी। इर्षावर्द्धन के पश्चात् भारत में कोई ऐसा शासक नहीं हुआ जिस
भारत का सम्राट् कहा जा सके। देश की शासकों में विभक्त हो चुका था
और ये शासक परस्पर वैर-शोधन के लिए युद्धरत होकर अपनी शक्ति खोना
कर रहे थे। इस अव्यवस्था और वास्तो विरोध का परिणाम यह हुआ कि
भारत के शासकों को मुस्लिम आक्रमण कालगातार सामना करते हुए पराजित
होना पड़ा। किन्तु वस्तुतः उनकी पराजय का मुख्य कारण ऐसा कि जयचंद्र
विपालकार ने अपनी पुस्तक 'इतिहास प्रवेश' में स्पष्ट किया है कि :
उनके राजनैतिक जीवन का मन्द हो जाना था देश को केन्द्रीय सत्ता के नष्ट
होने के कारण संपूर्ण भारतवर्ष को मातृभूमि मानने और उसके लिए मर
मिटने का उत्साह समाप्त हो चुका था। जनता बहिष्ता में विश्वास करती
थी। बोरता को कमो नहीं थी, किन्तु वह बोरता बलिदानों के साधनों
में प्रकट होती थी। शत्रु जब युद्धदान मागता दखाने पर आ जाता था,
तब मरकर बोरता प्रदर्शित को जाती थी। फल से शत्रुओं का उनको हो
भूमि में सामना करने की आक्रामक नीति का परित्याग कर दिया गया था।
धार्मिक असहिष्णुता एवं राजाओं के अत्याचार के कारण नागरिकों में भाई
भारे का भाव था। इसलिए राजाओं पर हुए आक्रमणों की प्रजा देश पर
हुआ आक्रमण नहीं मानती थी। परिणामतः प्रजा की पूरी सहायता के
अभाव में पराजय का घूंट पीना पड़ता था। हिन्दुओं की पराजय के फल में
उनको अत्यधिक धार्मिकता भी थी। कहते हैं सिन्ध पर जब बरब आक्रमण
हुआ तब वहाँ के निवासियों की यह विश्वास था कि देवता के मिल्हार के

शिर पर फहराने वाले फाण्डे के रस्ते कोहें उन्हें जीत नहीं सकता था ।
वर्यों के द्वारा उस शिर के लोहे जाने पर, फाण्डे के गिरि हो लीन होता
ही गर और पराजित हुए , यही हाल सोमनाथ के मंदिर के ध्वंस के समय
भी हुआ ।

समाज शब्द का अर्थ किसी प्रदेश या
भूखण्ड में रहने वाले उस समूह से है, जिसमें सांस्कृतिक एवं सामाजिक एकता
होती है। कबोरहालीन समाज विभिन्न धर्म, विभिन्न जातियों, विभिन्न
सम्प्रदायों एवं विभिन्न राज्यों के रूप में बिखर गया था । यह सब तत्कालीन
सांस्कृतिक एवं साम्यता के अन्त के रूप में बन गए थे । इस भिन्नता को एक करके
हम वैदिककाल से ही देखने को मिलती है। कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था
का स्वरूप वैदिककाल से ही आरम्भ हो गया था । पर उस समय वर्णों
का चुनाव ऐच्छिक था । किसी भी वर्ण या जाति को स्वीकारने की
पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता थी, धीरे धीरे जाति एवं धर्म का सम्बन्ध इतना
कठोर होता जाता गया कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाना दुर्भर हो गया ।
उस काल में वर्ण व्यवस्था का विभाजन धर्म के आधार पर किया गया था
जिससे कि सामाजिक उत्थति का मार्ग प्रलम्भ होता था । परन्तु मध्यकाल
(कबोरहालीन जो के समय) तक जाति जाति वह वर्ण व्यवस्था सामाजिक
प्रगति एवं भारतीय जनता के दुःख का कारण बनकर रह गयी ।

वैदिक काल में ब्राह्मण विद्या का, पात्रिय
युद्ध का, वैश्य कृषि एवं व्यवसाय का और शूद्र सेवा कर्म करने का ही अधिकारी

१- मानक हिन्दो कीश पृ० २४

२- प्राचीन भारत पृ० २६

३- मनु की समाज की व्यवस्था वर्ण तथा जाति पृ० ४४

माना गया था। इसी एक मातृक हमें कन्यकासीम भारत में भी दृष्टिगोचर होती है। इन जातियों में से विभिन्न जातियाँ बन गयी थीं जिनमें ब्रह्म- बह्वर्ण एवं ऊँच नीच की भावना भर कर गयी थी। इसी कारण एक वर्ण दूसरे वर्ण से ईर्ष्या करता था। परस्पर संघर्ष बढ़ जाता था रहा था। संघर्ष जातियों का कार्य निर्धारित होने के कारण उनका जीवन नीरस एवं स्थानी हो गया था। सभी जातियों के लोग अपनी अपनी जाति में झुकाव अनुभव कर रहे थे तथा असन्तुष्ट थे। ब्राह्मण वर्ग केवल पढ़ने का ही अधिकारी होने के कारण निर्धन था। साधु वर्ग के लोग राज्य की सुरक्षा के लिए युद्ध में मरते थे, परन्तु उच्च वर्ग सुरक्षित थे। वैश्य व्यापारी था, कठिन परिश्रम करके वह कृषि कर्म कर्म करता था फिर भी उसका ज्यादा से ज्यादा भाग राज्य कोष के उदर में होम कर दिया जाता था। शूद्र वर्ग सक्की सेवा करने पर भी भूले एवं नग थे। सभी अपने अपने स्वार्थ की प्रति करने में लगे थे। कोई उच्च वर्ग का होना चाहता था तो कोई राज्य पाना चाहता था, कोई पण्डित बनना चाहता था तो कोई व्यवसायी या व्यापारी बनना चाहता था। कोई भी अपने को नीचा मानने की तैयार नहीं था। यह वर्ण- व्यवस्था सभी वर्णों के लिए कठोर बन्धन थी। सभी को यह व्यवस्था गति में फँसो के समान प्रतीत होती थी।

यह जाति व्यवस्था नीच स्तर के लोगों के लिए अधिक कष्टप्रद थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर निम्न जाति के साधु- संतों द्वारा प्रस्तुतित हुआ। शूद्र सक्की सेवा ही थे। इसलिए वह परम्परागत गुलाम ही गए थे। इसलिए यह जाति व्यवस्था शूद्रों के लिए वेदना स्वल्प थी। उच्च वर्ग के लोग इसे अपने स्वार्थ के लिए रक्ता चाहते थे। पण्डित, गुणो, बूढ़ तथा वान देने वाले

व्यवसायी कर्मों को उच्च समझते थे। उच्च वर्ग निम्न वर्ग का शोचण कर रहा था। निम्नवर्ग की स्थिति समाज में अपमानजनक थी। समाज में ब्राह्मण वर्ग का भेद अत्यधिक था। कबीर ने ऐसे ही कसरी पर लोगों से ब्रह्मना मारम्भ किया। ब्राह्मण वर्ग के लोग झुझीं को परवार्ह से भी बन्कर बतते थे कि कहीं हाया मात्र से उनका धर्म अपवित्र न हो जाय। इस वर्ग की प्रत्येक बात से ताड़ना मिलती थी किन्तु झुझीं की स्थिति शोचनीय ही नहीं थी। इसी कारण वे अपनी इस स्थिति से दुःखी होकर समाज के प्रति विद्रोह की भावना अपनी भीतिर व्युत्पन्न करते थे। इस स्थिति से वह मुक्त होना चाहते थे, प्रयत्न भी कर रहे थे। वैदिक काल से ही यह उच्च वर्ग के (हिन्दू) गुलाम थे और बाद में उन्हें मुसलमानों की भी गुलामी स्वीकार करनी पड़ी। अपनी सेना की कमजोरियों के कारण हिन्दू राजा पराजित हुए एवं उन्हें मुसलमानों की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस पराधीनता का प्रभाव पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इससे हिन्दू जनता के रीति रिवाज पर बहुत कुप्रभाव पड़ा। उन्हें जो सुख सुविधा हिन्दू शासनकाल में प्राप्त थी वह मुसलमानी शासन में नहीं थी। इस प्रकार उनके अधिकार भी सीमित होते गये। इससे उन्हें कौन कौनों का सामना करना पड़ा।

देश में हिन्दुओं की अवस्था बर्धक थी।

उस समय भी प्रादेशिक राज्यों में भी हट पट पटनारी होतीरहती थी। हिन्दुओं के आन्तिकारी विचार उदित हो रहे थे। कबीर के समय में हिन्दू मुस्लिम का जातिगत भेदभाव भी बहुत था। हिन्दू मुसलमानों के कलक कलक समाज के वीर दोनों की कलक कलक व्यवस्थार थी। दोनों ही वर्गों के दो धार्मिक संस्कार थे। दोनों ही अपने अपने धर्मों में सति थे। हिन्दू समाज अपनी सीमाओं में बंधा हुआ था। मुसलमान समाज भी वहीं का वहीं था उन्मति नाम मात्र के

सिर भी नहीं की थी। कोई भी वर्ग सीधे रास्ते पर नहीं चल रहा था। सभी वही उद्देश्य भूत गये थे। मुसलमानी राज्य में जाति पंक्ति का पता होता था। मुसलमानी धर्म को राज्य का संरक्षक प्राप्त था। उच्च वर्ग पर मुस्लिम ही सत्ताशु थे। साधारण पक्ष पर हिन्दुओं की नियुक्ति होती थी। इन्हीं सब कारणों के कारण हिन्दू गरीब एवं मुसलमान धनी हो गये थे। इसीलिए दोनों वर्गों में संघर्ष बढ़ गया था। समाज में चीर, ठग एवं लुटेरे भी थे जो दूसरों के पैसों पर निर्भर थे। मककासीन भारतीय समाज का सारा वातावरण जगजगत् से दूषित था। उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग दोनों का ही पतन हो गया था। सुन्दरियों का वस्त्रवर्क अपहरण कर लिया जाता था। राज दरबार में बहुसंख्य नारियों का संग्रह विलासिता का ही रूप था।

सभी स्त्री- पुरुष का समाज में स्थिति थी तथा नरक का जीवन व्यतीत कर रहे थे। बहुविवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इसके लिए कोई भी सामाजिक प्रतिबन्धन नहीं था। इसी कारण से इस समय में सुन्दर स्त्रियों का अपहरण किया जाता था। स्त्रियों को केवल भोग विलास तक ही सीमित रखा जाता था। उसका समाज में प्रतिष्ठापूर्ण स्थान नहीं था। मुसलमानों के व्यापार एवं उनके सामाजिक रीति रिवाजों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दू समाज में पक्षी प्रथा का प्रचलन हुआ। इस काल में पक्षी प्रथा एवं सती प्रथा का प्रचलन था। स्त्रियों की स्वतन्त्रता नहीं थी। वह पराधीन हो थी। उनका मानसिक विकास नहीं हो पाया था। कबीर कबीर ने स्वतन्त्र स्त्रियों की तत्कालीन समाज के पतन का कारण माना है।

कबीरानाथी समाज में वैश्यागमन तथा शराबखोरी की भी प्रथा प्रचलित थी।
 खोरी, बेईमानी, छद्मखोरी आदि कुर्रियों से समाज में व्यापार फैल रहा था।
 सातवीं, सोनी, विद्वानों की समाज में वादर की दृष्टि से देखा जाता था,
 पूरे व्यक्तियों की समाज में कमो नहीं थी।

कबीर के समय में समाज पूरे विप्लव की
 भावना से जीत जीत दोस्त था। पण्डित, संन्यासी और तपस्वी सभी अपने
 अपने पौत्रों में निपुण थे। कोई भी किसी का सहायक नहीं था। सभी
 विचारधाराएं भिन्न भिन्न थीं। लोग एक दूसरे का अनुकरण करते कार्य करते
 थे। इन बातों के बारे में वह जानती थे वहाँ शून्य थे। कबीरानाथी समाज
 का धर्म बन्धानुकरण ही बन गया था। इसके फलस्वरूप समाज द्वारा अप-
 मानित वर्ग ही सन्त समाज के नाम से विख्यात हुआ। इन सन्तों ने सत्य -
 रूप को जीवन में पूर्ण रूप से उतारा था। उनका गुरु ही 'सत्य' था।

सन्त कवियों का स्वर सामाजिक दुर्व्यवस्था
 के ही विरोध में प्रस्तुत हुआ था। सन्तों ने अपने मन के असन्तोष को
 अपने काव्य के माध्यम से व्यक्त किया। इस प्रकार से यह सन्तों का संघर्ष
 सामाजिक परिस्थितियों के कारण ही उद्भूत हुआ।

बालीव्यक्त में वर्ग पैदा का विचार भी समाज
 के वर्ग वर्ग में व्याप्त हो रहा था। इसका स्पष्ट प्रमाण कबीर की रचनाओं
 में मिलता है। समाज का सम्बन्ध धर्म से भी है, और धर्म ने समाज को व्यवस्था
 में बड़ा कार्य किया है। धर्म के पौत्र में जाति की संकीर्णता हटाने का कार्य

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १८

२- उपरिष्ठ पृ० ३८१

३- उपरिष्ठ पृ० ३७

४- उपरिष्ठ पृ० २

वीर धर्म ने किया था। महायान में तो सभी जाति वीर वर्ग के व्यक्ति सम्बन्धित हो सकते थे। वीर धर्म की प्रतिक्रिया में वैदिक धर्म ने समाज की व्यवस्था में जाति बन्धन की वीर अधिक बृद्ध कर दिया। कुमारिल वीर सैन्य ने जब यज्ञ की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की तो ब्राह्मणों का महत्त्व वीर भी अधिक बढ़ गया किन्तु स्नातन धर्म सब तक लोकप्रिय नहीं हो सका। जब तक कि जाति बन्धन शिथिल नहीं किया गया। रामानन्द वीर कबीर ने जाति बन्धन का कृष्णाम देत दिया था। उन्होंने यह भी सुझाव दिया था कि विदेशियों के धर्म प्रचार का मुकाबला करने के लिए हिन्दू धर्म का पुनर्गठन आवश्यक है तथा जाति भेद यदि शिथिल न किया गया तो धर्म की रक्षा सम्भव न हो सकेगी। इसलिए जाति बन्धन की परम्परा तोड़ने के लिए उन्होंने कृत-पूर्व प्रयत्न किया। "हरि की भक्ति ही हरि का हीरं" के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर उन्होंने धर्म की सत्तत वीर सुसंगठित किया। जाति भेद की संकीर्णता किस सोमा तक पहुँच गई थी, इसका स्पष्ट उदाहरण वीर कबीर की रचनाओं में मिलता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए-

गरम वास भदि कृत् नही जातो ।

ब्रह्म बिन्दु ते समु उत्तपातो ॥ १

इस भाँति जाति के नाम पर समाज सण्ड सण्ड हो गया था। वीर इस समाज की व्यवस्थित करने की आवश्यकता थी। इस सामाजिक दुर्दशा का एक दूसरा भी पक्ष था। समाज के एक कोण में मुसलमानों की भी प्रतिष्ठा हो गई थी। शासक वर्ग के सम्बन्ध रहने के कारण मुसलमान जमी की श्रेष्ठ समझते थे वीर हिन्दुओं को छिहारा की नजर से देखते थे। दूसरी वीर मुसलमानों

की विधर्मी होने के कारण तथा बत्याबार का रूप रत्नी के कारण हिन्दू धूणा की दृष्टि से देखते थे। दोनों वर्ग अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी अलग अलग थे। दोनों के वाचार भिन्न भिन्न थे। अतः दोनों में समझौता होना कठिन था। कबीर ने जिस भाँति मासणों बीर छत्रों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया उसी भाँति हिन्दू बीर मुसलमानों के बीच द्वेष की दोवार तोड़कर उन्हें एक ही परिवार का व्यभिक्त घोषित किया। ऐसा करने में कहीं कहीं उन्हें तब्र कर्ण्य बीर व्याजोषित का वाक्य भी लेना पड़ा किन्तु उन्होंने पूरे विश्वास के साथ सत्य का प्रतिपादन किया।

कबीर के एक पद से स्पष्ट होता है कि उस समय समाज में वाचार की प्रधानता पर हिन्दू मुसलमानों में कितना भेद था -

“ कहतु लु मसीति वसतु है कहर मुसतु किमु केरा ।
हिन्दू पुरति नाम निवासी दुष्ट भदि ततु न हेरा ॥
कहत राम बीबड भेरि नार्ह ।
तु करि मिहरामति सार्ह ।
वस्तु देख हरी का वासा, पड़िनि कहत मुकामा ॥१

एसी प्रकार कीक सम्प्रदायों में लोग विभाजित थे, जिनमें पारस्परिक वैमनस्य था। यह भेद धर्म की ताधार मानकर किया गया था।

“ बीगो कतो तपो ईनिवासो बहु सोरप प्रप्ता ।
हृजित भुजित योनि जटाधर वीति तज भला ॥ २

१- कबीर वचनावली पृ० २

२- ..

इस भाँति चन्द्रगुप्त मौर्य की सत्ताबुद्धी में सामाजिक स्थिति अत्यन्त व्यक्त स्थित थी। राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों की विचलता व्यक्तस्था और परम्परा ने समाज को कर्कर कर दिया था। जब तक समाज व्यक्तस्थित नहीं होता, तब तक किसी भी विचार या धिद्वान्त का प्रसार सम्भव नहीं है। यही कारण है कि कभीरु अनुभूति सम्पन्न संस और कवि होते हुए भी समाज की अनिश्चित परिस्थितियों के प्रति अवासीन नहीं रह सके और वे मथित बान्दीजन के प्रसुप्त प्रवर्तकों में होते हुए भी समाज सुधार के कृष्णों भी बने।

(ब) राजनीतिक परिस्थितियाँ

हिन्दूी साहित्य के बारम्भिक युग की मध्य युग से जोड़ने वाला यह १४ वीं शती भारतवर्ष में सुस्तिम वाक्रमणों के वातक की सत्ताबुद्धी थी। हिन्दू राजाओं में वापस में लकता नहीं थी, उत्तरी भारत में १४ वीं शताब्दी के बाद ही सुसलमानों की उत्था सुदुह हो गई थी। दक्षिण पर सुसलमानों का फलता वाक्रमण १४ वीं शताब्दी में हुआ था। सुसलमान धर्म के फण्डे के नीचे लक थे। हिन्दुओं में ऐसी लकता नहीं थी। फलस्वरूप धर्म की दृष्टि से भी इस काल में विभिन्न वैविध्य था। विदेशियों की राजनीति निर्-कृत और हिंसापूर्ण थी। यह निश्चित था कि इस राजनीति से इस देश की जनता की सहज ही सुमित नहीं मिल सकती थी। बारणकाल की वाकेश और उत्साहमयी वाणो भारतीय नरेशों की ललवारों पर पानी नहीं नहा ली। राजाओं की पारस्परिक छूट ने विदेशियों के कफोर हाथ भी मजबूत बना दिए और उनके शासन ने जड़ फलुहो बारम्भ कर दी। फलस्वरूप उनका वातक दिनोदिन बढ़ने लगा। इस प्रकार वैस विदेशियों की राजनीति ही जन जीवन की भाग्य निर्णायिका बन रही थी। ऐसी स्थिति में जनजीवन बफी सुरक्षा

के लिए बागल ही उठा। एणपीव में उनका शीर्ष एत में ही बह सकता था, विजय भी उसके हाथों नहीं जा सकती थी। अतः विदेशियों से लोहा लेने के लिए उसको सशक्त बनाना ही उठो। उसने समाज की व्यवस्था के लिए धार्मिक सम्प्रदायों के माध्यम से सशक्त, वात्स्य विश्वास, सहिष्णुता, धर्म के प्रति बहिष्कार विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा की यह ऐसा कबज का बिंदु पर विदेशियों की निरंकुश नीति टूटित हो सकती थी। अतः फल के मत में गिरने से बचाने के लिए धर्म के वाचार्यों ने बीजात्मा की निष्पत्ता और नीति जगह के परिपक्वता से जनता की उदासीन बनाकर लोकधर्म की बोधित रखने के बड़े संयुक्त प्रयत्न किए, यही कारण है कि इन वाचार्यों ने अपने सम्प्रदायों में ऐसे जन-कवियों को बोधित किया जो जनता की सामान्य भाषा में धर्म और दर्शन की प्रेरणा बूट वात्स्य विश्वास के साथ जनमानस में भर सके। धार्मिक काल के विविध सम्प्रदाय जैसे भारतीय जनजीवन के जीव प्रयोग थे। जिनसे जनता राजनीतिक के भयंकर बकहर में न उड़ सके इस भाँति यह कहना कि भारतीय जनता बोन होकर असहाय हो गई थी जसा परम्परा की बुद्धियों में जता-बुद्धियों से कहती थी। भारतीय जनजीवन की चेतना के महत्त्व के साथ अन्याय करना है।

सम्पत्ति और सत्ता पर अधिकार बढ़ाने के कारण ही राजनीतिक संघर्षों का जन्म हुआ। इस संघर्ष का विकास सृष्टि विकास के साथ हुआ। समय समय पर देशी-विदेशी राजाओं एवं भारत के प्रान्तीय राजाओं के साथ यह संघर्ष होता रहा। मौर्य एवं गुप्तकाल के बाद भारतीय जनता का जीवन प्रायः स्थिर हो चुका था। पूरे भारतीय वात्स्य और संस्कृति एक ही गयी थी। कोई भी राजनीतिक नर्ण सत्ता या शासन ने उसके जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली थी, पर जब से मुसलमानों के आक्रमण भारत पर होने लगे, भारतीय जनता के जीवन पर कटीर बाधात

हुवा। मुसलमानों के आक्रमण से एक और धर्म पर जोर हुआ और दूसरी तरफ धार्मिक व्यवस्था पर। राजनीति की ऐसी विधापूर्ण प्रवृत्ति के कारण देश की समस्त प्रतिभा जीवन की व्यवस्था की और उल्टा हुआ और धर्म एवं समाज के संगठन की ओर उल्टा ध्यान बाँट दिया। एक बात और थी, जब मुसलमान शासकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग धर्म के प्रचार करने में किया तो जनता में इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया स्वभाविक थी। मुसलमान राज्य के पूर्व भी राजनीतिके साथ धर्म चलता था, चाहे वह धर्म वैदिक हो या बौद्ध।

दक्षिण से धर्म की जो लहर उठी थी वह बाचार्यों के हाथ से निकलकर जनता के कवियों के हाथ में आ गई और वे धर्म और समाज की व्यवस्था के लिए जन भाषा में जागरण के गीत गाने लगे। दक्षिण भारत की उपेक्षा उत्तर भारत की परिस्थितियाँ अधिक भयावह थी। कुछ विद्वानों का मत है कि यदि इस देश में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो हमारा साहित्य नब्बे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है, क्योंकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ़ थी कि उन्हीं के प्रभाव से साहित्य का विकास होता जाता गया। इस कथन में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। जबकि संत सम्प्रदाय के पूर्व नाथ मत शिव और शक्ति के अवितत्त्व से अनुप्राणित था और बाद में वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण के अवितत्त्व से स्फूर्तिमय हो उठा था। अन्य छोटे छोटे कारणों के साथ एक विशेष कारण यह भी है कि संत सम्प्रदाय काब का विभावि दिल्ली के लोदी वंश के राज्यकाल में हुआ। लोदीवंश के शासक विशेष रूप से असहिष्णु थे तथा मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़ने में उनकी राजनीति सक्रिय थी। अपनी वाराण्य की 'अवतारान्त', सारंगपाणि, रसनाथ, गोपाल वादि नामों से फुलते हुए भी संत कबीर ने उनके अवतारों का तथा उनकी मूर्तियों का धीरे विरोध किया,

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की परत कबीर में विशेष रूप से ज्ञात होती है, मुसलमानों धर्म के निराकार और निर्गुण ईश्वरवाद के समझना ही उन्होंने अपनी राम की कल्पना की। इसीलिए उन्होंने राम और रहीम, कैस और करीम की पर्यायवाची बना दिया और तत्कालीन विद्वेष्ट भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही ऐसे विश्व धर्म की स्थापना की जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक साथ ही सम्मिलित हो सकें। तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के क्रूरय में तथा मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं के क्रूरय में जो भयानक विघातों या उसो के निराकरण के लिए कबीर ने अपनी साहित्यिक अस्त्र का प्रयोग किया। इस भाँति कबीर की कविता परम्परा से उतनी कु-शास्त्रि नहीं है, कितनी अधिक तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से और फिर कबीर ने परम्पराओं का घोर विरोध किया है, इसलिए यह कहना कि कबीर की कविता परम्परा की एक कड़ी है, सत्य की अवस्था ही होगी।

इस भाँति यह स्पष्ट है कि संत सम्प्रदाय के विकास में राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है।

(इ) धार्मिक परिस्थितियाँ

संत काव्य की आधारशिला अनुभव ज्ञान की है। उसमें जीवन का प्रत्यक्ष वर्णन है, इसलिए यह स्पष्ट है कि उसमें प्राचीन परम्पराओं की शास्त्र सम्मत मान्यता का आग्रह नहीं है। संत काव्य के मूल में निम्नवागम औरसुराण आदि का कोई महत्त्व नहीं है। कबीर ने स्वयं कहा है, " कबीर संता दूरि करि , पुस्तक देख बहाइ । " इस कथन की

प्रामाणिकता के लिए है कि कबीर के परवर्ती कवि तुलसीदास ने इस दृष्टि-
कोण की निन्दा करते हुए कहा था कि -

“सातो सबदी, दोहरा, कहि कीनी उपसान ।

भगति निरूपहिं भगति कति, निंदहिं भव पुरान ॥”

अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता
है कि संत काव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गयी है, यदि
इसी दृष्टिकोण से संत काव्य पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि
इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है, जो स्तौति-धर्मों
तक वैदिक धर्म से संघर्ष करता रहा । यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि संत काव्य बौद्ध साहित्य की परम्परा
से ही अनुप्राणित हुआ होगा । बौद्ध धर्म से वैपुल्यवाद या महायान का
विकास हुआ, महायान से मध्ययान, मध्ययान से वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध
धर्म में परिणत हुआ इसी वज्रयान की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास
हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणास्रोत तत्त्वों की ग्रहण कर संत-सम्प्रदाय
जन्मरहित हुआ । यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध
धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक जो जीवन के तत्त्व समीपियों के धरातल पर
उभर सके उन सबका समाहार संत सम्प्रदाय में हुआ । बौद्ध धर्म के शून्यवाद
से लेकर नाथ सम्प्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के छिदों की “संघा भाषा”
उल्टवाँधियों से लेकर नाथ सम्प्रदाय की कथ्यत भावना तक संत काव्य में सभी
विचार सरणियाँ पोषित हो सकीं । बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचारधारा
के विकास में ही यह संभव हुआ कि संत काव्य उन समस्त वैदिक परम्परा के
कर्मकाण्डों का विरोध कर सका जो कालान्तर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन

ये । इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माता आदि संत सम्प्रदाय की ग्राह्य नहीं ही सके जो कर्मकाण्ड के प्रतिक की हुर ये । दूसरी ओर शुन्य , काया, तीर्थ, सहज समाधि , योग , जिसके अन्तर्गत ब्रह्मा, फिस्ता, सुश्रुत्या, नादियाँ, ऋद्धक , सहस्रवत्, कस्त, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन के स्वाभाविक और अन्तःकरण जनित ब्रह्मा और रागात्मिकता वृत्ति की प्रधानता संत काव्य में हो सकी । अतः यह स्पष्ट है कि संत काव्य अपनी मौलिक विचारों की कोटि में बौद्ध धर्म की परम्परा के अन्तर्गत है तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों से होता हुआ प्रत्यक्ष रीति से नाथ सम्प्रदाय से है। बौद्ध धर्म की विचारधारा से संत- सम्प्रदाय का सम्बन्ध निरूपित हो जाने पर यह भी देखा उचित है कि वैदिक साहित्य की परम्परा में वैष्णव धर्म का प्रभाव कितनी मात्रा जयवा किस रूप में संत काव्य पर पड़ सका है। विष्णु की जीवन्तों और पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द का प्रभाव उत्तरी भारत में व्यापक रूप से पड़ा। भक्ति का प्रभाव भी दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित हुआ उसने अपस्त उत्तरी भारत की धर्म के क्षेत्र में भक्ति के प्रति वाकूच किया यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जनव्यापी प्रभाव दक्षिण के ही आसवार गायकों से ही रखा की है : व सातवीं शताब्दी में आरम्भ हो चुका था । इनके गीतों ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी । अन्तः के लिए भी वेद विहित याज्ञिक कुरुष्ठान को अपेक्षा भक्ति का रागात्मक रूप अधिक आकर्षक था । किन्तु जब आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल ने पुनः याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठा की और शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर संसार को मिथ्या प्रमाणित करते हुए ब्रह्म और जीव के बीच अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तो इस वैष्णव भक्ति का प्रोत्त अहतद सा हो गया, ब्रह्म और जीव अब एक ही है तो भक्ति किसकी किसके प्रति होगी ? इसलिये ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नाथमुनि ने भक्ति को दार्शनिक व्याख्या की और एक शताब्दी बाद

रामानुजाचार्य ने वेदों के भीतर ही एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमें जीव की ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप माना गया जो ब्रह्म से भिन्न तो नहीं है, किन्तु अपनी पार्थक्य से वह भक्ति का अधिकारी है। इस भाँति वर्तन के बाधा पर स्मरण ने जो भक्ति की महत्ता समझ कर दी थी, वह नये ढंग से पुनः प्रतिष्ठित हुई भक्ति को एक दार्शनिक बाधा प्राप्त हो गया जिसकी उस समय बहुत आवश्यकता थी। रामानुज के बाद मध्य तथा निम्बार्क ने भी भक्ति का पदोन्नत किया और वह स्मरण के ज्ञान तथा योग से अधिक शक्ति-शाली प्रमाणित हुआ, यद्यपि यह ज्ञान और योग तत्त्वों का वास्तविक स्मरण नाथ सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानों में प्रचारित होता रहा। रामानुज ने रामानुजाचार्य के भक्ति सिद्धान्तों को उत्तर भारत में अनेक प्रयोगों के साथ प्रस्तुत किया। यह भक्ति मार्ग ही उत्तर भारत में एक ऐसी ढाल बन सका जिस पर कि विदेशियों की धर्म प्रचार की सतवार भी कुंठित हो गई।

दक्षिण से उत्तर की ओर जाने में इस भक्ति सम्प्रदाय की अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। पहली बाधा तो तत्त्व-धर्म के ज्ञान और योग की थी जो नाथ सम्प्रदाय की साधना में पोषित हो रही थी। बाठों सताब्दी में स्मरणार्थ का प्रभाव देखव्यापी था और इसलिए ब्रह्मज्ञान की मुख्य साधनाओं की प्रतिक्रिया में जो नाथ सम्प्रदाय नहीं सताब्दी में उठ खड़ा हुआ था, उसने बहुत ही शिव की वादनाय मानकर ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर लिया था। इसलिए अपनी उसी यात्रा में भक्ति की लहर जब महाराष्ट्र में पहुँची तो वहाँ शैव सम्प्रदाय का प्रभाव वर्तमान था। १२६० ई० (ई० १३४७ वि०) में लिखित ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर स्वयं नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव (जन्म १२७० ई०

सं० १२२७ वि०) ने विट्ठल की उपासना की जिसमें नाम स्मरण का अत्यधिक महत्त्व है। यह विट्ठल सम्प्रदाय सन् १२०६ (सं० १२६६ वि०) के लगभग फेरपुर में प्रचारित हुआ। इसके प्रचारक कन्नड़ संत पुण्डरीक कह जाते हैं। विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है। इस प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय के संत विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं मानते, विट्ठल की उपासना विष्णु के अवतार बालदेव कृष्ण की उपासना से ही आरम्भ हुई पर बाद में विट्ठल और पाण्डुरंग में कोई अन्तर नहीं रह गया। पाण्डुरंग वस्तुतः स्वयं केशवाक्षि शिव ही हैं। इस भाँति विष्णु ही शिव हैं और शिव ही विष्णु हैं। फेरपुर में विट्ठल की प्रति शिवलिंग की सीढ़ी पर चढ़ाए हुए विष्णु की हो है। ये विट्ठल इस भाँति एक सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतीक बनकर समस्त महाराष्ट्र में आराध्य मान लिए गए। ऐसा ज्ञात होता है कि वाठवी शताब्दी के शैव धर्म से ग्यारहवीं शताब्दी के शैवधर्म का सम्बन्धीता विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में हुआ जिसके सबसे बड़े सन्त नामदेव हुए। इस भाँति महाराष्ट्र में जाते जाते दक्षिण की भक्ति में कुछ संशोधन हुआ और वह एक व्यापक रूप लेकर ज्ञान के आश्रय से आत्म चिन्तन के रूप में परिवर्तित हुई और यही इस भक्ति में रहस्यवाद की कल्पना उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर और नामदेव के साथ साथ सारे उत्तर भारत का पर्यटन किया और जहाँ इस व्यापक धर्म का प्रचार किया। इस विट्ठल सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेकानेक संत हुए जिनमें गौरा कृष्णार, सतिमा माता, नरहरि धोना, बीला भणो, जामाई दासो, सेना नाई, कान्ही पात्रा वेश्यापुत्री प्रमुख हैं। यहाँ के लिए ज्ञानेश्वर ने 'संत' शब्द का प्रयोग कर ही दिया था।

“ ज्ञानदेव हमणें तुम्हीं संत बीलगावेति जाम्हीं । ” १

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि महाराष्ट्र में दक्षिण की भक्ति की लहर तीरहवीं शताब्दी के आस पास ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई जिसमें विट्ठल की भक्ति मानकर उसी प्रेम की पवित्र धारा में जाति और वर्ण का बारा देखा वह गया । नाम का संस्कार कृदय में स्थिर हो गया । सम्भव है कि यह परिस्थिति महानुभाव सम्प्रदाय के प्रबल भाव के कारण हुई हो जिसकी स्थापना ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में हुई थी, और जिसमें जाति बन्धन की शिथिलता के साथ कृष्ण ऋधर की उपासना प्रचल हो गई थी । इसमें नाथ सम्प्रदाय की जातिगत उपेक्षा भी संभव है, सम्मिलित हो गई हो । इस प्रकार भक्ति का एक ऐसा उन्मेष था जिसमें दरजी, कृष्णार, माली, सीनार, पीगो, दासी, नाई और बेश्या सभी समान रूप से नाथ सम्प्रदाय के भावों को लिए हुए वैष्णव भक्ति में लगे हुए । उन्होंने जहाँ क्लेश नाश के कर्ता कि माधुर्य में परमात्मा को अनुभूति प्राप्त की, वहाँ प्रिय के दिव्य वासोक में उन्होंने अपनी वास्तविक सत्ता पहिचानी और उसमें उन्होंने परमात्मा को विभूति देती । महाराष्ट्र में इस भक्ति का संस्कार दो प्रमुख बातों में हुआ । पहली तो यह कि कर्मकाण्ड को अपेक्षा कृदय की पवित्रता और शुद्धता की महत्व दिया गया और दूसरी यह कि प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपने सीमित संस्कारों से मुक्त होकर ब्रह्मचरित के उस धरातल पर पहुँचा जहाँ उसकी सन्त संज्ञा हो जाती है।

वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय में विष्णु के अवतार कृष्ण ऋधर की मूर्ति और शैव सम्प्रदाय में शिवलिंग की उपासना मान्य की इसी प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय में विट्ठल की विष्णु और शिव की सम्मिलित एक मूर्ति की उपासना थी । अतः नामदेव की उपासना पद्धति में भी मूर्ति का स्थान विशेष रूप से होना चाहिये था । किन्तु नामदेव के जीर्ण में जीवन की

पवित्रता और प्रेम से विट्ठल की अनुभूति करना ही विशेष महत्त्व का की है। विट्ठल का इस वान्तरि उपासना के तीन उपकरण माने जा सकते हैं, भक्ति का प्रेम तत्त्व, नाथ सम्प्रदाय का चिन्तन, और पुष्कलपानी प्रभाव से मूर्ति उपासना का वर्जित वातावरण। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में संत सम्प्रदाय का जो उत्थान वैष्णव भक्ति की लेकर हुआ था उसका पूर्वाह्न महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के संतों द्वारा प्रस्तुत हो चुका था। जिनमें ज्ञानेश्वर और नामदेव प्रमुख थे। ज्ञानेश्वर और नामदेव ने उत्तर भारत की यात्रा की थी। इसलिए यह भी सम्भव है कि उन्होंने अपनी यात्रा में पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रचारित होने वाले संत सम्प्रदाय की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। इस दृष्टि से यदि संत सम्प्रदाय के विकास का इतिहास देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि संत सम्प्रदाय का आरम्भ तेरहवीं शताब्दी में ही हो चुका था। इस पूर्व पदा में वह महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में रहा और पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रचारित होने वाले उत्तर पदा में वह उत्तर भारत में निर्गुण सम्प्रदाय का रूप बना इस भाँति संत सम्प्रदाय के दो पदा दक्षिण और उत्तर में की जो अपनी विचारधारा में भक्ति के कर्माण्ड की उपेक्षा कर मानसिक पवित्रता पर ही अधिक बल देते रहे। ये दोनों पदा एक दूसरे का समर्थन करते रहे जहाँ विट्ठल सम्प्रदाय की जनार्दन ने कबीर की सिद्धि का उत्सव किया है। वहाँ निर्गुण सम्प्रदाय के कबीर ने ज्ञानदेव और नामदेव का उत्सव ही नहीं बल्कि विट्ठल की भी अपनी ईश्वर के रूप में माना है।

उत्तर भारत में निर्गुण सम्प्रदाय का जो रूप प्रचारित हुआ उसमें विट्ठल से भी विशेषतः अधिक थी - फलौ विसे-

जाता तो यह भी कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति का प्रसार उत्तर भारत में पहुँचने के साथ ही उसे रामानन्द का वाक्य प्राप्त हुआ किन्हीं नवीन ढंग से वैष्णव धर्म की उत्तर में पुनर्जीवित हो कर दिया । ब्रह्मण के उठने वाली भक्ति की भी धारा उत्तर तक जाती जाती कीक संतीधनों के साथ अपनी सक्ति बहुत दूर ली चुकी थी, वह फिर अपनी नए रूप में व्यवस्थित हो गई , दूसरी विशेषता यह थी कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक एक और ती सुसमानों सत्ता उत्तर भारत में अपना धार्मिक प्रभाव केवल मात्रा में बढ़ा चुकी थी । हिन्दू और सुसमानों के दो वर्ग अपनी धार्मिक मान्यताओं में लड़े हो गये थे और दूसरी और बारहवीं शताब्दी से भारत में जाने वाला सुफ़ी सम्प्रदाय भी अपनी विभिन्न वर्गों में व्यवस्थित हो जाता था । परिणामस्वरूप एक और ती सुसमानों का प्रतिष्ठा के विरुद्ध विवाद ' या और दूसरी और सुफ़ियों की प्रेमियों की न्यून प्रीति थी जो भारत में जाकर यहाँ के धार्मिक वातावरण से प्रभावित हो रही थी । इस भाँति रामानन्द की वैष्णवी भक्ति के नवीन प्रयोग और सुसमानों की विराट् प्रेमियों दोनों प्रवृत्तियाँ इस सत्त सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित होने की भूमिकाएँ प्रस्तुत कर रही थी ।

रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानन्द के जिस भक्ति का प्रचार किया था उसमें बहुत कुछ की विद्वत् सम्प्रदाय का भी था । जाति बन्धन की शिथिलता नाम की महत्ता और भक्ति में प्रेम की प्रधानता के बीच उन्हें विद्वत् सम्प्रदाय से हो प्राप्त हुए, ज्ञात होती है - उन्होंने बिष्णु नाम के स्थान पर कृष्ण, कंधर या विद्वत् की अपेक्षा ' राम' की ही अधिक उपसृत सत्ता और उसकी सर्वोपरिता छिद करने के लिए उन्होंने ब्रह्म का वाक्य भी लिया । अतिसर निर्गुण सम्प्रदाय की नवीन प्रयोगशाला में कबीर ने राम की ही अन्य नामों के बीच सर्वाधिक महत्व प्रदान किया ।

यों राम की उपासना विष्णु के अवतार के रूप में रामानन्द से मिली थी, पर रामानन्द ने राम के रूप में ही इस की उपासना करने की भावना को प्रयत्न दिया।

जो तत्त्व वैष्णव धर्म के किसी वाचार्थ ने दिवालिए के अतिरिक्त अन्य जातियों को भक्ति की दीक्षा नहीं दी थी, रामानन्द ने वाचार्थ होते हुए भी निम्न जाति के व्यक्तियों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। उनके बारह शिष्यों में कबीर जुलाहे थे, सेन नाहं थे, और रैदास चमार थे। रामानन्द को यह सार्वजनिक भक्ति इस्लाम से संघर्ष होने के लिए पर्याप्त थी और उनकी रामभक्ति के निर्गुण और सगुण दोनों पक्षों ने सामान्य जनता की धार्मिक वात्सा को सुदृढ़ कर दिया।

विदेशियों के आगमन से धार्मिक पातावरण में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए और मुसलमानी सत्ता की अहिष्णुता ने भक्ति मार्ग के स्वाभाविक विकास का मार्ग अवश्य अवरुद्ध किया किन्तु सूफी मत ने उसमें एक नया पार्श्व भी जोड़ा जो भी सूफी मत अपनी विकासशील अवस्था में वेदान्त का रूपों है। फिर चाहे उसमें कुरान के अल्लोचन सात्विक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण मिले ही हो, किन्तु यह प्रयोग यहाँ विचारणीय नहीं है। प्रस्तुत प्रश्न तो यही है कि सूफी मत ने ऐसी कौन सी विशेषता भक्ति मार्ग में जोड़ दी जो फेरपुर के पिटूल सम्प्रदाय को भक्ति में नहीं थी। इस को बारहवीं शताब्दी में इस देश में सूफी मत का प्रवेश हुआ। यह मत चार सम्प्रदायों के रूप में आया जिनमें निम्नलिखित हैं :

१- चिश्ती सम्प्रदाय- बारहवीं शताब्दी

के उत्तरार्द्ध में प्रचारित हुआ ।

२- सुहरावर्दी सम्प्रदाय- तेरहवीं शताब्दी
के उत्तरार्द्ध में संगठित हुआ ।

३- कादरी सम्प्रदाय- पन्द्रहवीं शताब्दी
के उत्तरार्द्ध में प्रचलित हुआ ।

४- नवशब्दी सम्प्रदाय- बीसवीं शताब्दी
के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित हुआ ।

यह चारों सम्प्रदाय अपनी मूल सिद्धान्तों में समान थे । धार्मिक और सामाजिक पक्षों में ये सभी सम्प्रदाय अत्यन्त उदार थे । उनके देववाद के विपरीत ईश्वर की रूपा (इमिटी वाफ गीठ) और सर्वोपरिता (ट्रान्सेन्डेन्ट गीठहुठ) सर्वमान्य है और केवल वाचारात्मक दृष्टिकोण से इन सम्प्रदायों में नाम मात्र का भेद है । कहीं ईश्वर के गुण जोर से कहे जाते हैं कहीं मीन रूप से स्मरण किये जाते हैं, कहीं गाकर कहे जाते हैं। पश्चिमी सम्प्रदायों में नृत्य एवं संगीत धार्मिक भावना की दृष्टि से कर्मित समझे गए हैं अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मुख्य है। इसीलिए सूफी धर्म में एक सम्प्रदाय के अंत सरलता से किसी दूसरे सम्प्रदाय के सदस्य बन सकते थे । सूफी मत के सिद्धान्त मूलतः वही थे जो शैरावायों के ब्रह्मवाद के थे । ब्रह्म (एक) की व्यापकता सर्वत्र है और बोध (बन्दा) उसका वेश (बाहु) होकर उसी में शाल्वत बोधन (बफा) के लिए अपनी इन्द्रियजनित अस्तित्व (नफस) को नष्ट (फना) करता है। इसकी बाधना चार स्थितियों (शरीफत, तरीफत, कर्मफत, मारिफत) में होती है। मारिफत में अलसक (मैं एक,

ब्रह्म हूँ) प्रत्यक्षा ही जाता है । यह साधना प्रेम (हृत्क) वीर प्रेम की भावुकता (हृत्क के तुमार) द्वारा सम्भव हो सकती है। किसी नष्ट करने के लिए शैतान (माया) सदैव प्रयत्नशील है। शैतान का प्रभाव दूर करने के लिए सम्पूर्ण शुभ वाचरणाँ से पूर्ण वीर सम्पूर्ण दुराचरणाँ से मुक्त (कृ-
क हरीरी) के अनुसार जसा पवित्र जीवन, त्याग वीर शुभ गुण का वाग्य (महाबुद्धि सुहरावदी के अनुसार) आवश्यक है।

गवासी ने कहा है कि ज्ञान वीर वाचरण के विष्णु का नाम 'सूफी' धर्म है, शरीयत (कुरानोमत) के मखित मार्ग वीर सूफी मार्ग में यही अन्तर है कि शरीयत में ज्ञान के बाद वाचरण (धर्म) जाता है वीर सूफी मार्ग के अनुसार वाचरण के बाद ज्ञान । यदि भारतीय दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैतवाद वीर विशिष्टाद्वैत का विष्णु सूफी मत की स्पर्शा है विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी मखित ही सूफीमत में हृत्क की साधना है। किन्तु उसमें कर्मकाण्ड का स्थान नहीं । केवल जब (कि) वीर हंश्वर की तन्मयता में हंश्वरानुभूति (तसम्बुक्त) उसका लक्ष्य है। यद्यपि रहस्यवाद के दर्शन हमें विट्ठल सम्प्रदाय के संत नामदेव के काल मेंहीते हैं । तथापि उसमें उस (तुमार) पर बल नहीं दिया गया है जो सूफी मत की विशेषता है उसमें तो मखित के बल पर ब्रह्मानुभूति का आनन्द वीर उत्साह ही है।

(३) ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

सन्त काव्य की ऐतिहासिक स्थिति विद्वानों को पन्द्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है । इसके मुख्य प्रवर्तक संत कबीर हैं । जिनका जन्म काल सं० १४५६ (सं० १५१३ ई०) है। संत काव्य की उन्नति

करने में जैसी प्रेरणाओं और परिस्थितियों का योग है। जो पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व भी वर्तमान थी। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबोर ने उन प्रेरणाओं और परिस्थितियों का समन्वय इस प्रकार किया कि वे एक नवीन सम्प्रदाय में जड़ित हो सकीं और उन्होंने एक नये दृष्टिकोण का निर्धारण किया। बिना परिस्थितियों में संतुलन की स्पर्शा साकार हुईं उनमें हमारे देश के धार्मिक राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास की पुच्छभूमि है।

भारतीय इतिहास में ६०० ई० (६५७ वि०)

से १६०० ई० (१६५७ वि०) तक मध्यकाल की अवस्थिति मानी जाती है। आज जब हम मध्यकालीन विशेषण का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य बाहुनिक युग की वैज्ञानिक एवं बौद्धिक चेतना के प्रतिकूल एक विशेष प्रकार की जीवन चेतना से होता है, जो विश्वास प्रधान, रुढ़िग्रस्त, जादूवादी, लीजार्ण, धर्म-भीरु, प्रेरणारहित और स्मृत नैतिकता के बाग्रह से पूर्ण रही है। सत्य तो यह है कि भारतवर्ष की जनता के जीवन में शान्तिकारी परिवर्तन बाहुनिक युग के पूर्व प्रायः नहीं हुआ है। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि मध्यकालीन जनजीवन में परिवर्तन हुए ही नहीं या ऐसा कि स्मिथ मशीन ने कहा है कि " उसका कोई वर्णन करने योग्य इतिहास ही नहीं है। "

किन्तु यह सत्य है कि भारतवर्ष की सामान्य जनता के जीवनगत घृत्यों में मेगस्थनीस के जमाने से लेकर मध्यकाल के अन्तिम चरण तक शान्तिकारी कहा जा सकने वाला परिवर्तन नहीं हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार भी नेन पुस मशीन ने बहुत ठीक सत्य किया है कि पूर्वी देशों की जनता का जीवन जाहे जितना भी कष्टनाशपूर्ण क्यों न रहा हो उसमें उबा देने वाली

सम्पन्न रही है।^१ जन्मा जन्ता का जीवन जैसा, जो कुछ भी रहा है, उसे जानने के महत्त्वपूर्ण साधन मध्ययुगीन काव्य ग्रंथ हैं। किन्तु इस दृष्टि से उन्हें वाचक केसा ही नहीं गया है। पूरे मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के अध्ययन के आधार पर इस तथ्यमि मानव मूल्यों की उपलब्धि कर सकते हैं। चेतना के विविध स्तरों का सम्यक् बोध प्राप्त कर सकते हैं, और अन्ततः भारतीय संस्कृति की प्रत्यक्ष विशेषताओं से अवगत हो सकते हैं। हिन्दी के वाचार्थों ने इस पूरे युग की साहित्य के स्तर पर 'मथित काव्य' 'वीर' रीति काव्य की संज्ञा दी है। ये संज्ञाएं काव्यगत प्रवृत्तियों की ध्यान में रखकर दी गई हैं। इन प्रवृत्तियों के फल में किस प्रकार की सामाजिक चेतना काम कर रही थी या किन मूल्यों में विश्वास करता हुआ मथित वीर रीति युग का कवि जी रहा था। इसे समझ करने की बहुत थोड़ी चेष्टा हुई है।

मध्यकाल भारतीय इतिहास का वह युग है जिसमें दो संस्कृतियों का संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। हिन्दुओं के प्रीति में मुसलमानों के कलात् वाक्रमण एवं अत्याचार भारतीय जनता के विरोधी तत्त्व बन गए। इसीलिए दोनों का द्वन्द्व कभी एक न हो सका। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों जातियों के दो अलग अलग धर्म थे, और दोनों धर्मों की अलग अलग विश्वास थी। एक प्रतिस्पर्धी था तो दूसरा प्रतिस्पर्धी नहीं। एक प्रेम से सम्भोजित करना चाहता था तो दूसरा तत्कार के कल पर भौतिक फायरों का संग्रह। एक अपनी आन्तरिक सम्पत्तियों से विकसित था तो दूसरा उसके साम उठाने के लिए तत्पर।

भारतीय राजाओं के पास अपना गौरवशास्त्री ज्ञात था जिसके नाम पर वे स्वयं की चेष्टा सम्मिलित थे। दूसरी तरफ मुसल-

मानों के पास सैनिक शक्ति थी जिसके आधार पर वे भारतीय राजाओं को नगण्य मानते थे। हिन्दू धर्महीन थे, जो पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कारण शक्तिहीन हो गए थे। दूसरी तरफ मुसलमान, सैनिकों में जातीयता का समान स्तर, नया उत्साह, उत्साह पाने की उत्कट इच्छा और वस्त्र में वन्द्यता थी, साक्ष्य था। उन्हें भारत में अपनी राज्य की स्थापना करनी थी। इसलिए उनके सैनिकों में अधिक साहस व कर्मण्यता थी। फिर भारतीय शासक अपनी वान्छित कमजोरियों के कारण निर्वल हो चुके थे। इसीलिए मुसलमान शासकों को भारतीय शासकों की कमजोरी का लाभ उठाने का अवसर मिला। वस्तुतः तत्कालीन ईर्ष्या का मूल कारण लोगों में स्वयं की श्रेष्ठ सम्पन्नता की भावना तथा निजी अधिकार बढ़ाने का प्रयत्न था। कोई मूल सम्पत्ति पाने के लिए प्रयत्नशील था तो कोई धार्मिक एवं साहित्यिक स्याति पाने के लिए। सामाजिक जीवन के सभी दोषों में डूबे थे। निर्वल पीढ़ी रह जाता था और वस्त्र बागें बढ़ जाता था। एक की प्रगति दूसरे के दुःख का कारण थी। प्रगति स्वार्थ की थी। एक की वाय दूसरे पर आधारित थी। इसका भी कोई समुचित सम्पर्कता नहीं था। एक दूसरे को लीन धीला देकर अपनी शक्ति और वर्च का विस्तार करते थे। परिणामस्वरूप समाज में त्वसखादी व्यवहार का बोलबाला था जिसके कारण मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध बिगड़ गया था। सामाजिक जेठन टूट गया था। हर एक बात, धर्म और वर्ग के लोग संकुचित वृत्ति के हो गये थे। राष्ट्रीय भावना का लोप हो गया था। तत्कालीन ईर्ष्या परिस्थितियों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं की श्रेष्ठ सम्पन्नता तथा अपनी को वैभवशाली बनाने की भावना ने ही जीवन के सभी दोषों में ईर्ष्या की स्थिति पैदा कर दी थी। इसी लीनता के कारण राजनीति, धर्म तथा साहित्य आदि में यह ईर्ष्या समान रूप से बना रहा। इन विविध ईर्ष्या की भालक कबोर के काव्य में यथा तथ्य मिलती है।

(उ) साहित्यिक प्रभाव

१४ वीं सताब्दी में परितप्त सांस्कृतिक चेतना का बसमान स्तर, परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में पड़ी दरारें, जीवन मूल्यों पर लगे अनेकानेक प्रश्न बिह्वल वार्त्तिक दयनीय स्थिति, सत्ताहीन ब्रह्महिण्डू और दमघोंदू राजनीतिक परिवेश तथा इन दुःस्थितियों से पीड़ित जन जाकांजाकों का क्षुब्ध और बच्चास्प, कुल मिलाकर एक ऐसी पृष्ठभूमि को सूचना देते हैं, जिन्हें महतीवैसीय और उत्कृष्ट साहित्य संरचना में प्रेरक और सहायक नहीं माना जा सकता, अतः परिवर्तन एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता के प्रश्न को लेकर हिन्दू सुसलमानों में ही रहे संघर्ष ने इस स्थिति को और भी गहिरा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। कुल मिलाकर स्थिति निस्सन्देह श्रेष्ठ साहित्य के लिए उपादेय नहीं थी।

साहित्य का स्वरूप, विविध विषय, और निरूपण सेती सात्कारिक सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक चेतना से अनुप्रेरित होते हैं। यद्यपि युग, राजनीतिक, वार्त्तिक परिस्थितियाँ भी साहित्यिक गतिविधियों को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनका प्रभाव सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों को तुलना में अतही ही होता है। इस प्रकार यदि सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक चेतना सम्बद्ध सबसे और समन्वित होती है तो साहित्य में प्रौढ़ता, सूक्ष्म विश्लेषण, विविधपूर्ण परिमाणन एवं उत्कृष्टा-त्मक प्रवृत्तियों का प्राधान्य मिलता है। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय किंवा सामाजिक जीवन भयानक ही, वास्तव्य पर बाधात होने लगा ही, तो साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जायेगा। छंटा के ऐसे दायों में भावात्मक उद्वेग प्रसृत ही उठता है। व्यथित व्यथित न रहकर समाज बन जाता है।

तारीफ़ रूप से पुनः पुनः रखते हुए भी लोग फल बुद्धि और भाव से एक ही जाते हैं। इन परिस्थितियों में निर्मित साहित्य में भाव- विवशता, अनु-प्रासाधिता और नवीनता या मौलिकता का अभाव परिलक्षित होता है। साहित्यकार की नवीन्यता क्षीय प्रतीति परम्परा मोह के पिष्ट पोषण और हिमालयों की प्रयासों की समर्पित हो जाती है। साहित्यकार का स्वल्प बोधन द्रष्टा के रूप में डूबती लगता है और उसकी वाणी में उपेक्षात्मकता बढ़ जाती है।

उपरोक्त विवरण के परिमिश्र में यदि हम १४ वीं शताब्दी की सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का अवलोकन करते हैं तो विदित होता है कि इस शताब्दी की परिस्थितियों उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं के लिए अनुकूल न थी यही कारण है कि इस शताब्दी का साहित्य धर्म और दर्शन जैसे विषयों के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुआ है जिनमें समाज और संस्कृति के निर्माता और परिकार की शक्ति निहित रहो है।

१४ वीं शताब्दी तक हिन्दू मुस्लिम संघर्ष राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष से बढकर शुद्ध सांस्कृतिक श्रेष्ठता की मुक्त स्पर्धा में बदल चुका था। दोनों ही समाज अपनी अपनी संस्कृति और सामा-जिक व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास और दूसरी का उसी अनुपात में कमवृत्त्य करने के लिए संघर्ष रत थी। मुसलमानों की यह प्रवृत्ति वैसा कि प्रसिद्ध इति-हासकार टाहन्वी ने माना है। स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। टाहन्वी के अनु-सार " एक ऐसे समाज की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है जो तारीफ़ रूप से सुसंगठित हो, भले ही वह दूसरे रूप में श्रेष्ठ हो या न हो, अपनी निर्णय सांस्कृतिक गतिविधियाँ, जीवन- विधि- विधान, यहाँ तक कि यदि संभव हो

तो अपने सम्पूर्ण जीवन व्यापारी की जेब से दुकान समाय पर धोकी का कसात प्रयास करता है। सांस्कृतिक संघर्ष के मध्य हिन्दुओं की सांस्कृतिक धरोहर और सामाजिक मर्यादाओं का जो व्यापक विनाश और उपहास किया गया, उसका मूल कारण यही प्रवृत्ति थी।

एक देशी- विदेशी संघर्षों से प्रभावित लोगों में धर्म और सामाजिक जीवन विधान सबसे प्रमुख थे। शताब्दी का अधिकारी साहित्य इन्होंने से सम्बन्धित समस्याओं के विकल्पों से सम्बन्धित है।

वाचार्थ सजारी प्रसाद द्विवेदी का तो यहाँ तक कहना है कि इस शताब्दी के साहित्य का प्रेरणा स्रोत ही धर्म पर आधारित है। धर्म जैसे विषयों के प्रति सुनि साहित्यकारों का लगाव वस्तुतः सांस्कृतिक संघर्ष के परिणामस्वरूप निराशा और घुटन की भावनाओं की जनमानस से निजातना ही था। विघटित सामाजिक जीवन एवं टूटी सांस्कृतिक वास्तवों के समाधान लोजों के तिर ही उन्हें मौलिक साहित्य सजना के लोभ का सम्भरण करना पड़ा था। धर्म भारतीय संस्कृति और यहाँ की धर्म-पौरुष कता का प्राण तन्तु है, मुक्तमानों को राजनीतिक उपसृधियों से निरपेक्ष जन समुदाय धार्मिक स्तरों के विध्वंस एवं ब्राह्मणों की कारण हत्याओं से लुब्ध एवं बाकीर से भर उठा था, ज्यों ज्यों धार्मिक कत्याचार बढ़ते गए, बाकीर की मात्रा भी उसी अनुपात में बढ़ती रही, कालान्तर में सम्पूर्ण देश, पारस्परिक मतभेदों से ऊपर उठकर उन प्रयासों में लग गया, जो यहाँ के वस्तु व्यस्त सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में पुनर्जीवन ला सकते थे, उन कतिपय नवने समस्याओं में से जिनका तत्कालीन समाज की सामना करना पड़ रहा था। प्रधानता इस प्रकार थी -

१- पञ्चकालीन धर्म साधना १०८६

- १- वितरते समाज की अस्तित्व रक्षा का प्रयत्न तथा
- २- विघटनकारी प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर समय रहते नियन्त्रण ।

कहना न होगा कि १४ वीं शताब्दी के साहित्य में धर्म और व्यास्य जैसे विचारों की दो गहरी प्रसूता का कारण यही था । मुसलमानों से पूर्व भी यह विध्वंसकारी तत्त्व सक्रिय थे । किन्तु मुस्लिम शासन सत्ता की स्थापना और मुसलमानों द्वारा किये गए, व्यापक सांस्कृतिक विनाश ने, वहाँ देश के सामाजिक सांस्कृतिक प्रत्येक और चेतना पर निरम बाधात किया, वही विध्वंसकारी पुरातन तत्त्वों की भी तुल्य करने का अवसर प्रदान किया । परिणामस्वरूप मुसलमानों ने वहाँ देश के दृश्यमान सांस्कृतिक प्रतीकों, तीर्थ स्थलों, देव मन्दिरों का व्यापक विनाश किया वहाँ इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने आन्तरिक सत्ता के तन्तुओं की पुनः कीर्ति प्रकट रूप से समाप्त करने का प्रयास किया । इस प्रकार दोनों की इस दुरमि स्थिति ने देश की सांस्कृतिक धरोहर और सामाजिक विरासतों पर दोनों ओर से भरपूर प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप समाज और संस्कृति दोनों की स्थिति दयनीय हो गई । तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम, व्यवस्था का विवरण रूप तथा पुरुषार्थ- चतुर्थ जैसे सुनिश्चित जीवन विधान का समाप्त प्रायः रूप जिसने सांस्कृतिक चेतना की सभी बाधाएँ धुँसि कायीं , इन दोनों शक्तियों के बेमेल गठबन्धन का ही परिणाम था । भारतीय साहित्यकारों का हो नहीं वरन् सामान्य जनता का भी एक ठोस विश्वास रहा है कि धर्म और दर्शन इस देश की सामाजिक सत्ता और सांस्कृतिक वरीयता के सजग प्रहरी और सबसे बाधा रहें हैं। साथ ही समय समय पर उत्पन्न सांस्कृतिक सामाजिक संकटों को शमित करने की अक्षुब्ध क्षमता भी इन विचारों

में वस्तुनिष्ठ रहते हैं। १४ वीं शताब्दी के साहित्यकारों ने भी वही लोक-विश्वास को एक बार पुनः सक्रिय भूमिका निभाने का कसरत प्रयत्न किया। शताब्दी की हिन्दी और हिन्दीतर विकास रचनाओं में इन्हीं विषयों की बाणी देने के पीछे यही भावना क्रियाशील परिलक्षित होती है। १४ वीं शताब्दी के साहित्यकारों ने युनि वर्तमान और सामाजिक चुनौतियों का धर्म और दर्शन के किन कमीष वस्तुओं से निराकरण का प्रयास किया है। वह अभिनव प्रयास नहीं है। हाँ इतना जरूर है कि इन विषयों की लेकर भी विपुल साहित्य इस शताब्दी तक निर्मित हुआ उनसे युनि साहित्यकारों की कीर्ति, उत्प्रेरणा या प्रेरणा या प्रेरणा नहीं मिल सका है, पूर्ववर्ती साहित्यकारों ने विन्हीं इन विषयों पर लेखनी बलाह, उनकी युनि समस्याएं निस्सन्देह इस शताब्दी के साहित्यकारों के समुक्त समस्याओं से भिन्न थीं। पूर्ववर्ती साहित्यकारों की रचनाओं के प्रणयन का प्रसन्न ज्येष्ठ अपनी वैदिक धार्मिक या सामाजिक वातावरण - विचार और क्रिया कलाओं का व्यापक लोक प्रसार करना हो या, इस शताब्दी के साहित्यकारों का प्रसन्न उद्देश्य प्रसार और प्रसार न था, बल्कि इन दोनों तत्त्वों की टूटते सामाजिक संस्कृति प्रस्थापना में संघर्ष की भाँति प्रसन्न, उन्हें अधिकारिक सुरक्षित और सुरक्षित बनाना था। दृष्टिकोण को यही भिन्नता वहाँ दोनों साहित्यकारों के मार्गों की प्रकट कर देती है, वहाँ बीदलों शताब्दी के साहित्य में मौलिक उद्भावनाओं का समावेश भी। यही कारण है कि परम्परागत विचार्यस्तु की लेकर भी युनि साहित्यकारों ने उसके स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तनयन्त्र संशोधन परिवर्तन कर नया रूप देने का प्रयत्न किया है।

संस्कृति संघर्ष से उत्पन्न समस्याओं के निराकरण की लेकर युनि साहित्यिक समाज्य रूपत नहीं था। प्रसन्न: दो धाराएँ समानान्तर चल रही थीं। एक पक्ष इन समस्याओं के निराकरण के

सिद्ध पुरातन उपायों में युगानुसृत परिवर्धन संशोधन कर क्रियान्वित करना चाहता था, तथा दूसरा उन समस्याओं के लिए नये समाधान ढूँढने की उत्सुकता थी। प्रथम वर्ग के साहित्यकारों में से अधिकतर ने धर्म कर्म के व्यापक प्रसार प्रसार और सामाजिक रीति नीति की अधिक संशोधनशील बनाकर समस्या के निराकरण का प्रयास किया है। दूसरे वर्ग ने इसके विपरीत, नये विकल्पों की खोज की महत्वपूर्ण माना है। धर्म के स्थान पर धर्मिता को दिया गया व्यापक समर्थन दूसरे वर्ग की ही देन है।

इस प्रकार युगीन साहित्यकारों ने सामाजिक निर्माण और सांस्कृतिक चेतना के संभावित सम्बन्धों के लिए ही अपनी साहित्यिक परिश्रम को समर्पित रखा है। धर्म और दर्शन जैसे स्थायी प्रत्यक्ष विषयों की अपनी साहित्यिक समझ का केन्द्र बिन्दु बनाने का भी मूल कारण यही प्रतीत होता है। ठीक भी है किसी नवीन मार्ग के प्रतिपादन की अपेक्षा पुराने और बावज़ार हुए मार्ग का अनुसरण करना, चाहे वह भले ही युगीन परिस्थितियों में सरा न उतरे अधिक उपादेय रहता है। विगत शताब्दी में किए गए विविध व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयासों के उपरान्त भी, विवेच्य शताब्दी को सामाजिक, वार्तिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थिति में किसी संतोष-प्रद परिवर्तन का आभास हमें नहीं होता। परम्परा सर्वोच्च और विरोधियों का शताब्दियों से पुराना झगड़ा, नए पुराने साम्प्रदायिक संगठनों की आपा-धापी, राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक संघर्ष के विजायत प्रभावों का सर्वाधिक कृप्रभाव हमें युगीन सामाजिक जीवन पर ही परिलक्षित होता है।

“ पाषाणों नौकलति बाजती होत हसीसी राग ”^१ वाले मन्दिर ही कीर्तियों के मातृस आश्रय स्थलों में परिणत नहीं हो गए हैं, वरन् “ हिन्दू के दाया नहीं, भिन्नर तुलक के नाहि ”^२ जैसा नैतिक कल्पत्य भी सर्वत्र दिखलाई

१- कबीर सासी संग्रह भाग १- २ पृष्ठ २० पृष्ठ ६०

२- उपरिष्ठ पृष्ठ २६ पृष्ठ १७३

फड़ने लगता है, कबोर वीर विधापति के लीम पर कलण कम्पनी में हमें
स्थिति की भयवस्था का सहज ही आभास मिल जाता है :

‘ दीनु विधारिबी रे विधाने दीनु विधारिबी रे ।

०

०

साधु संगति कबहुं नहीं करिनी रविबी ध्यं झूठ ।

सुखान सुकर बाह्य किं, भटकतु बसिबी उठि ॥ १

संभवतः इसी आधार पर कबोर ने वक्त की
(उस काठ को कीठी की संज्ञा दी है जिसके चारों वीर का वस्त्र प्रसार
भीतर रहने वाली का प्राण प्राण छिद्र होगा । जो साधुओं की भाँति
भाग जाएगा । वही बच लेगा । यथा-

‘ यत् जग कीठी काठ की, बहूँ दिख लागी जाणि ।

भीतर रहैं सो बरिगिय, साधु उबरे भाणि ॥ २

संक्षेप में स्तना कम्पा ही समीचीनहीना

कि १५ वीं शताब्दी का समाज रक्त गौरव जाति पाँति, हुवास्त जैसे पुरातन
सायाकि बमिशायी से ती पीडित या ही साथ ही, ‘ लोक लोक ‘ वीर
देवदेव , की भावना का पूर प्रतीक करने के अन्तराल से पीडित -
माया- पीड, भय, मिय्या, कष्टाचारी में तिष्ठ, पाप के भय वीर पुण्य
की चिन्ता से मुक्त मन की तरंग पर भेद- टिड्डीयाँ, जैसे व्यवहार में मस्त,
मान बढ़ाई के वास्तविक बर्तन में, तुलाहिपो में संतप्त, कष्टी, वादि कीका-
नेक कमावी से पीडित भी या, कृत मित्राकर १५ वीं शताब्दी का समाज एक

१- संत कबोर पद १७१ पृ० १६२

२- कबोर- छाती संग्रह भाग १-२ पृ० ८८

ऐसा संस्कारहीन दिग्भ्रान्त और लम्बाग्रस्त समाज था, जिसे कबीर के शब्दों में ऐसी बन्धी गाय कह सकते हैं, जो अपनी गरीब बन्दी की तरह बाटकर ही संतोष कर लेती है :

“ कबीर ये जग बाधिरा, जैसी बन्धी गाय ।

बहरा था धी भरि गया, कबी नाम चटाय ॥ ” १

“ सोलह शिवा की परास प्यारी ” पर अपनी कथनी कहानी की कहने वाले भारतीयों का यह चारित्रिक फल, निस्सन्देह चिन्ता का विषय था, जिसके परिपक्वता का प्रयास सभी सुनि साहित्यकारों ने किया है। “ मुर्गा मुर्गा और गायों ” की विधिविस्तार कहते “ भक्षण ” करते मुस्ता पीसवियों की पाते हैं, तो इस समुदाय की चारित्रिक विद्वत्ता अपनी नम्र रूप में उभर कर सामने आ जाती है। अभिप्राय यह है कि बाग दोनी घरी में लगी हुई थी। कहने के लिए तो निस्सन्देह वाक्पति का प्राण्य बड़ा वाक्यक था, किन्तु व्यवहार ठीक उनके विपरीत ऐसी मर्यादाहीन समाज में यदि वैश्या संसा मलमल पन्नती और सती गरी की तरसती रहती हों वाक्य की नया बात है १ क्या-

“ विस्वा बीड़े सासा मलमल , पीती मुँगा के हार ।

पतिव्रता की गरी बुरे नहिं, रुता सुता बहार ॥ ” २

न्याय और व्यवस्था का जैसा उपहासास्पद रूप हमें इस शताब्दी में मिलता है, उसका उदाहरण संभवतः इतिहास में कल्पित मिलना दुर्लभ हो प्रतीत होता है।

१- कबीर साहिब की शब्दावली भाग ३ पृ० ४३

२- कबीर साहिब की ज्ञान गुणदी - रत्न और भूतनी पृ० १०

३- कबीर साहिब की शब्दावली भाग ३ पृ० ४४

कूटे जन्म-मन्त्रों^१ का व्यापक प्रवर्तन
जागते देव की सेवने के स्थान पर^२, देवों की की तस्सी भेदा पीस का
नी नेवा^३, वादि बहिष्क मिय्याहम्भरी का यथाविधि प्रवर्तन इस बात का
प्रमाण है कि कब तक कि प्रयास कर्म-मर्म, मय, भूत से साधारणों की हृदय
में अक्षर ही रहे थे। कभी लोग बड़े प्रेम और भाव से भेद की प्रेम और
गुदिया-गुहड़ा, सुप सुपतिया जैसे देवता फिर भुज्या भवानी^४ जैसे
धर्म कर्म में मस्त थे। ऐसे कार्यों से बीरासी का वास मिलता है या कि स्वर्ग
का स्वर्ग कोई विन्ता लोगों की नहीं थी। जैसी तेरी कभी देवी, तेरे
का पुजारी^५ की कथावत के अरुण धार्मिक पुरुषों का आचरण भी था,
विस्तार में न जाकर खना खना ही उचित रहना कि मिय्या कष्ट तबी
बचुराहें।^६ नैतिक उपदेश नाना पहिरा सिंह का, जैसे भेद की बात, वास
धार्मिक ठेकाई के तिर में के जागे बोन बजाने से अधिक धिद नहीं ही रहे
थे। कबीर के निम्न कर्म से निष्ठुत सीमा मरी कृतावृत्त से तो ऐसा ही
वाभास मिलता है :

बस्ते की बहि जान थे, मत फह्रावे ठीर ।

सम्भाराया सम्भन नहीं, थे दुष्ट धर्म की ठीर ॥^७

१- कबीर सासी संग्रह भाग १-२ पृ० १०१

२- कबीरसाहिब की ज्ञान गुवही पृ० २६

३- कबीर लक्ष्मावली भाग २ पृ० ३२

४- कबीर लक्ष्मावली भाग १ पृ० २५

५- उपरिषत् पृ० २५

६- .. भाग २ पृ० ११

७- कबीरसासी संग्रह भाग १-२ पृ० ३५

८- उपरिषत् पृ० १०७

निष्कर्ष रूप में खना ही कहना है कि धर्म, व्यात्म, भक्ति और नीति के बीछ की सीमित परिधि में खरा, खया गया साहित्यिक क्षेत्र वस्तुतः परिस्थितियों की मयावस्था की देन है। यों तो देश की धार्मिक और राजनीतिक खुरता भी कम खेदनखेत न थी, फिर भी खर्वाधिक शौखनीय और खेदनखेत स्थिति समान और संस्कृति की थी। यह खेखी स्थिति में, देश और उसकी संस्कृति से प्रेम करने वाली का की कर्तव्य होता है उसी का निर्वह खुनि साहित्यकारों ने भी किया है तथा समान और संस्कृति की विविध समस्याओं पर खपी विचार प्रकट किए हैं।

१४ वीं शताब्दी के साहित्यिकों के कृष्ण विवेच्य शताब्दी के साहित्यकारों ने उन्हीं विषयों को साहित्यिक विषय-वस्तु के रूप में प्रमुख किया है जिनमें सांस्कृतिक खेघर्ष की खकी में मिली बुद्ध मानव समुदाय में खान्खना, खीखार्द और प्रेम जैसे मानवीय मूल्यों के स्थापित करने की शक्ति थी। धर्म, वस्त्र भक्ति और नीतिपरक कर्तों की मरमार का यही कारण है। खयाता उन्हें न तो मिली है, और न खपित ही समझी गई है, यखपि खपी प्रयाखों में पुरातन खामखों का उपयोग उन्हीं ने भी किया है, किन्तु मात्र खतों का ही खिे खुनि परिस्थितियों और खीवन विकास के खिे खरा पाया गया है। यों तो धार्मिक उपखस इस देश के खिर कीर्द नवीन खटना न थी। शताब्दियों से, विभिन्न मतावलम्बी इस विषय में एक दूसरे की खीखालेख करते रहे थे, किन्तु खस्तामी शाखों द्वारा प्रखर्षित धार्मिक कट्टरता ने खी पुणित दृश्य उपस्थित कर दिया वह निस्खन्देह एक नयी खपता थी, खिखे यहाँ की खता खब तक खपरिचित थी नखिल थी। धार्मिक कट्टरता के इस खमिताय से देश का किता धन, ख और सांस्कृतिक खिनाश हुआ। उसका विस्तृत मूल्याखिेन तो इतिखस के पृखों पर खर्षित है।

वतः सामाजिक शान्ति और संस्कृति पुनर्निर्माण की दृष्टि से यह अपेक्षित था कि धर्म के नाम पर ही रहे आवश्यक वितण्डावाद की व्यापकता रोका जाय। इस सम्बन्ध में उन उदात्तादो साहित्यकारों ने, धर्म के नाम पर प्रवृत्त किया कलापी का विरोध तथा धर्म के शाश्वत सन्देशों की जनता तक पहुँचाने का उपयुक्त निर्णय भाव से किया है। संत साहित्य में सर्वाधिक वर्णित विषय वही है, जिसका समन्वय मानव शोचन से है, धर्म कर्म और धार्मिक समाज, जिस पर संतों ने निर्णय प्रहार किया है। ऐसे ही तत्त्व थे, जो मानव-मानव के बीच भेद भाव और शोचन का आधार बने हुए थे। यही संत साहित्यकारों, धर्मदास, रैवास, सेन या सेना, पोषा आदि सभी का व्यक्तित्व और कृतित्व कबोर के बट बूझा जैसे व्यक्तित्व और कृतित्व के समान अपना सा वित्त-साहं पड़ता है। यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण संत साहित्य और सन्त साहित्यकारों के सिर कबोर का व्यक्तित्व प्रकाश-पुष्प की भाँति था तो इसमें वस्तु-वित न होगी।

संत साहित्य का सम्पूर्ण क्षेत्र विषयस्तु से लेकर भाषा शैली और शब्द विधान तक सभी पुरातन है, परम्परागत है, रामानन्द से लेकर जैन, वैष्णव, सिद्ध, नाथ, तार्किक, सूफी, सभी का कृष्ण न कृष्ण प्रभाव संत साहित्य पर पड़ा है। किन्तु इन सीमाओं और वर्कनाओं के बाव में संत साहित्य में तेज है, अपनी संस्कृति है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि परम्परागत साहित्यिक प्रीति और सामग्री का उपयोग करते हुए भी संतों ने अपनी रचनाओं को एक नया वायाम देने का वितरण प्रयास किया है। मरुती दृष्टि से अपनी साहित्य की समानता, समानता ही संत-साहित्य की सबसे बड़ी सीलिका है, यही सामाजिक संस्कृति समस्याओं के प्रति जिस व्यापक दृष्टिकोण का परिचय संतों ने दिया है, निर्व्याज भाव

से जो उनका वाक्पुन किया है तथा लोक निर्माण और मानव कल्याण के लिए जिस रूप में अपनी साहित्य की डाँटा है। उसने न मात्र संत साहित्य की एक नया रूप ही प्रदान किया है, बल्कि उन बापों की का कस्त भी, जो पूर्ववर्ती, साहित्यकारों पर न्यूनाधिक रूप से लगाए जाते रहे हैं। सबसे उत्कृष्टतम बात तो यह है कि इस साहित्य में कुछ भी ऐसा नहीं है जो जीवन निर्पेक्षा या कल्पना - प्रसूत हो। जो कुछ भी है वह यथार्थ है, सत्य है, निर्भय विवादाधीन और व्यावहारिक वाग्रही से युक्त है। लोकार्पित अनुभवों की, व्यावहारिक जीवन की कष्टों पर कसकर, मानव कल्याण के लिए निर्व्याज भाव से व्यंजना करना ही संत साहित्य का मूल उद्देश्य है। जिसे संतों ने अपनी दृष्टि से जीभल नहीं होने दिया है। सम्पूर्ण मानवता की पूर्ण निष्ठा और हृदयपारक साथ यदि किन्हीं साहित्यकारों ने याद किया है तो वे १५ वीं शताब्दी के संत साहित्यकार ही हैं। कबीर के निष्पीडित कथन से जहाँ एक ओर स्थिति का यथार्थ बाभास मिल जाता है वहीं दूसरी ओर जब तक के प्रयासों को निष्कारता के साथ साथ युग्म साहित्यकारों के परम्परागत विषयों की वाणी देने के लिए जीवित्य पर प्रकाश भी पड़ जाता है। यथा-

‘कोई जान करे, भावै ज्ञान करे, गुरु रूप उबारि के नाबता है
कोई जीग करे, भावै मीज करे, कसक्य कसल बताता है।

सुरभी उरभी की मूल बड़ी, घट का भेद नहीं बाबता है। १

संत जीवन- दर्शन तथा उनकी धार्मिक भावना की सबसे पुष्कल और उन्मुखत अभिव्यक्ति हमें उनके दूसरे प्रयासों में परिलक्षित होती है साथ ही बड़ी परवाद पालण्ड की जगत् में ‘बाप के कस्त ही कस्त ही है’^२ तथा ‘गुरुदर्शन पालण्ड शानवि मेन धर सब कोई’^३ कादि प्रमाणों

१- कबीरदास की ज्ञान गुदड़ी रेली और भूखी पृ० ३६

२- उपरिषत् पृ० ४२

३- कबीर साहब की सबदावली भाग २ पृ० ६४

ये इस बात का स्पष्ट उचित भी, कि धर्म के प्रकभूत सन्देशों से भटकी, जगता
 जपों मिटती धार्मिक मजबूती की सम्पत्ति के लिए बिना हीन बना रहे थे,
 भाग रही थी। धार्मिक जगत् की ऊहापीह स्थिति से सम्बन्धित कारणों की
 खोज, जो अब तक नहीं की गई थी, संतों की मौलिक देन मानी जा सकती है।
 संतों की सम्पत्ति में, मुनीन समाज की विस्तृत स्थिति और सांस्कृतिक चेतना
 के विस्तृत स्तर का प्रत्यक्ष कारण धर्म के प्रकभूत संदेशों से भटकाव और उनके
 सम्बन्ध में प्रवृत्त कर्मचारी मान्यताओं की दृष्टि से किया जाता है निश्चित था।
 मात्र हिन्दू मुसलमान ही धर्म के नाम पर नहीं झगड़ रहे थे, वरन् वृक्ष हिन्दू
 समाज में भी बाये दिन टकरावों के अन्यान्य कारणों में से सर्वाधिक प्रमुख
 कारण धार्मिक वैभक्तता ही थी। 'देवस और सिद्धि के दाता' धर्म की
 इस पुनर्ति से सन्त जैसे 'बहुजन हिताय' साहित्यकारों का चिन्तित होना
 बहुत सम्भाव्य था।

धर्म की देखापि मरुतानेवाली शक्ति के स्थान
 पर व्यष्टि और समष्टि की सुत शक्ति का पुरातन रूप प्रदान करने के उद्देश्य
 से किए गए सन्त प्रवास, प्रधानतया तीन रूपों में चिन्तित हुए हैं।

१- धर्म के नाम पर प्रवृत्त विविधतापूर्ण
 मान्यताओं की खोज और विवेक से काशीचना तथा-

२- व्यर्थ के कौमालिन्य और देखापि
 मरुताने वाले धर्माडम्बरों की निस्तारता का चीतन

३- धर्म के नाम पर धर्म भीरु जगता का
 शीघ्रण करने वाले धार्मिक ठेकाइयों के किया जाता है की सत्यासत्य विवेचना

संतों की दृष्टि में, धर्म और धार्मिकता कतिपय रुढ़िगत मान्यताओं और बाह्याचारों, तिलक शोष, कण्ठीमाला, मन्दिर, मस्जिद की पूजा वर्जना, कुरान-पुरान पाठ आदि तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् उसका सम्बन्ध अन्तःगत शुद्धता से कहीं अधिक है। जब तक कोई व्यक्ति सहिष्णुता, दयालुता, अहिंसा, परोक्षार, प्राणिमात्र पर दयाभाव, समदृष्टि^१ जैसे- धर्म के शाश्वत मूल्यों से अपने को अलंकृत नहीं करता, तब तक संत उसे धार्मिक व्यक्ति मानने की तत्पर नहीं थे, भले ही वह किसी भी वर्णाश्रम से सम्बन्धित क्यों न हो, धर्म तो व्यक्ति में लोक के प्रति प्रेम, सहिष्णुता, त्याग, जैसे मानवीय गुणों का बीजारोपण करता है। स्वार्थ, प्रतिशोध, हिंसा जैसी शुद्ध प्रवृत्तियों को धर्म में स्थान कहाँ ? संतों की भी भारतीय रूढ़ि परम्परा के अनुरूप 'धर्म या बाधते धर्मों न सधर्म, कुधर्मस्तु'^२।

संत धार्मिक भावना की संपुष्टि के लिए, ऐसे धार्मिक क्रियाकलापों को प्रश्रय देने के पक्षधर थे, जो मन बुद्धि और शरीर में समन्वय रखते हुए, सभी की धार्मिक आकांक्षा की पूर्ति भी कर सकें जिनमें जीवन से निराशा और मर्यादित जन समुदाय में भीरुता, कातरता की भावना के स्थान पर कर्मठ जीवन के प्रति नई प्रेरणा-जाग्रत कर सकने की शक्ति हो करना न होगा कि युनि विषम परिस्थितियों में ऐसे धर्म कर्मों की आवश्यकता न थी, जो मात्र भाव संतुष्टि तक ही अपना प्रभाव रखते थे। ऐसे कर्मों की आवश्यकता थी जो कथनी करनी में सामंजस्य स्थापित रखते हुए सक्रिय जीवन में सुख शान्ति की स्थापना के साथ साथ कर्मठ जीवन की मिट्टी आकांक्षा की पुनर्स्थापना करने में समर्थ हो सकते थे। किसी भी जाति और देश के धार्मिक एवं सांस्कृतिक आचार-विचार साधना और विश्वास का आधार उसका दर्शनशास्त्र ही होता है। जो सत्यासत्य विवेचनात्मक तथा ज्ञानपरा होता है। धर्म और संस्कृति और

१- कबीर सासी संग्रह भाग २ पृ० १२४-२५

२- कल्याण - धर्म विशेष्णाकि पृ० १४०

सामाजिक जीवन के व्यावहारिक स्तरों में सत्य की प्रतिस्थापना और शान्ति के निराकरण के लिए दर्शन सर्वत्र प्रयत्नशील रहता है। विशेषकर भारतीय दर्शन तो व्यक्ति की मौलिक पदार्थों के दार्शनिक प्रकाश से दूर जीवन के उच्चतम शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। दर्शन से हमें यह वास्तविकता मिलती है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक जीवन के वैयक्तिक और विरोधी में सामंजस्य स्थापित करे, शान्ति, सीद्धार की प्रतिस्थापना कर सकता है। कहना न होगा कि 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' जैसे लोक कल्याणकारी उद्देश्यों की प्रेरणा हमें दर्शन से ही प्राप्त होती है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक का मत है कि 'सामान्य जनता की दार्शनिक तत्त्वों की समझने की क्षमता समाप्त हो गई थी।' यों तो यह प्राच्यमान प्रकृति का एक दोष है प्रकृत, सतावदी से केवल वर्च प्राप्त हो चुका था, किन्तु हस्तामी संस्कृति से चल रहे संघर्ष के साथ साथ स्थिति अधिक गम्भीर होती जा रही थी। हस्तामी संस्कृति एवं धर्म प्रचार को रोकने के लिए जिन विविध धार्मिक पंथों, सम्प्रदायों का उदय हुआ, उनके कारण दर्शन के क्षेत्र में ऐसे लोगों की छुपक भी सम्भव हो गई थी, जो एक विषय के लिए सर्वथा व्योम्य थे। जब इन लोगों ने 'ग्यों कीरि की हथिया', सब काहू की जान के लक्ष्म ' दर्शन की व्याख्या में कला प्रारम्भ कर दिया तो दर्शन के क्षेत्र में भी अक्षयर्तन पातण्ड हानवी की स्थिति उत्पन्न हो गई, फलतः दर्शन की वैयक्तिक भेदों से उठाकर, सत्ता की लीज में व्यथित करता है। वाय्यात्मिक विकास के लिए शान्ति, सीद्धार एवं प्रेम का संसार करता है। 'कैसे पट सेवे भवे' ' पट पट और सुभाष के कारण पारस्परिक राग-द्वेष

१- सिद्धान्त और समीक्षा भूमिका पृ० ६

२- कबीर साहित्य की सन्वावसी भाग १ पृ० १६

३- परशुराम चतुर्वेदी - सन्त काव्य पृ० २१

वीर संघर्ष का वायस बनकर रह गया था। इस प्रकार दर्शन की महत्ता साम्प्रदायिक झूठ भुलैयाँ में फँसकर लुप्त होचो जा रही थी।

विविध नवीनित धार्मिक कथाएँ- सम्प्रदायों द्वारा दार्शनिक चेतन में की गई अनधिकार सुसंघटित के कुछ सटीक कारण वीर भी थे। लोक मान्यताओं के अनुसार वही पंथ या सम्प्रदाय लोकप्रियता प्राप्त कर पाता है जिसका अपना कोई दर्शन शास्त्र भी होता है। इस प्रतीक के अन्तर्गत धर्म धर्म ग्रन्थों का निर्माण इन कथाओं द्वारा किया गया, उनका स्वरूप भानुमती के पिछारे से अधिक नहीं माना जा सकता है इस पर भी प्रत्येक पंथ का दावा यही रहता था कि उसका दर्शनशास्त्र ही संसार का सर्वोत्तम मत है। कहना न होगा कि इनमें अधिकतर ग्रन्थों का निर्माण, प्राचीन दर्शन ग्रन्थों की काट काट पर आधारित है। इन रचनाओं से एक ही लाभ लोगों को हुआ वह यह कि दर्शन के गंभीर विषय, सामान्य जनता तक पहुँच गया। तत्कालीन के साहित्यकारों ने दर्शन के दर्शन सम्बन्धी किसी स्वतन्त्र रचना का प्रणयन नहीं किया है। जो भी विवेचन मिलता है, वह सामान्य कथनों में ही मिलता है। सर्वाधिक वर्णन सन्त रचनाओं में ही परिलक्षित होता है। जो भक्ति वीर धार्मिक कथनों से सम्पन्न है। विशेषकर जीव जगत् वीर पाया से सम्बन्धित विवेचन भक्ति कथनों में ही अधिक मिलते हैं। जीवात्मा के ईश्वरीय साम्प्रदायिक के लिए जैसी पवित्रता चाहिए वह संत भक्त वीर दार्शनिक सभी के लिए अपेक्षित है।

संतों के दार्शनिक विवेचनों का उद्देश्य किसी नवीन दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना न था, बल्कि वे दर्शन उपयोग धार्मिक साधन उपासनाओं में प्रवृत्त प्रान्तिताओं वीर कष्ट वाचरणों पर कहे लगाने तथा एक ऐसे दार्शनिक मंत्र के निर्माण में करना चाहते थे। जहाँ से परस्पर

विरोधी विचारधाराओं के लोगों में प्रेम और सहानुभूति का संसार किया जा सके। यह कार्य न तो किसी एक विचार का अनुकरण करने से सम्भव था और न कन्ध विरोध से ही इसके लिए निर्भीक वाचरण की आवश्यकता थी। कहना न होगा कि इसी परम्परा का निर्वाह संतों ने पूरी समानता से किया है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी इसी ही धारणा की है :

‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

वहं त्वां सर्वपापिभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।’ १

संतों को इन स्वभावबन्ध विशिष्टताओं से

(जो वस्तुतः भारतीय संस्कृति की विशिष्टताएँ ही हैं) इनका दार्शनिक निरूपण भी बहुत ही रहस्यमय है। संतों द्वारा ब्रह्म के ‘गुह्यवास से पातरा’^२ रूप के निर्धारण के पीछे भी उनका यही मस्त उद्देश्य कार्यरत था। वे हिन्दू मुसलमानों के बीच, ईश्वरीय स्वभाव को लेकर उठी वास्तविक विषयों को सदैव के लिए शान्त करना चाहते थे। यही कारण है उन्होंने अपनी ब्रह्म में निर्गुण ब्रह्म को उबारता उबारता और सर्वव्यापकता का समायोजन है, और सगुण को सहजगम्यता और सुन्दरता का भी, जिसमें ज्ञान पिपासु मुमुक्षुओं को सम्मान करने की शक्ति है और सन्त मन्त्रों की अपनी विधियों में संतों, विरहिणी की भी स्थिति उत्पन्न करने का वाक्यार्थन भी।

संत यह नहीं चाहते थे कि शताब्दियाँ बीत जाने पर भी वेद, कुरान की सुहाबें लेकर लोग वापस में लड़ते रहें। साक्षात्कार वाक्यार्थों एवं विषय-वाक्यार्थों के प्रति बोधोत्पत्ति का वाक्यार्थन उसी प्रकार स्वाभाविक और सहज है। ऐसा कि गुरु के प्रति मन्त्रों का और

बहु पुस्तन की गंध ' की वीर प्रवर का । कबीर ने एसी बात की इन
सन्दर्भों में व्यक्त किया है :

‘ पंवर बिलम्बे नाम में, बहु पुस्तन की वास ।

बोव बिलिबि बिनाय में, कीतहु बले निरास ॥ ’ १

प्रतिकूलता का त्याग वीर अनुकूलता का वर्णन ईश्वर की कृपा की आवश्यक
शर्त है, क्योंकि ‘ धन पैसी पिय ऊबला ’ का सम्मिश्रण सम्भव नहीं है ।
इस वाचरण की प्राप्ति गुरु कृपा उत्पन्न वीर नाम सुमिल से की जा सकती
है, जो व्यक्ति इन परिकारों का वर्णन नहीं करेगा, वह अवश्य ही जन्म
जन्मान्तरों के चक्कर में पड़कर विविध प्रकार की यातनाएँ भोगे वीर वन्त
में (बचपुर) की यात्रा करने पर विफल होगा ।

अन्त यह भली भाँति समझ लें कि तत्का-
लिन सामाजिक के लिए जो शारीरिक , मानसिक एवं भौतिक तीनों दृष्टियाँ
में होने होने अत्यन्त वीर समर्थ थे । उनके लिए प्रेम साध्य वीर भौतिक साधनों
से पूरी की जाने वाली साधनाएँ व्यावहारिक ही नहीं, दुस्साध्य भी थी ,
साथ ही बहुदेववाय एवं प्रतिष्ठा के बन्ध विरोधी शास्त्रों के रहते प्रजा, जन्मा
जैसी सुगम साधना प्रणालियाँ भी निरास नही थी । फलतः सन्तों की
गुरु कृपा, नाम स्मरण और सत् संगति जैसी - एवं सगे नफिटकारी रह
चौला ही चौला ' साधना पद्धतियों की प्राप्ति करना पड़ा , जिनमें न तो
भौतिक साधनों की आवश्यकता थी वीर न शारीरिक एवं मानसिक दाम्ता
को ही जो कुछ अपेक्षित भी था, वह थे बहिष्कार, त्याग, पवित्रता, प्रेम ,
विश्वास, दया, करुणा वीर नामा जैसे सामान्य गुण जिन्हें साधारण से

साधारण व्यक्ति भी पीढ़े से प्रभाव से ही वर्णित कर सकता था ।

साहित्य की किसी भी धारा का मूल उसके पूर्ववर्ती साहित्य में होता है। सन्तों की साखियाँ वीर वाणियाँ , नायक्यो योगियों की सबदियाँ वीर जोगिसुरियों के ही परवर्ती प्रभाव प्रतीत होती हैं ।

साहित्य की किसी भी धारा का मूल उसके पूर्ववर्ती साहित्य में होता है। सन्तों की साखियाँ वीर वाणियाँ नायक्यो योगियों की सबदियाँ वीर जोगिसुरियों के ही परवर्ती प्रभाव प्रतीत होती हैं । इस सम्बन्ध में डा० लवारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि " यदि कबीर वादि निर्गुण मतवादी सन्तों की बानियाँ की स्मृति पर विचार किया जाय तो मान्य होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय हैं वीर बौद्ध धर्म के वन्तिम सिद्धों वीर नायक्यो योगियों के फटादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। वे ही फटा वे ही राग रागिनियाँ , वे ही पीढ़े, वे ही बीपाख्या कबीर वादि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थीं । क्या भाव, क्या भाषा, क्या कर्तार, क्या इन्द्र , क्या पारि-भाषिक शब्द (जिन में ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं) कबीर की भाँति ही वे साधक नाना मतों का सञ्चन करते थे, सबज वीर शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, वीहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे ।^{१-}

श्री दिनकर ने भी इसी सम्बन्ध में कहा है, " जो बार्ते सुखमानों के वागमन के बाद कबीर, नानक, दादू ने कही उन उपदेशों का सिक्का बौद्ध सन्त (सिद्ध लोग) जनता के मन पर फले ही (बाठ्ठी नवीं एदियाँ में) बिठा चुके थे । इसका वाशय यह नहीं है कि

सन्तों के साहित्य में मौलिकता नहीं है, उनके अपने विचार हैं और उसमें मूलित का स्वात्मक योग भी है। शुन्य महत्त्व के नीतियों के अतिरिक्त उनमें लोकहित की भावना भी है। यथार्थ चित्रण भी है, इस प्रकार उनकी निजी जेब है, कश्च पर ये सब उस साहित्य वृद्धा की पुष्ट साक्ष्य हैं, जिसकी जड़ सिद्धि नाथों की वाणियों में है।^१

कतः यदि सन्तों की साक्षियाँ स्व वाणियों के पूर्ण रूप को देना है तो हमें नाथ पंथियों की सबधियाँ स्व जीगुहरी वाणियों को देना चाहिए। दोनों के विषय बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। उनकी कथा शैली में स्वच्छन्दता थी, स्पष्टवादिता थी और एक ऐसे कथन का पट भी था जो भीतालों के अष्ट सोधी चोट करता था। सन्तों के साक्षात्क विद्वान्नाथों के सम्बन्ध के सम्बन्ध में कथन करते समय उसे पूर्णरूप से अपनाया था। उन्होंने सिद्धों, मुनियों स्व नाथ पंथियों की भाँति जनभाषा में ही सब कुछ कह डालने की प्रणाली को भी कोकार किया था।^२ सन्तों की रचनाओं में भी योग साधना का प्रमुख स्थान है और उन्होंने भी लगभग वैसी ही बातें कही हैं।

डा० धर्मवीर भारती का कहना है कि,
 “... यहाँ जहाँ तक शैली का प्रश्न है सिद्धों की परम्परा नाथों और सन्तों के साहित्य में अविविध रूप से रही। यहाँ तक कि वे ही रूप, वे ही प्रतीक, वे ही हृन्व और वही सन्ध्या शैली सिद्धों नाथों और सन्तों के साहित्य में मिलती है।”^३ ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि क्या अन्तरंग और क्या वहिरंग दोनों ही दृष्टियों से सन्त अपने पूर्ववर्ती सिद्धों, नाथों, जन

१- सन्त साहित्य का मूल - साहित्य संदीप्त, वीरस १६५३ पृ० ४१० (बागरा)

२- कबीर साहित्य की परत - पृ० १५-१६

३- कबीर ग्रन्थावली पृ० १८६

मुनियों वीर सन्तों के सणी हैं।

कबीर के समय तक संस्कृत, पाली, प्राकृत वीर वर्णन भाषाओं में जिस साहित्य की दृष्टि हो चुकी थी उसका वातावरण तो किसी न किसी रूप में बना हुआ था। किन्तु भाषा में भी साहित्य की दृष्टि हो रही थी। भाषा साहित्य प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों में ही प्रसिद्ध हो रहा था। भाषा साहित्य के विकास में बितना योग, लोकोक्तियाँ, मुहावरें वीर सामान्य जीवन की अभिव्यक्तियाँ ने दिया। उससे कहीं अधिक लोक ग्रन्थों की सरलता ने दिया। कर्तारों ने भी कदियों के बंध को तोड़कर लोक जीवन को संकृत करने की कमीष देखी।

कबीर का साहित्य से कोई विशेष लगाव नहीं था न ही उन्होंने साहित्य की रक्षा की।। दृष्टि से अपने काव्य को लिखा। वह स्वयं ही कहते हैं, "विद्या न पदं वाय नहीं जानूँ" ऐसे व्यक्त को साहित्य से क्या लगाव हो सकता है। उनकी रचनाओं से दृष्टि-गोचर होता है कि उन्हें साहित्य एवं काव्यशास्त्र का कदापि ज्ञान नहीं था, परन्तु धार्मिक साहित्य पर कबीर ने ध्यान दिया था। उसका फल भी किया था, वह स्वयं बड़े सिले न होने के कारण व्ययक्त नहीं करते थे। दूसरी से घुमकर हो उन्होंने अपनी काव्य रचना की। अपने काव्य में उन्होंने लोक स्थानों पर उपनिषद्, गीता, भागवत एवं योग आदि ग्रन्थों का नाम दिया है। इन सभी ग्रन्थों का उन्हें दूसरी से सुना सुनाया। अच्छा ज्ञान था। कबीरदास का जीवन साहित्यिक क्षेत्र से बिल्कुल भिन्न था। पंडित जो कि विद्वान् एवं कवि साहित्यिक होते थे। उनसे कबीरदास जी का संबंध वीर ही रहता था। कबीर के कास में साहित्य निर्माण का कार्य अधिकतर उच्च विद्वान्

सर्व भाषाओं के ही हाथों में था जो संस्कृत भाषा में अपनी विचारों को व्यक्त करती थी। धार्मिक मताओं की ही अपनी साहित्य में सन्धार्य रखती थी, परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य रचना की गति उन्नतिशील न होकर अवरुद्ध होती ही गई थी। मुगल शासन के शासनकाल में उर्दू के साथ-साथ फारसी, बर्बो, सर्व तुर्की भाषा से भारतीय जनता का स्पर्श हुआ। परिणामस्वरूप लोक साहित्य की उन्नति हुई। कबीरदास जी भी इसी लोक साहित्य के विद्वान् के पक्षे लिखे न होने के कारण उन्होंने लोक प्रवर्तित भाषा में ही अपनी साहित्य का सुजन स्वीकारा। कबीरदास ने व्यवहार की शिष्टा की ही जीवन की भाषा के रूप में पकड़ा था। इसी कारण उनके काव्य में समाज में प्रवर्तित कुप्रचार सर्व पीढ़ियों, मुस्लिमों का डींग हमें दृष्टिगोचर होता है। कबीर का सम्पूर्ण साहित्य ही उनकी तत्कालीन परिस्थितियों की स्फुरता ही प्रतीत होता है।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है।

मध्यकालीन समाज विविध संघर्षों में टूट गया था। उस समय लोक धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक शक्तियाँ ही रही थीं। इन्हीं शक्तियों के बीच मध्यकालीन साहित्य का भी विकास हुआ। उस समय भारतवर्ष में कई भाषाओं का प्रबल था। बर्बो, फारसी, उर्दू, संस्कृत तथा हिन्दी आदि भाषाओं में साहित्य विकसित हो रहा था। गुलाम वंश के प्रसिद्ध शासक बल्लभ के शासनकाल में कबीर तुषरी का साहित्य रचा गया। उसने बर्बो, फारसी, लड़ी बोली में भी साहित्य रचा। मुहम्मद तुगलक के राजा-में बर्बो, फारसी तथा भारतीय भाषाओं के १००० कवि थे। जौनपुर उस समय बर्बो फारसी बोली का केन्द्र था। संस्कृत का प्रायः पतन हो चुका था। यद्यपि राजभाषा की अधिक महत्त्व दिया गया था पर अन्य भाषाएँ

भी समाज में बोलित थीं। साहित्य के क्षेत्र में वैचारिक विभिन्नता थी। तत्कालीन समाज में ईश्वर के प्रति मुख्य रूप से दो प्रकार की धारणाएँ प्रचलित थीं। एक ईश्वर की उपासना सगुण या साकार रूप में करता था और दूसरा निर्गुण या निराकार रूप में, जो सारी मान्यताओं से तत्कालीन साहित्य भी प्रभावित था। सगुण साहित्य का विकास कथानक के माध्यम से हुआ और निर्गुण साहित्य का स्वतन्त्र रूप से पहले प्रकार का साहित्य परम्परागत काव्य विधाओं में रचा गया तथा दूसरे प्रकार का साहित्य सकल रूप में अनुभव के बाधारे पर लिखा गया, यह अनुभववाद पर आधारित साहित्य सन्त काव्य का जिसे परम्परागत साहित्य के विरोध में अपनी मूर्तियों का प्रचार किया। सीधे सीधे तथा प्रभावपूर्ण भाषा में लिखा गया। सन्त काव्य अत्यन्त लोकप्रिय रहा। सन्त काव्य वर्ण व्यवस्था तथा धार्मिक कर्मकाण्डों का विरोधी बनकर समाज में प्रतिष्ठित हुआ। मध्यकालीन सन्तों में स्वामी रामानन्द, कबीर, रैदास आदि अधिक प्रसिद्ध हुए कि लोगों ने निर्गुण साहित्य का प्रचार एवं प्रसार किया। ये सन्त पिछड़ी जाति के थे। इसलिए सन्त साहित्य में जाति पंक्ति को कोई महत्व नहीं दिया गया। परिणामस्वरूप मन्तों का एक संगठन बना, जिसे निर्गुण साहित्य की बहुत तान बढ़ाया।

सन्त साहित्य निर्गुण विचारधारा को लेकर चला और दूसरे प्रकार का साहित्य ईश्वर के विविध अवतार तथा अन्य लीला गान को लेकर लिखा गया दूसरी तरफ इस्लाम साहित्य कबीरवादों एवं प्रेम-मार्ग था। सभी धर्मों के साहित्य भी भिन्न भिन्न मूर्तियों से प्रभावित थे। वैचारिक अलगवा के साथ साथ साहित्य के क्षेत्र में भी अलगवा था। ब्राह्मी, फारसी, उर्दू तथा हिन्दी आदि भाषाओं में लिखे गये साहित्य एक दूसरे के विरोधी एवं साहित्यिक संघर्ष के कारण थे।

इस प्रकार ११ वीं सताब्दी से १६ वीं सताब्दी तक का काल राजनीतिक संघर्षों का काल था जिसमें कौन-कौन सी राजनीतिक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के कारण कौन-कौन सी छुट्टियाँ का निर्माण हुआ और उन छुट्टियों का पारस्परिक संघर्ष और बढ़ता ही गया। विविध राजनीतिक उक्त पुस्त के परिणाम जनता को भोगने पड़े। राज्य विस्तार तथा धन प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम संघर्ष चल रहा था। हिन्दू राज-महाराजों की देश में छोटे छोटे राज्यों का निर्माण कर लिए थे, बाकसी फूट के कारण पराजित हुए। प्रायः मुख्यमान शासक विजयी रहे। मन्दिरीय स्व राजमन्त्रों का संघित धन विदेशी बाहुमणकारियों के हाथ लगा। इस काल में मुख्यमान शासकों ने जनता के शोचन से प्राप्त धन को सुन्दर मन्त्र बनवाने तथा अन्य शान्ति के कार्यों पर खर्च किया। यद्यपि पहले बरख बाहुमणकारी भारत का बहुत सामान गन्ती से गए पर बाद के मुख्यमानों ने भारत में ही धारा धन खर्च किया।

इस काल में वैय्य व्यवस्था पर अधिक धन खर्च किया गया जिससे कि शासन सत्ता सुदृढ़ एवं सुरक्षित रहे। मुख्यमान शासकों की दृष्टि कितनी बड़ी राज्य विस्तार तथा धन प्राप्ति पर थी, उतना प्रजा हितार्थ कार्य करने पर नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि शासक वर्ग धनी होता गया और शासित वर्ग गरीब। पराक्रम के कारण हिन्दुओं का मनोबल भी नीचा हो गया। राजनीतिक संघर्षों ने उनका बौद्धिक संकटपूर्ण बना दिया था जिससे उनके जीवन में निस्कारता की भावना घर करती जा रही थी। वस्तुतः राजनीतिक संघर्षों ने हिन्दुओं को सभी तरह से तोड़ डाला था। जब उनकी केवल प्राणीय गौरव नाश हो गया रह गई थी। अपनी देश, अपनी जाति, एवं अपनी धर्म के स्वाभिमान के कारण उन्हें भीतिक कल की उपलब्धियाँ से वंचित रह जाना पड़ा। वे पराजित होकर

साधारण जनता का सा जीवन व्यतीत करने लगे। भारतीय राजाओं की पराजय के बड़े कारण थे। उनमें सबसे प्रमुख कारण जातीयता का असमान स्तर था। राज्य करने तथा युद्धक्षेत्र में लड़ने का भार केवल थोड़े से राजपूतों पर होने के कारण देश की सुरक्षा के लिए सारी जनता का योगदान न हो सका। अधिकांश हिन्दू जनता देश के राजनीतिक मामलों से उदास थी। देश में कैसे बड़े संघर्षों के बीच जनता के राष्ट्रीय विचार कूटित हो गए थे। इस समय किसी भी एक ऐसी शक्ति संचित का उदय न हो सका जो देश के विभिन्न सुबों को एक संगठित राज्य का रूप देती। अतः जनजीवन में फैली विभिन्न असमानता का कारण राजनीतिक शीघ्रता एवं संघर्ष था।

धार्मिक मतभेदों के कारण साहित्य के क्षेत्र में भी विविध विचारधारा से प्रभावित काव्य सिते गये। सभी धार्मिक सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्थाओं के विरोध में सन्त साहित्य सिला गया। मुख्य रूप से समाज में उर्दू और हिन्दी साहित्य का प्रचार एवं प्रसार हुआ। निर्गुण एवं सगुण साहित्यिक माध्यम से भक्ति आन्दोलन एवं जनता में पुनर्जागरण सुरु हुआ। सन्तकाव्य के विकास से हिन्दी साहित्य अधिक सम्पन्न हुआ।

उपरोक्त विवेचन से कबोरहासीन परिस्थितियों पर अनुचित प्रकाश पड़ता है। इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर कबोर ने जन-चेतना के क्षेत्र में क्या क्या महत्वपूर्ण कार्य किए। सभी कार्यों का वर्णन हम आगामी अध्यायों में विस्तारपूर्वक करने की चेष्टा करेंगे।

द्वितीय अध्याय

- 'ज' शब्द का अभिप्राय
- 'ज' शब्द का प्रयत्न
- 'चेतना' का सांख्यिक अभिप्राय
- आत्मचेतना
- 'चेतना' का स्वरूप

कान्तिकेय कथ्या चेतन

कान्तिकेय कथ्या चेतना

सूत्रोक्तं वाचं कान्तिकेयः : चेतना का ज्ञातृ

यत्नाय कान्तिकेयः : वर्ण चेतना

कान्तिकेयः : संज्ञान

चेतना तत्त्व

चेतना का स्वरूप विशेषण

समाय में अभिव्यक्त कचेतना

धर्म में अभिव्यक्त जन-चेतना

१- विचार पदा

२- वाच्य पदा

३- साधना उपायना और ज्ञान पदा

४- विश्वास और पुराण पदा

वर्ण में अभिव्यक्त जन-चेतना : सामान्य सिद्धान्त

१- नैतिक व्यवस्था में विश्वास

२- कर्म सिद्धान्त

३- बन्धन का कारण

४- मोक्ष

५- मोक्ष का उपाय

• ६- कारण कार्य की मीमांसा , संस्कृति में अभिव्यक्त कचेतना

साहित्य में अभिव्यक्त कचेतना : निष्कर्ष

‘कन’ शब्द का वभिप्राय

कबीर साहित्य में ‘कन’ शब्द का वभि-
 प्राय प्रातिशोभता से है। सन्तों के काव्य के दो विषय हैं - वाच्यात्मिक
 तथा लौकिक। वाच्यात्मिक भावों के अन्तर्गत कबीर ने एक श्रान्ति की
 पैदा कर दिया क्योंकि संत कवियों ने लौकिक पक्ष पर भी काफी प्रभाव
 डाला। जैसे संतों के पूर्व धर्म उच्च वर्ग के अधिकार में था। मोक्ष पर भी
 सन्तों का अधिकार था और जहाँ तक सुखित का प्रश्न है उसका पासपोर्ट
 भी उन्हीं के हाथों में था जिसे यह देना चाहते थे, वही स्वर्ग को वाप्सरावी
 द्वारा सेवित बना परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इन सन्तों ने वाच्यात्मिक
 क्षेत्र में श्रान्ति उपस्थित की। साहित्य, समाज, धर्म आदि में कबीर ने प्राति-
 शोभ विचारों का समावेश किया है। युग युग से परित्यक्त और वमिश्रित कुछ
 वर्ग का कबीर जैसे परमार्थी सन्तों के द्वारा ही उनका उद्धार हो सका।
 इन्हीं सन्तों के प्रातिशोभ विचारों द्वारा एतपात भीतिता और प्रतिकार
 की भावना के विरुद्ध इन्हीं लोगों ने उपदेश दिये। यह सब कबीर को पैतना
 का परिणाम था। तथ्य तो यह है कि कबीर साहित्य के क्षेत्र में अपनी या
 से बहुत बाण बढ़ चुके थे। उनका साहित्य सभी सोभावों से बाण बढ़ गया
 था। उन्होंने उन नवीन उद्भावनावादी की और वगुण्य निर्देशन किया जो इस
 देश के साहित्य के लिए बाण भी कल्याणप्रद सिद्ध हो रहा है।

‘कन’ शब्द का वभिप्राय है, मनुष्य, व्यथित,
 मनुष्य समूह, लोक, जाति, जन लोक, जिस प्रकार ‘लोक’ शब्द का प्रयोग

हिन्दी में स्थिर सा हो जाता है। कौनों के 'कौन' के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा।

'जन' शब्द कौनों के 'प्रीकृत' शब्द का पर्याय है, लोक साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता ही द्वारा रचित साहित्य है वहाँ जन साहित्य जनता के लिए व्यक्तित्व द्वारा रचित साहित्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोक साहित्य में रचयिता व्यक्तित्व जन समूह का माध्यम मात्र है जबकि जन साहित्य में रचयिता व्यक्तित्व का अपना वैशिष्ट्य है, जन साहित्य का ढाँचा भी लोक साहित्य से भिन्न होता है। वह लोक साहित्य की तरह मौलिक नहीं होता बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। जन-साहित्य लिखित व्यक्तित्व द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो सह-सम्बन्ध के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है।

'जन' शब्द की प्राचीनता का ऐतिहासिक आधार है, संस्कृत एवं पाली ग्रन्थों में इस शब्द से मानव समाज का बोध कराया गया है। बुद्ध के उपदेश बहुत क्लृप्त व बहुत सुलभ होते थे। 'जन' शब्द की प्राचीनता जायें जाति के इतिहास से सम्बद्ध है। प्राचीनतम ऐतिहासिक उत्सर्गों के अनुसार जायें लोग 'जन' कच्चा समुदायी या गिरीही में संगठित थे, एक जायें 'जन' के सब लोग अपने के सजात कर्त्ता किंहीं एक मूल पुरुष से उत्पन्न सम्भवते थे। कविद में लोक स्थलों पर पूरे जन शब्द का प्रयोग हुआ है।

'जन' शब्द की यह ऐतिहासिकता ऐतिहासिक प्राचीनता एक दूसरे तथ्य का ज्ञात करती है कि 'जन साहित्य' की जनप्रिय साहित्य कच्चा राष्ट्रीय साहित्य के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

यह भी एक कारण है जिसके आधार पर 'जन' शब्द 'लोक' को सूचना में अधिक ग्राह्य होना चाहिए जिस प्रकार लोक संस्कृति प्रादेशिक या क्षेत्रीय हुआ करता है। प्रदेश या क्षेत्र स्कार्ड के रूप में संस्कृति का उत्पादक बन जाता है जो विज्ञात समाज या 'लोक' का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए विद्वान् लोग लोक के समान आधार के लिए संश्लिष्ट क्षेत्र आवश्यक मानते हैं।

टी० एच० हसिंग्टन ने संस्कृति के लिए तीन स्थितियों की आवश्यकता बताते हुए यह माना है कि उसका विश्लेषण भौगोलिक स्कार्ड की दृष्टि से स्थानीय संस्कृति के रूप में होना चाहिए जिसके द्वारा एक प्रादेशिक या क्षेत्रीय रूप बनता है। भारत जैसे विस्तृत देश के लिए तो यह क्षेत्रीय विभाजन और भी आवश्यक है। इस क्षेत्र में सामान्य रूप से ग्रामीर एवं नगरों के समुदाय सम्मिलित हैं। इसमें होने वाली जन उनकी भूमि और नीतिक जीवन तथा उनकी संस्कृति में 'जन' शब्द के सम्पूर्ण ज्ञान का वन्तर्भाव हो जाता है। ग्रामीर के समुदाय की दो प्राधान्य परिभाषा में 'जनपद' कहा गया है। वह भौतिक स्कार्ड जिसमें बीसों और 'जन' संस्कृति की दृष्टि से जनता में पारस्परिक साम्य अधिक है, जनपद कहो गयी है। इस-लिए 'जन' शब्द की सरलतापूर्ण क्षेत्रीय अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं।

'जन' शब्द का प्रयत्न

बुल्ल हिन्दी कोश में 'जन' शब्द की निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया गया है- मनुष्य, व्यक्ति, मनुष्य-समूह, लोक, जाति, जनलोक आदि।

१- बुल्ल हिन्दी कोश- डा० हरदिव बाहरी पृ० ४०४

‘लोक’ शब्द का प्रयोग जब हिन्दी में स्थिर था ही नहीं था। ‘लोक’ शब्द अंग्रेजी के ‘फीक’ के स्थान पर और ‘साहित्य’ शब्द ‘लिटरेचर’ के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, साहित्य के साथ वह नवानि विशेषण युक्तः यूरोपीय साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। किन्तु जिस मैण्टी के साहित्य का अध्ययन ‘लोक साहित्य’ के अन्तर्गत किया जाता है उसके अर्थ में ‘जन साहित्य’ शब्द का प्रयोग अधिक स्वाभाविक तथा सुविधाजनक प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों ने ‘लोक साहित्य’ और ‘जन-साहित्य’ में पर्याप्त अन्तर स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार ‘जन साहित्य’ औपनिषदिक क्रांति से उत्पन्न समाज व्यवस्था की भूमिका में प्रयुक्त करने वाले सामान्य जन का साहित्य है। लोक साहित्य वहाँ जनता के लिए जनता के लिए ही रचित साहित्य है, वहाँ जन साहित्य जनता के लिए व्यक्तित्व द्वारा रचित साहित्य है। लोक साहित्य में व्यक्ति व्यक्तित्व जनसमूह का माध्यम मात्र है, जबकि जन-साहित्य में व्यक्ति व्यक्तित्व का अपना वैशिष्ट्य है। जन-साहित्य का ढाँचा भी लोक साहित्य से भिन्न होता है, वह लोक साहित्य की तरह मौखिक नहीं होता। बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। ‘जन-साहित्य’ लिखित व्यक्तित्व द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो वह समुदाय के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है।

‘जन और लोक’ में एक और भी अन्तर माना गया है- ‘जन लोक’ की अपेक्षा अधिक सुगठित और निची संस्था के प्रति चेतन्य समूह है और बहुधा राजनैतिक पृष्ठभूमि के साथ होता है, जन -

साहित्य जन-कल्याण के भाव से भी प्रस्तुत किया जाता है, जन की किसी प्रकार की शिक्षा देने वाला भी हो सकता है, जन के अधिकारों और कर्तव्यों की भी अभिव्यक्ति कर सकता है। यह ही-साहित्य की भाँति छद्म, स्वाभाविक और कर्तव्य भाव से रचित नहीं हो सकता ।

ये विभाजन रेखाएँ स्पष्ट माहुर नहीं होती ।

बौद्धिक शक्ति मानव सभ्यता के इतिहास में बहुत बाद का विकास है ।
इसके पूर्व शिकारी, पशु पावन, कृषि की अवस्थाओं में मनुष्य की रचनाएँ जनसामान्य की ही रचनाएँ थीं और हैं।

‘जन’ शब्द राजनीतिक पृष्ठभूमि के साथ सम्बद्ध किए जाने पर एक विशेष वर्ग देने लगा है जिसमें वर्ग चेतना की भावना प्रसृत है। बात यह है कि वर्तमान समय में राजनीतिक दलों ने इस शब्द का दुरु-प्रयोग किया है। प्रातिज्ञोक्त साहित्य की ही कुछ सीमा है जन साहित्य सम्झने लगे हैं। वस्तुतः यही दृष्टिकोण था जिसके आधार पर ‘जन’ शब्द की एक विशेष वर्ग में प्रयुक्त किया जाने लगा । इस और चीन की पत्रिकाओं में जन-साधारण के लिए ‘पोपुलर’ शब्द का प्रयोग हो मूलतः किया जाता है जो उनके समाज में सामन्ती और प्रबुद्धिवादी वर्ग से एक पूरे वर्ग का सूचक है, इस वर्ग में कृषक, मजदूर तथा अन्य अल्प सीमा जाते हैं।

भारत में प्रातिवादी विचारधारा का सैद्धा-
न्तिक सम्बन्ध इस की इसी मार्क्सवादी विचारधारा के साथ रहा जिसमें कवि वर्ग भावना के प्रति स्पष्ट होकर निश्चित सामाजिक राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति करना कव्या परम कर्तव्य मानने लगा ।

प्राचीन साहित्य में भी वर्ग संघर्ष की भावना छुड़ी जाने लगी और लोक-साहित्य में इस प्रकार के कार्मिकीन तत्त्वों की झान बनी होने लगी जिसके फलस्वरूप ग्रामीण में प्रचलित 'पोपुलर' शब्द के साथ 'जन' शब्द भी उसी राजकीय कार्य के साथ सम्बद्ध हो गया जबकि 'जन' शब्द का ऐसा कोई विशेषण कार्य नहीं है। उसका सीधा कार्य है जन साधारण की 'लोक' शब्द का भी है।

प्रत्येक प्रकार का साहित्य 'जन-साहित्य' नहीं हो सकता। 'जन साहित्य' बनने के लिए समाज की वास्तव से तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। यही स्थिति 'लोक साहित्य' के साथ है। दोनों के मूल्यकर्म का आधार एक ही है। तब यह कहें कि कौनो 'फोक' शब्द की भी स्थिति है, वास्तव में वही एक विशिष्ट कार्य के कारण ग्रामीणों 'पोपुलर' शब्द के साथ जोड़ने पर 'जन' शब्द की भी हुई जबकि 'लोक' और 'जन' शब्दों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। 'जन' शब्द का सामान्य कार्य ग्रहण करना ही उपयुक्त है जो विशिष्ट वर्ग से फिर भी पार्थक्य रखता है। 'साहित्य' के साथ यह विशेषण लगाने पर 'जन-साहित्य' उन समस्त परंपरित मौखिक तथा लिखित रचनाओं की समष्टि कहा जा सकता है जो किसी एक व्यक्ति या कौन व्यक्तिओं द्वारा निर्मित होती हूँ भी बाव सामान्य जन समूह का अपना कृतित्व माना जाता है जिसमें किसी जाति, समाज या एक क्षेत्र में रहने वाले सामान्य लोगों को परम्पराएँ विशेष प्रवृत्तियाँ, वाच्य विचार, रीति-नियतियाँ, बाणी विलास आदि समाहित रहते हैं।

इसमें व्यापक रूप से अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं, जिनमें जन-मानस प्रतिबिम्बित रहता है, यह अत्यन्त सहज, स्वाभाविक

होता है तथा मानव हृदय की भावनाओं से सीधा सम्बन्ध रखता है। ऐसी रचनाओं में व्यक्ति- निष्ठ भावनाओं के व्यक्त होते हुए भी उनकी दृष्टि एकान्त अन्तर्मुखी नहीं होती और मुख्य रूप से उनमें जन-साधारण के व्यापक जीवन सम्बन्धी भाव चित्रित होते हैं। यही बात जन शब्द में परिलक्षित होती है।

‘ चेतना ’ का शब्दार्थिक अभिप्राय

वर्तमान राज की सत्तात क्रियाओं की चेतना कहकर पुकारा जाता है। चेतना व्यक्ति सापेक्ष सूक्ष्म स्वतन्त्र स्व गतिशील वस्तु है। आध्यात्मिक चिन्तकों एवं अनुभवी मनोविनियों ने क्रिया संवेदना के कारण एवं बाधाभूत तथित की चेतना कहा है। इसी की संस्कृत के विद्वानों एवं वाचार्यों ने बुद्धि, ज्ञान, बोधनी तथित भावना या विचार के अर्थ में ग्रहण किया है। धीः, मतिः, चित्, संवित्, प्रतिपत्, जप्तिः सत्त्व एवं बोधन्त के अर्थ में भी चेतना का उपयोग किया गया है।

हर्बर्ट रीड ने चेतना की एक विशेष प्रक्रिया की संज्ञा दी है, जो किसी परिणति पर अनुभूति का स्वरूप धारण कर लेता है। यही चेतः, ज्ञान, होस और चैतन्य का ही वाक्य है। जो

१- चतुर्व्यति मदीना चेतना चरकः । २४ गंगाधर- प्रथमाननम् पृ० २५३

२- पश्चिमाया मितो यामात्प्रसादुप्ति चेतना । रघुवंश १७१

३- हन्ता मेघा सुतं दुःस संघातश्चित्ता धृतिः ।

एतदीदं समाधि सचिन्तार मुवाहृतम् ॥ गीता १३।६

४- हर्बर्ट रीड- कलेक्टड एसेज ऑन लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० ३५

५- का लिका प्रसाद- बृहद् हिन्दवी कौश पृ० ४५७

६- सुन्दरी लास गोवास्तव - ज्ञान शब्द कौश पृ० २५३

‘बोध’ या प्राणी के अन्तर्बाह्य तत्त्वों या बातों का अनुभव या मान कराती है।

चेतना विश्व वास्तित्व बोध की एक परि-
भाषक कहाँ है। कवि- चेतना के माध्यम से ही स्वयं विश्वानुभूतियों के वाक्य
का केन्द्र-बिन्दु बनकर एक विशिष्ट नवसर्जन करता है। वास्तित्ववादियों का
‘वास्तित्व’ वह चेतन सम्पन्न क्रियाशील वनिश्चित क्षेत्र है। जो सृष्टि में
मानवमात्र में ही संचित होता है। जो मानव प्राणी के माध्यम से व्यक्ति
मन के विचारों की वाक्छा और विचारों के साथ ही, एक परिवर्तनशील
कहाँ है।

अधित मन- चेतना का मूल उत्स है और
चेतना चेतना उसका प्रधान गुण। कवि खीन्द्र नाथ टेंगी ने भी कहा है
कि मनुष्य मात्र ही प्राकृतिक नहीं मानसिक भी है। मनः अधित होने के कारण
चेतना मानसिक है। इसकी क्रिया विचार या मन की है। विलियम जेम्स ने
भी चेतना की विचार को धारा माना है।^४ उसके पाँच सप्तानों में ‘वैय-
धिक चेतना’ की प्रसूता दो है। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैविध्य से
प्रापित होता है और चेतना की अवशिष्टता हमारे व्यक्तिगत तादा-
त्म्य के अनुभव से।^५ यह मानसिक चेतना ‘संकल्प शक्ति’ का वाच्य पाते ही
गतिशील बनती है। भाषा के द्वारा विचार और स्मृति की स्वरूप भी

१- ए रामचन्द्र वर्मा - मानक हिन्दी कोश पृ० २७४

२- मोहर वर्मा - जालीचना २६ अप्रैल १९५६ पृ० १२२

३- वास्तित्ववाद - डा० महावीर दाधोष पृ० ८१

४- द प्रिंसिपल्स ऑफ सायकॉलॉजी - विलियम जेम्स पृ० २२४

५- हिन्दी साहित्य कोश- कुमारी प्रीति कदावाल पृ० २८६

६- पी० सुखलाल जी - दर्शन की चिन्ता पृ० १७

देती है। चेतना विचार एवं निर्णय में पूर्णतः मुक्त होती है और यह मुक्तता-
वस्था ही उसकी पीढ़ी और चिन्ता का मूल कारण है, क्योंकि 'भाव'
मानवीय चेतना के साथ ही उपजता है, अर्थात् चेतना ही भावग्रस्त है। चेतना
स्वयं इच्छास्वरूपा है। इसीलिए तो वह इच्छापूर्ति के लिए सक्रिय रहती है
और इच्छा स्वतः भाव गीतवा है।

इस चेतना की अस्तित्ववादी एक साधन या
पद्धति के रूप में मानती हैं। उसकी दृष्टि में 'चेतना मानव अस्तित्व के सहज-
रूप स्वरूप के उद्घाटन में सहायक है। उनका उद्देश्य अस्तित्व की धारणा
मानना नहीं, अस्तित्व के सजीव अनुभव की भावपूर्ण ढंग से फलना है।
आत्मचिन्ता या मन की 'अपि' का अर्थ प्राचीन वाचार्यों ने एक जन्मा-
न्तर्गत ईश्वर प्रवृत्त प्रतिभा माना है। वाच उद्ग ही प्रबल व्यक्तित्व-चेतना
मान लीजिए।

क्रायक ने मन की चेतन, पूर्व चेतन तथा
अचेतन जैसी तीन अवित्तियों की कल्पना की है जिनमें अचेतन तो चेतन का
ही कल है और अचेतन इन दोनों से विलुप्त भिन्न और अधिक प्रसृत है।
चेतन मन में जहाँ सामाजिक मान्यताएँ सक्रिय रहती हैं, वहाँ अचेतन में बहुत
से असाधारण इच्छाएँ केन्द्रित होती हैं।

युग के अनुसार 'अचेतन के चेतन में अपि-
व्यक्त होने पर और उसकी अन्य अवित्तियों का विश्लेषण किये जाने पर जीवन
में विकास सम्भव है। हमारा आत्म अस्तित्व बना रहे। हमारा जीवन

१- अस्तित्ववाद - डा० महावीर वर्धन पृ० ८१

२- उपरिष्ठ पृ० १६

३- डा० गेन्द्र- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ० ७

विकासमान हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी बाकी अभिव्यक्त करते रहें। हमारा वात्स्य व्यवहार व्यक्त होता रहे अन्यथा इसके अभाव में उसका विस्फोट अत्यन्त भयंकर हो सकता है। वस्तु कला प्राण चेतना की रेखा ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। क्योंकि यह चेतना व्यक्त की अपनी निजी संपत्ति है जिसे अन्य व्यक्तित्व ज्ञात नहीं कर पाता, स्वयं व्यक्तित्व की ही इसका ज्ञान रहता है।

वात्स्यिकता

दृष्टि की समस्त महत्वपूर्ण कलाएं वात्स्य-
चेतना और व्यक्तित्व चेतना से प्रेरित होने के कारण वात्स्य बोध एवं विश्व बोध के स्तर तक पहुँची हुई मानी जाती हैं। इनमें साहित्य एवं कलात्मक प्रवृत्ति को एक सर्वांगीण समूह अभिव्यक्ति है और इसका प्रमुख वाग्रह है मानव व्यक्तित्व निरूपण। साहित्य निर्माण की प्रक्रिया का केन्द्रविन्दु व्यक्तित्व है। साहित्य व्यक्तित्व की ही अनुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति का नाम है।

डा० जगदीश गुप्त के अनुसार वात्स्य
काव्य प्रेरणा का मूल स्रोत उसकी अपनी चेतना है। जिसका समर्पण यदि होता है तो जीवन के सत्य सत्य के वाग्विहीन होता है। फलतः वात्स्य प्रकाशन की प्रवृत्ति इसमें अधिक प्रबल है, साहित्य में सज्ज की अपनी अन्तरात्म का परिचय देता है, जो परिचय अपनी वगीचरता में भी गीचर बन जाता है सूर्य जैसे अपनी

१- डा० हस्तिना पुरीहित - आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा
पर पाश्चात्य प्रभाव पृ० ३४३

२- डा० रामकृष्ण द्विवेदी - वात्स्यिकता १५ अक्टूबर १९५१ पृ० ५७

३- डा० जगदीश गुप्त - नई कविता की पृ० २

जान्ना से मुष्टि और समूह जनस्पति बगल की आसक्ति कर देता है, ठीक वैसे ही व्यक्ति चिन्तन की जान्ना अपनी मौलिकता में एक नयी उपलब्धि होती है। जो होती ती है व्यक्ति ही परन्तु उसका सत्य समष्टि तक व्याप्त होता है, कविता किसी व्यक्ति विशेष की रचना मात्र हुवा करती है। कतल उस पर फटा हुवा किसी प्रकार का भी भाव उसके कवि व रचयिता पर पड़े हुए भावों का ही परिणाम ही सकता है।

व्यक्ति समाज की अभिन्न रूढ़ी है, वह जिस समाज, राज्य और राष्ट्र में रहता है, उसके नियमों, रूढ़ियों एवं रीति-नियतियों से परिणामित हुवा करता है किन्तु आत्म चेतना के उद्बुद्ध होने पर व्यक्ति समाज रूढ़ियों से मुक्ति पाने की पकट उठता है। आधुनिक कविता में हृदिवाद के प्रसार के साथ साथ वैयक्तिक चेतना का ऊर्ध्वकिरण होता चला गया है। इसके फलस्वरूप वैयक्तिक चेतना के विविध आयामों पर विचार करें चेतना के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार कर लेना उचित है। क्योंकि 'चेतना' जो जीवन से पूर्ण कोई हंशरोय देन नहीं है। वह प्रतीति है संपूर्ण मानव-बोध के क्रमिक विकास में व्याप्त क्रुपति का ।

चेतना का स्वरूप

मानव की प्रमुख विशेषता चेतना है क्योंकि वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान, चेतना की परिभाषा कठिन है ,

१- परशुराम चतुर्वेदी - साहित्य पथ ५० ५६

२- लक्ष्मीकान्त वर्मा- नयी कविता के प्रतिमान ५० ६६

पर हल्का वर्णन ही सकता है। चेतना की प्रसृत विशेषताएँ हैं, निरन्तर परिवर्तनशीलता कभी प्रवाह, इस प्रवाह के साथ साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविविच्छिन्न एकता और साक्षर्य, चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैशिष्ट्य से प्रभावित होता है और चेतना की अविविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तित्व तारत्व के अनुभव से विभिन्न विषयों की कतन कतन समय पर चेतना होने पर हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि " " की वस्तु वस्तु देती थी यदि हमारी चेतना अस्पष्ट और अविविच्छिन्न न होती तो यह अनुभव हमें न होता लेकिन यह अस्पष्टता और अविविच्छिन्नता साक्षर्य से ही सम्भव होती है। विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में साक्षर्य (कभी काल) के द्वारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि वे मिलकर एक चेतना का रूप बन जाते हैं। मानसिक संपर्क अत्यधिक दम और भावात्मक बाधाओं से यह साक्षर्य नष्ट भी हो जाते हैं। तब चेतना भी बिखरी बिखरी हो ही जाती है और व्यक्तित्व लुप्त । चेतना में साक्षर्य नष्ट होने की कभी मात्राएँ ही सकती हैं । यदि कम मात्राएँ हो तो कौई विशेष व्यवहार कौई विशेष मानसिक क्रिया सम्पूर्ण चेतना से वियोजित हो जाती है, पर व्यक्त के लिए गम्भीर समस्या नहीं उठती पर यदि अधिक मात्रा में हो तो बहु व्यक्तित्व, लुप्त व्यक्तित्व आदि रोग हो जाते हैं।

चेतना शब्द का उपयोग प्रायः उपर्युक्त मनी-

वैज्ञानिक अर्थ में होता है पर कभी कभी इसका प्रयोग दार्शनिक अर्थ में भी हो सकता है। विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिक चेतना या विज्ञान की साक्षर्य और समानता सत्ता मानते हैं। इस अर्थ में 'चेतना' शब्द बाह्य का समानार्थक हो जाता है परन्तु साहित्य और दर्शन में भी इस अर्थ में प्रायः 'चेतन्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। चेतना शब्द सामान्य मनीवैज्ञानिक अर्थ में ही अधिक होता है।

कान्तस्य वचना चेतन

सूक्ष्म विश्लेषण करने पर सृष्टि के सारे पदार्थ दो वर्गों में बंटे दिये जा सकते हैं- एक वर्ग उन पदार्थों का है, जिन पर बाह्य वातावरण की थोड़ी या बहुत प्रतिक्रिया होती है और जो चर है, तथा दूसरा उनका जिन पर बाह्य वातावरण का कोई प्रभाव नहीं होता और जो अचर है। प्रथम प्रकार के पदार्थ चेतन कहे जाते हैं और द्वितीय प्रकार के अचेतन या जड़ । इसके अतिरिक्त साहित्य में 'चेतन' शब्द का कुछ और अर्थ- विस्तार हो जाता है एवं 'कान्तस्य वाटिस्त' प्रयोग में इस शब्द का अभिप्राय चेतन न होकर 'सृजन कलाकार' है क्योंकि वह कलाकार जो रचना शिल्प के समस्त सूक्ष्म पदार्थों से अवगत होकर निर्माण में प्रवृत्त होता है।

कान्तस्यैव वचना चेतना

वह तत्त्व या शक्ति जो अपने से भिन्न अन्य पदार्थों का ज्ञान या संवेदन कराती है। सूक्ष्म विश्लेषण करने पर निम्नलिखित सृष्टि के समस्त पदार्थ या तो जड़- रूप में स्थापित होते हैं या चेतन रूप में, जो जड़ हैं उनमें संवेदन रुझा और सृजन क्रिया का नितांत अभाव होता है। चेतना वह है उसमें संवेदन है, रुझा है और सृजन क्रिया है। जब यह प्रश्न किया जाता है कि इन दोनों में कौन सा प्रधान है तो उत्तर दो प्रकार के मिलते हैं एक उत्तर उन भाववादियों या आत्मवादियों का है जो चेतना को प्रधान ही नहीं मानते बल्कि पदार्थ जगत् मात्र को चेतना सेही बनित मानते हैं। वे चेतना को ही सारी सृष्टि का आधार मानते हैं। दूसरा उत्तर भौतिकवादियों का है जो चेतना को जड़ तत्त्व के परम अंशों की विशिष्ट गतियों की

परिणति मानते हैं। स्वर चेतना प्रभाववाद ने साहित्य की गम्भीर रूप से प्रभावित किया है।

सुदीप बाबू कीन्तकरीष : चेतना का प्रभाव

सुप्रसिद्ध कपरीकी मावीजानिक विस्मय केस के मतानुसार मानवचेतना का प्रभाव तर्कगत नियमों से स्वयं प्रकट है। विस्तृतता हो इस प्रभाव का धर्म है और जिस प्रकार बाग में एक ही जाण विशेष में कीने लगे उठते हैं उसी प्रकार व्यक्त मानव भी प्रतिक्षण काणित ईश्वर-होने अनुभवियों स्व विचारों से प्रभावित होता रहता है। सर्वप्रथम शरीर के (शरीर कवि) स्व पादरी) जैन धर्म ने सिद्ध है कि जब मैं प्रार्थना के समय अपने मन की स्फूर्ति करने को चेष्टा करता हूँ उसी जाण विगत कल के सांसा-हिक विकास की सृति, भावों कल की वास्तविक, धरे छुटनों के नीचे पड़ने तिनका, धरे कानों में एक शोर, धरे नेत्रों में एक प्रकट प्रकाश, ये सब प्रकट और प्रखण्ड हेतु धरे मस्तिष्क की वास्तविक करते हुए धरे चेष्टा की अवफल कर देते हैं। " धर्म का अनुभव इसी चेतना प्रभाव का एक सर्वोप उदाहरण है। चेतना प्रभाव के इस सिद्धान्त ने सफलतापूर्वक उपन्यास साहित्य की लिपि-विधि के क्षेत्र में एक नया युग आरम्भ किया है।

बतास कीन्तकरीष : वर्ग-चेतना

मायसवादो विचारधारा की एक मान्यता यह भी है कि प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी वर्ग की चेतना की अभिव्यक्ति होती है और बाबू के कान्तिकारी साहित्य में सर्वोपरि वर्ग की चेतना हीनी बाहिर जिस हद तक साहित्यकार की वर्ग चेतना स्पष्ट और तीव्र होगी उसी हद तक वह अपनी साहित्य की अधिक प्रसर और प्रभावशाली बना लेगा। इस

प्रकार सावधानी विना एक साहित्य में मानवीय चेतना और भावनाओं की अभिव्यक्ति के स्थान पर संवृत्त वर्ग-चेतना की ही तलाश करते हैं और उसी की प्रधानता देते हैं।

भानुशिव : संज्ञान

चेतना के तीन प्रमुख व्यापार माने जाते हैं। संज्ञान, इच्छा तथा भावना और क्रिया इच्छा एवं क्रिया से भिन्न चेतना के जितने भी व्यापार हैं वे सब संज्ञान के अन्तर्गत जाते हैं। संज्ञान के कई स्तर हैं और इसका विवेचन वि. लक्ष्मण विविध शास्त्रों में विविध दृष्टियों से किया जाता है। संज्ञान पशुओं की मोहोता है और मनुष्यों की भी, स्पष्टतः संज्ञान के ये दोनों स्तर भिन्न भिन्न हैं। मनीषिज्ञान में भी संज्ञान का विश्लेषण होता है तथा दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र में भी, मनीषिज्ञान वर्णनात्मक एवं प्रयोगात्मक विषय हैं। इसलिए वह वस्तुओं के संज्ञान की तथ्य रूप में स्वरूप कर उसकी मोपसिद्ध करता है। संज्ञान क्यों और कैसे होता है ? संज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञातव्य का क्या सम्बन्ध है, आदि प्रश्नों का समाधान दर्शनशास्त्र में किया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखी हुर संज्ञान, इच्छा और क्रिया दोनों सम्बद्ध रूप से ही होती हैं। यह बात दूसरी है कि कहां से प्रधान होता है और कहां दूसरा।

वह सत्ताया शक्ति जो ज्ञान का मूल आधार है और इसलिए जो स्वयं अपरिभाष्य है। अन्तर्निरीक्षण द्वारा ही चेतना का ज्ञान सम्भव है। बाह्य निरीक्षण चेतना की क्रियाओं का परिचय मात्र देता सकता है और वह भी परीक्षा रूप से कभी कभी 'चेतना संरूप', भाव और ज्ञान की समष्टि की भी कहा जाता है। मनीषिज्ञान में 'चेतना' शब्द

मन के कल्पितन और कल्पित भावों के विपरीत उस भाग का निर्दिष्ट करता है, जिसकी कल्पनाओं का व्यक्तित्व को स्पष्ट बोध हो। लेकिन अधिकतर मनो-विश्लेषक इस कार्य को व्यक्त करने के लिए 'चेतना' शब्द का प्रयोग करते हैं।

चेतना उत्पत्ति :

चेतना एक वस्तुगत सर्वव्यापी, अनिवार्य, धारणा के रूप में न कि व्यक्तित्वगत मन की प्रक्रियाओं की समष्टि के रूप में स्पष्ट है कि इस कार्य में 'चेतना' का अस्तित्व केवल प्रत्यक्षात्मक ही हो सकता है।

बाधुनिक मनोविज्ञान में विशेषतः मनो-विश्लेषण में 'कॉन्सस' शब्द संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'कॉन्सस' मन का वह भाग है जिसकी स्थितियों के विषय में व्यक्तित्व को स्पष्ट ज्ञान हो। फ्रायड के अनुसार कल्पितन या कल्पित की तुलना में चेतन का विस्तार बहुत हीटा है उसमेंवत उन्होंने विचारों और इच्छाओं की स्थान फिलता है जो व्यक्तित्व को नैतिक और सामाजिक मान्यताओं के अरूप होती है।

वह आन्तरिक चेतना जिसके द्वारा कर्ता को कर्म के उचित या अनुचित शुभ या अशुभ होने का बोध होता है या जो उसे शुभ कर्म करने के लिए उक्त करता है। प्राचीन दर्शन में साटिनस, मध्यम में स्वसर्ग और बाधुनिक काल में बटलर ने सद्विक हृदि की नैतिक जीवन का सर्वोच्च निर्णायक माना। टासटाय और महात्मागांधी ने भी यही दृष्टिकोण अप-

नाया । सदैविक को सर्वाधिक नैतिक निर्णायक मानने में एक कठिनाई यह है कि यह एक व्यक्तिगत मानक है, और इसके किसी भी निरपेक्ष नैतिक निर्णय को प्राप्त नहीं किया जा सकता जो कि सर्वमान्य हो दूसरी कठिनाई यह है कि प्रत्यक्ष व्यवहार में सदैविक बुद्धि प्रायः हमें एक दिशा में ले जाती है। वाधनिक विचारधारा में नैतिक मान्यताओं का निर्धारण मानवीय व्यवहार और मानवीय मूल्यों के संदर्भ में किया जाता है।

चेतना का स्वरूप विश्लेषण

साहित्य में अभिव्यक्त चेतना विविध परि-
वर्तों के माध्यम से निष्पन्न होती है जिसे हम सामाजिक, वैयक्तिक, कलात्मक,
वर्तमान, वास्तव और यथार्थ जोखिमों में विभाजित करके समझें । यह उचित
और अत्यधिक बोधगम्य होगा ।

चेतना का स्वरूप विस्तृत रूप से हमें समाज,
धर्म, दर्शन, संस्कृति , साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। यही चेतना के मुख्य
कोश हैं।

✓ समाज में अभिव्यक्त जनचेतना

मानव समाज को स्मार्क है और समाज वात्मा का समष्टिगत स्वरूप है। साहित्यकार को मानव वात्मा का जितना कहा गया है। वह समष्टि रूप में समाज को वात्मा का निर्माण है। उसकी सृष्टि में जागत दृष्टि निहित होती है । बिना द्रष्टा हुए वह जान भी नहीं सकता कि मनुष्य को सबसे बड़ा जिन्दगी को रंगीन तस्वीर कौनसी होना चाहिए और द्रष्टापा के

समाज में समाज की सुबसूत तस्वीर सुबसूती से निर्मित भी वह कैसे कर सकता है। वह समाज की अस्पष्ट प्रतिभा के स्फाकार के लिए विशेष की वातमन रूप में बफाता है और सामान्य रूप में चित्रित करता है। साहित्य मानव-भावनाओं की व्यक्तित्व की ओर से खगल की ओर पीढ़ता है। स्त्री की मानव जीवन पर साहित्य का प्रभाव और मानव हित के लिए साहित्य का उपयोग करते हैं।

साहित्यकार अपनी प्रतिभा के लेख की समाज में फिराकर उसे समाज का पदाधर बनाता है। प्रत्येक समाज किसी न किसी विचार या जीवन दर्शन से परिभासित होता है और इन जीवन मूल्यों या जीवन दर्शनों की महानता किसी भी साहित्य की महानता का मापदण्ड है। अतः सच्चा साहित्यकार मानवीय जीवन सहिष्णुता, प्रेम, मानव-समानता वादि जीवनगत मूल्यों का समसामयिक सन्देश देता चलता है। वह मनुष्य की जीवन की कलकल में तोड़ देने वाली निराशाओं, कृष्ठाओं को उपेक्षा करके जूझने का अल देता है। इस प्रकार मनुष्य के संकुचित दायरे से उठाकर सामाजिकता के परिवेश में बिठाकर उसके व्यक्तित्व का उन्नयन और विस्तार करता है। हर नये युग में जीवन मूल्यों का नया संस्कार करके वह नया कल्प तैयार करता है।

मध्ययुगीन सभी संत कवियों ने भारतीय समाज की भस्मोर्ध्वति प्रभावित किया है। इनमें कबीर की हम सर्वोच्च पद पर रह लगे हैं, क्योंकि उनके शान्त प्रिय और निर्दोष, व्यक्तित्व ने प्रतिकार, प्रतिहिंसा प्रतिशोध, वैमनस्य, और भेदभाव को हीली में दग्ध मानव समाज की शीतल उपदेशों के द्वारा कल्याणकारी पथ पर अग्रसर किया। इनकी शाश्वत बानियाँ में मानव समाज की प्रभावित करने की बड़ी शक्ति है। कबीर का साहित्य ६०० वर्ष प्राचिन है, परन्तु फिर भी वह आज के लिए उतना ही उपयोगी है जितना

कि इस समय में था। कटुता, संकीर्णता, शोचन तथा हानि कार्यों में संलग्न मानव की वाज भी वह प्रेरणा देकर सकार्य करने के लिए उत्साहित करता है। संतों के साहित्य ने जीवन के प्रति स्वल्प दृष्टिकोण का स्पर्श किया। संतों के साहित्य को पढ़कर वाज भी प्रतीति होता है कि मानों यह हमारे लिए ही लिखा गया है। कबीरदास की निम्नलिखित बातियाँ में वमिष्यन्त सुन्दर भाव साहित्य के इतिहास में और मानव अनुभूति के खींच में कभी भूटे और पुराने नहीं पड़ेगे। यथा-

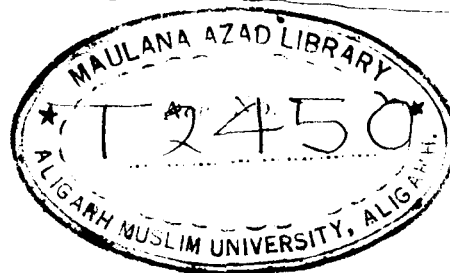
‘‘ हुरा जो देखन में जाता, जग में हुरा न होय ।

कबिरा नवं न कीजिर, कबहुँ न हंसिये कोय ।

कबहुँ नाव समुद्र में, ना जाने का होय ॥ ’’

इन वानियों में व्यक्त भाव किसे नहीं प्रा-
पित करते श्रामीण जनता वाज भी कबीर के भजन गाती है। जनता वाज भी
कबीर के सन्देशों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहती है। संतों का भाव
गंधी जी पर भी पड़ा उनकी माता स्वतः कबीर प्यो थी। कबीर के जीवन
दर्शन विचारधारा से हमारा युग-पुरुष बहुत समय तक प्रभावित रहा होगा।

कबीर ने सम्पूर्ण सामाजिक कुरीतियों को जड़
ज के रूप से निष्काशित करने का भरपूर प्रयत्न किया था। उनके उपदेशों से
समाज में जागरूकता उत्पन्न हुई थी, समस्त समाज जन-चेतना से प्रस्फुरित हो
उठा था।



धर्म में अभिव्यक्त जन-चेतना

धर्म का स्वस्व बहुत व्यापक है। उसकी इस विशेषण के कारण ही बड़े बड़े विद्वान् उसका कोई ऐसा स्वस्व निर्धारित नहीं कर सकते हैं जो सर्वमान्य हो, यही कारण है कि धर्म की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं उपलब्ध होती है।

धर्म का साधारण पदा देशकाल और व्यक्ति की सीमा के परे होता है। वह सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक होता है। इसके विपरीत धर्म का विशेष पदा देशकाल और व्यक्ति की सीमाओं में बंधा रहता है। विविध कलाएँ, विविध जातियाँ और विविध देशों के धर्मों में जो अन्तर हमें दिसाई पड़ता है। उसका कारण धर्म का विशेष स्वस्व ही है।

अम्भोस्ताधर्मिक विचार किया जाय तो हमें धर्म के निम्नलिखित प्रमुख पदा दिसाई पड़ते हैं :

- १- विचार पदा
- २- वाच्य पदा
- ३- साधना और उपासना पदा
- ४- पुराण और विश्वास पदा

१- विचारपदा

इसके अन्तर्गत धर्म का दर्शन पदा आता है। दर्शन धर्म की वाधारभूति है। इस वाधारभूति के बिना धर्म विधि निरीधी

का एक समूह मात्र रह जाता है। इसका पालन केवल मय के द्वारा ही किया जाता है। उनके पालन में बन्धानुसरण की प्रवृत्ति प्रधान रहती है। इस्लाम ऐसा ही धर्म है बिना रसना के अतर्गत धर्म के सभी दार्शनिक और वाक्यात्मक तत्त्व जाते हैं। यही तत्त्व इस धर्म के आधारभूत होते हैं।

२- बाजारपेदा

बाजारपेदा धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। मानव समाज को नियन्त्रित करने वाला यही तत्त्व है। जिस धर्म में यह तत्त्व नहीं होती। वह केवल पुस्तकों और पीढ़े से विद्वानों तक सीमित होकर रह जाता है।

३- साधना उपासना और पूजा पक्ष

मीमांसा प्राप्ति की प्रयत्न पद्धति की साधना, उस प्रयत्न पद्धति के आन्तरिक समर्पण की उपासना और बाह्य उपकारों की पूजा कहते हैं। यह धर्म का आवश्यक कोण है।

४- विश्वास और पुराण पक्ष

प्रत्येक धर्म का एक कोण ऐसा होता है जो सामान्य बुद्धि के लोगों को प्रभावित करने में समर्थ हो वह पक्ष ही विश्वास और पुराणपक्ष है। धर्म इन्हीं चारों पक्षों का समन्वयात्मक रूप है। कबीर की दृष्टि में धर्म को आधाररहित दया भाव है, दया और धर्म एक दूसरे के पूरक और पर्यायवाची हैं। इसी से समाज कल्याण पथ पर अग्रसर होता है।

धर्म सदैव ही इस बात की प्रेरणा देता है कि अपना कर्तव्य करो, संसार में बाधित न हो, धर्म का स्वरूप है 'परीकारः पुण्याय' परस्पर एक दूसरे का उफार ही उन्नति का कारण होता है।

संत कबीर की धर्म विचार्य धारणा बड़ी व्यापक और उदार है। सन्तों का दृष्टिकोण लोकोपता से परिणत है। वे अपनी युग के सबसे बड़े क्रान्तिकारी और सुधारक थे। रुढ़ियों और परम्पराओं की समस्त शृंखलाओं को खंडित करके उन्होंने नवीन आदर्शों, अभिनव मान्यताओं, नये नये प्रतिमानों एवं मानदण्डों की स्थापना की। उनकी दृष्टि सदैव व्यापक समाज की ओर केन्द्रीभूत रहती थी। वे व्यक्ति और समष्टि के समान रूप से शुभचिन्तक थे। इसीलिए शोषण, कानाचार, दुराचार और भ्रष्टाचार के बाधों पर तिष्ठित समाज में आवश्यक सुधार करके, उसे अपने योग्य या कल्याणकारी कहलाने योग्य बनाने के लिए उन्होंने अनेक परिश्रम किया।

कबीर ने अपनी युग समाज और धर्म के समस्त दोषों को दूर करके नवीन आदर्शों की स्थापना करने का प्रयत्न किया और इस दृष्टि से वे सकलभूत में हुए। हरखो रताबदी से कठारखो रताबदी तक का समय बतुर्विक विनाश का युग था। इस समय मानवता का हर प्रकार से अक्षय्य हो गया था, समाज भ्रष्टाचार का केन्द्र बिन्दु बन गया था।

धर्म बाह्याचार, बाह्याहम्बर और दुराचार के प्रसार का साधन बन गया था, हिन्दू और मुसलमान धर्म के वास्तविक रूप से अभिन्न होकर 'तकीर के फकीर' हो रहे थे। उनमें विकेक, बुद्धि का पूर्णतया अभाव था। प्रतिपूजा, बलि, चन्दन, माला, जप, तप, काया, कष्ट नमाज, रीजा आदि ने धर्म के सत्य स्वरूप की अपनी सामयिक रूप में आकाश दित

करता था। इसीलिए यह नितान्त आवश्यक था कि जनता को धर्म के वास्तविक रूप से परिचित कराया जाय। जनता का धर्म के सत्य, सत्य और वास्तविक रूप से परिचित कराने का यह कार्य हिन्दी के फ्यूजुनि सेंट कविजी द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने प्राचीन कवियों की निष्ट करके नई परम्पराओं और मान्यताओं को जन्म दिया।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ब्रह्म की सत्ता मन्दिर, मस्जिद और शिवालय तक ही नहीं सीमित है। वह निःसीम है और संसार के कण कण में व्याप्त है, उसे लीजने के लिए ब्रह्मिणीय, केदारनाथ जाने की आवश्यकता नहीं है, वह तो वात्मा में ही रमा हुआ है, इसीलिए वात्मा की पहचानने की आवश्यकता है, जिसने वात्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया है। ब्रह्म सब जगहों में रमा है। कतः मनुष्य को किसी के प्रति द्वेष या हिंसा करना बुद्धिभंगत नहीं है।

कबोर के कुम्भ के आधार पर कहा है कि परम्परागत धर्म और पूजा पाठ नितान्त प्रमादशायित है, पंडित और पीतलो माया के धरे हैं। कतः बुद्धिमान, विक्रमान और जानबान् वह है, जो इस प्रकार के 'गुह्यका सा लेख' में न लगे और सत्य धर्म में कुरूप होकर मानवता के बृहत्तर वासन पर प्रतिष्ठित होकर देवत्व को और क़सूर हो। जब तक मानव प्रेम, दया, सफ़ा, सत्य, निष्कामता, बहिष्ता, दामा, विश्व-बन्धुत्व, बीकार्य और समृद्धि में कुरूप नहीं होगा, तब तक वह निराशु ही बना रहेगा। मनुष्यता ही सुख की जननी है। कतः इस प्रकार की उदात्त भावनाओं की हृदय में धारण करके मनुष्य न केवल स्वतः सुखी होगा वरन् बलित समाज की लानान्वित और प्रकाशित करेगा। जीवन बहो है जिससे समाज उन्नत हो सके, मनुष्य बहो है जो अपनी व्यक्तित्व के माध्यम से दूसरों

को सही मार्ग पर अग्रसर कर सके, तभी उसका जीवन सार्थक होना । इसीलिए सन्तों ने व्यापक धर्म का उपदेश देकर असीम और समाज का पय- प्रवर्तन किया ।

सन्त कबीर के व्यापक धर्म का सर्वप्रथम सिद्धान्त या आवश्यक तत्त्व है "प्रेम" । प्रेम हृदय जगत् का व्यापार है। प्रेम हृदय से होता है। अतः मस्तिष्क से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हृदय जगत् के इस उदात्त व्यापार में कोई तर्क वितर्क और दबाव नहीं है। प्रेम हृदय से होता है । अतः इसके लिए किसी को विवश नहीं किया जा सकता है। प्रेम का सत्य होता है प्रेम और झूठ नहीं ।

हिन्दुओं के निर्गुण सन्त कवियों ने प्रेम को जीवन को उच्चतम और बड़ी ही उदात्त अनुभूति माना है, सन्तों की दृष्टि में प्रेम धर्म का मुख्य अंग है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है-

“पीयो पदि पदि जग मुखा , पीडित भया न कोय ।

ढाई वासर प्रेम का पद सो पीडित होय ॥”

कबीर का दृढ़ विश्वास था कि प्रेम का मार्ग अत्यन्त सीधा है। उसमें दी भावना के लिए अवकाश नहीं है। सत्य सन्तों के व्यापक धर्म का एक आवश्यक अंग है। सत्यको इन सन्त कवियों ने ब्रह्म का ही स्वरूप माना है।

कबीर के मतानुसार सत्य ही परम तप, परम पुण्य और स्वर्ग परब्रह्म का प्रतीक है । यथा-

“साच बराबर तप नहीं, कूठ बराबर पाप ।

जाके हिरदे साच है, ताके हिरदे वाप ॥”

उनिजदों में भी बार बार यही कहा गया है कि सत्य से श्रेष्ठ ज्ञान एवं धर्म इसलिये ही नहीं है। झूठ के समान अन्य पाप नहीं है। अतः सत्य का वाचरण ही एकमात्र कल्याणकारी तत्त्व है। निर्गुण सन्त कवियों ने ब्रह्म तक पहुँचने या स्वात्मकता स्थापित करने के लिये मार्ग बताया है। जिनमें सुगम एवं दुर्गम पथ हैं। यदि काशं सुगम पथ पर चलने से छिद्र हो जाये तो दुःख पथ पर चलने की आवश्यकता ही क्या है। सरल मार्ग पर अग्रसर होने से साधना अधिकालिनी लोक प्रिय होती।

इन सन्त कवियों ने बताया कि जब सत्य एवं ब्रह्म पर्याय हो है फिर बाह्याह्वयों की क्या आवश्यकता है, ब्रह्म स्वतः सत्य है और सत्यप्रिय है। जीवन में सत्य का व्यवहार करने वाला मानव, उस सवा-बार वह वाचरण मात्र से ब्रह्म के निकट पहुँच जाता है।

उस समयके बाह्याह्वयों से पीड़ित जनता की कबोर में सत्य का जलुष कराया। पीड़ित, मुस्ता, एवं काजी जो कि केवल शोचण में तत्पर रहते हैं, उनके अधिष्ठाय सत्यवादी व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं कर सकते हैं। यथा-

“ सचि स्त्राप न लागई, सचि काल न लाय ।

सचि की सचि मिले, सचि माहि सपाय ॥ ” १

जब सत्य ब्रह्म के समुक्त ही महान् एवं पवित्र है तो सत्य का सेवा कभी भी तर्फी से व्यक्ति नहीं हो सकता है, जब हम

सत्य की ब्रह्म का पर्याय ही मान लेते हैं फिर सत्य की आत्मसात् करनेवाला स्वयं ब्रह्म का स्वल्प कस्ताने का अधिकारी है।

धर्म का वास्तविक अर्थ यही है कि प्रत्येक इस संसार में अपने कार्य की पूर्णतया करे, परन्तु उसमें बाधित न हो और न फल की ही कामना करे, इन बातों के युग में हिन्दू एवं मुसलमान की धर्म प्रवृत्ति थे। परन्तु दोनों ही धर्मों में शिक्षावादी समावृष्टि हो गई थी। दोनों ही धर्मावलम्बियों के हृदयस्थ भेदभाव की खीणता की भी दूर करने का प्रयत्न किया उनका धर्म व्यापक था। धर्म के नाम पर होने वाले जाकार एवं दुराचारों के लिए इस व्यापक धर्म की कोई भी स्थान नहीं था। साधना का जो मार्ग निर्गुण सन्त कवियों ने प्रदर्शित किया था वही सबसे अधिक कल्याणप्रद था तथा समय की मार्ग की भी प्रेरक करता था।

✓ दर्शन में अभिप्रेत जन-चेतना

दर्शन के लिए तत्त्व ज्ञान शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। दर्शन का अर्थ है "देखना" या "विचारना"। यह हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। भारत में तत्त्व ज्ञान का प्रयोग एक बड़ी महत्वपूर्ण समस्या की सुलझाने के लिए होता है, और समस्या है द्विविध ताप से संतप्त जनता के अस्तेयों की आत्यन्तिक निवृत्ति। दिन प्रतिदिन दुःखों की एक विशाल राशि प्राणियों की सतत व्याकुल और बेचैन बनाये रखती है। इससे मुक्तिकार पाने के उपायों की खोजना तत्त्व ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। इसीलिए दर्शन का धर्म के साथ भारतभूमि पर इतना घनिष्ठ प्ले पिताप है विचार तथा वाचार का गम्भीर सम्पर्क भारतवर्ष में सदैव दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विचार की आधार

विज्ञान के बिना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है और धार्मिक जागृता के रूप में कार्यरहित किये बिना दर्शन की स्थिति निष्फल है। इस प्रकार धर्म के साथ सामंजस्य रखता भारतीय दर्शन की महती विशिष्टता है।^१ कबीर ने अपने लिए जिस धर्म को चुना था वजह उन्हींने जिस धर्म का उपदेश दिया था, उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा नहीं की या सकती, किन्तु उसमें विविध दार्शनिक विचारों को ऐसी लिपि है जिसकी किसी एक दार्शनिक धारा के अन्तर्गत रखा सम्भव नहीं है।

यह कल्पे की आवश्यकता नहीं की कबीर पर किसी भी भारतीय दर्शन का प्रभाव नहीं है। सुफियों के सम्पर्क से उनको वाणी पर इस्लाम के जिस प्रभाव की संभावना थी। उसकी स्थिति भी भारतीय दर्शन से अलग है।

भारतीय दर्शन की दो धाराओं में देता जाना है। वास्तविक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। वास्तविक धारा के अन्तर्गत ६: दर्शनों की प्रसूता प्राप्त है :

- १- न्याय
- २- वैशेषिक
- ३- सांख्य
- ४- योग
- ५- मीमांसा और
- ६- वेदान्त

इन दर्शनों की भिन्नता अधिकारी भेद से

है परन्तु कुछ सामान्य सिद्धान्त प्रत्येक दर्शन ने समान भाव से स्वीकार किये हैं ।

इन दर्शनों के उदय का सम्बन्ध उपनिषदों के अन्तर प्रसिद्ध युग के साथ है। उपनिषद्कालीन तत्त्वज्ञान का मूलभूत मंत्र है । 'तत्त्वमसि' महाकाव्य विषये उणिषदों ने जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध की है । इस महावाक्य को समझा करने के लिए अतिसर दर्शनों की उत्पत्ति हुई । कुछ दार्शनिक लोग कहते हैं कि जीव तथा ब्रह्म (पुरुष तथा प्रकृति) के परस्पर विभिन्न गुणों को न जानने से संसार है और प्रकृति पुरुष के स्वभाव की भली भाँति जानने पर ही 'तत्' और 'त्वम्' की एकता सिद्ध हो सकती है। इस ज्ञान का नाम है, 'सम्बन्ध' त्याति (विवेक ज्ञान) या साँत्य । यह अतीतिक साक्षात्कार का, परन्तु इतने से कार्य सिद्धि न होती देखकर व्यावहारिक साक्षात्कार की आवश्यकता प्रतीतहुँ और इसके लिए योग का उदय हुआ । 'साँत्य योग' एक ही तात्त्विक विचारधारा के दो रूप होते हैं- 'साँत्य योग' एक ही तात्त्विक विचारधारा के दो रूप होते हैं- सिद्धान्त पक्ष का नाम है और साँत्य और व्यवहार पक्ष का नाम है योग । अन्य दार्शनिकों ने ब्रह्म और ब्रह्म के गुणों (विशेष) की ज्ञानबीन करना आवश्यक समझा । इस प्रकार आत्मा और ज्ञात्मा के गुणों की विवेचना करने से 'वैशेषिक दर्शन' की उत्पत्ति हुई, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तर्कों की भी एक निश्चित प्रणाली की आवश्यकता होती है और इसकी प्रति करने के लिए 'न्याय दर्शन' का उदय हुआ । परन्तु न्याय में तर्कों के ऊपर इतना बाग्रह है कि विचारकों की यह धारणा जमाते देर न लगी कि

केवल शुष्क तर्क की सहायता से 'वात्म तत्त्व' का वातात्कार ही नहीं सकता, कतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी तथा प्राप्तः वैदिक कर्मकाण्ड को विवेचना आरम्भ कर दी, जिसका फल हुआ 'कर्म मीमांसा' का उदय, परन्तु मानवी की आध्यात्मिक भावना केवल कर्म के कृच्छान से तृप्त न हो सकी और इसीलिए वेदों के ज्ञान काँठ की भी मीमांसा होने लगी, जिससे 'वेदान्त' का जन्म हुआ। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महाकाव्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए ऋद्धर्तर्तों की उत्पत्ति उक्त क्रम से निश्चय्य हुई।

धार्मान्त सिद्धान्त

उक्त ऋद्धर्तर्तों में भेद होते हुए भी कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो एकमत प्रदर्शित करते हैं और वे हैं :

- १- नैतिक व्यवस्था में विश्वास
- २- कर्म सिद्धान्त
- ३- बन्धन का कारण
- ४- मोक्ष
- ५- मोक्ष का उपाय तथा
- ६- कारण कार्य की मीमांसा।

१- नैतिक व्यवस्था में विश्वास

भारतीय ऋषियों की यह विशेषणा है

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रथम भाग पृ० ४६४

कि इस अव्यवस्थित होने वाले जगत् के भीतर एक मौलिक व्यवस्था है जिसकी 'ऋत' नाम से अभिहित किया गया है। सबसे पहले उत्पन्न होने वाले तत्त्व यही ऋत है। ऋग्वेद के एक मंत्र में सत्य, से भी पहले 'ऋत' की उत्पत्ति बताया गया है। भारतीय दार्शनिकों ने 'ऋत' के सिद्धान्त की विभिन्न विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। न्याय वैशेषिक में 'ऋत' , 'ऋत' है ।

२- कर्म सिद्धान्त

जगत् की नैतिक व्यवस्था का मूल कारण कर्म का सिद्धान्त है। वर्तमान वस्तु के लिए स्वयं उत्तरदायी है। हम जो कर्म करते हैं। उसका फल हमें अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म और फल दोनों का कारण कार्य सम्बन्ध निश्चित है। इस सिद्धान्त के परिवेश में यदृच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है और न अपनी वर्तमान वस्तु के लिए कोई किसी पर दोषारोपण कर सकता है।

३- बन्धन का कारण

संसार में समस्त बन्धनों का समावेश कारण 'अविद्या' है । इसी से जगत् में प्राणिमात्र का जन्म मरण हुआ करता है। 'अविद्या' के रूप में के विषय में दार्शनिकों में मतभेद नहीं है। योग सूत्रों के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अज्ञान की क्रमशः नित्य शुचि, सुख तथा ज्ञान मान बैठना 'अविद्या' है यही समस्त वस्तुओं- अस्मिता,

१- अनित्याशुचि दुःखानात्म्यं नित्य शुचि सुखात्म्यसिद्धि विद्या ॥

- योगसूत्र ६. ५ (आनन्दब्रह्मण्यं ज्ञानं)

राग- देव तथा अपिनिवेश का कारण है।^१

४- मोक्ष

धर्मादि चार गुरुभार्या में से अंतिम मोक्ष है, जिसकी सत्ता में प्रत्येक दर्शन की विश्वास है। मोक्ष नितान्त दुरत्य वाच्य नहीं है, जो इस जन्म में साध्य न हो सके। मानव जीवन का सत्य परोक्ष में दुःख की निवृत्ति न होकर जीति जो इस देश में उस वादों की सिद्ध करने में है। जीवन-सुखित का वादों उपनिषद् की बहुमूल्य वेद है जिसे वेदान्त पूर्णतया मानता है। कठोपनिषद् ने स्पष्ट तर्कों में प्रतिपादित किया है कि जब कृष्य में रहने वाली समग्र कामनाओं का नाश छोड़ ही जाता है। तब मनुष्य अमरत्व की प्राप्ति करता है और यही (क्यात् उसी शरीर में) उसे ब्रह्म की उपलब्धि ही जाती है।

वेङ्कटभट्ट दर्शनों की वास्था, जीवन-सुखित की शोधकर 'विदेश सुखित' में है, तथापि उनके मत में भी ज्ञानी ऐसी उन्नत स्थिति पर पहुँच जाता है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कीटि से ऊपर उठकर उन्नत परमार्थ कीटि तक पहुँच जाता है।

५- मोक्ष का उपलब्ध

यह भारतीय दर्शन का चरम सिद्धान्त है कि

१- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास - प्रथम भाग पृ० ४६५

२- कठोपनिषद् २-३-१४

३- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास प्रथम भाग पृ० ४६५

ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञान ही मुक्ति का एक मात्र साधन है, सभी दर्शनों ने यह माना है कि अविद्या बन्धन का मूल कारण है, अतः उसी कारण निवृत्ति बिना या ज्ञान के अभाव में दूसरे साधन से नहीं हो सकती। किन्तु ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप अपेक्षित है। अतः भारतीय दर्शन को प्रत्येक धारा में वाच्यता की सीमा का प्रमुख स्थान है, अथवा और मन के बाद निर्विद्यात्मक आत्म साक्षात्कार की प्रमुख सीमा है। परम मंगल साधने का मार्ग वास्तव में 'श्रेय मार्ग' ही है। परन्तु इस पर चलने के लिए आत्म संयम तथा अतिशय शुद्धि की निरन्तर आवश्यकता है फलतः योग के अष्टविध अंगों का उपयोग प्रत्येक भारतीय दर्शन ने किया है।

६- कारण-कार्य की सीमा

कारण कार्य की विवेचना प्रत्येक दर्शन में हुई है, किन्तु कुछ की मान्यताएँ पूर्ण-पूर्ण हैं, कुछ दर्शनों के अनुसार कार्य कारण से भिन्न एवं एक स्वतन्त्र सत्ता है। कारण व्यापार के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है। परमाणुओं से ही वस्तु की उत्पत्ति होती है, जिसमें ईश्वर की इच्छा प्रबल मानी जाती है। इस सिद्धान्त का नाम है 'कारण-वाद' जिसके अनुसार कार्य कारण की अपेक्षा नहीं अधिक होता है। न्याय वैशेषिक तथा कर्म सीमा इसी सिद्धान्त के मानने वाले दर्शन हैं।

दूसरे दर्शनों के अनुसार कार्य कारण व्यापार से पहले ही कारण में विद्यमान रहता है। वह कारण में अव्यक्त रूप से व्यक्त बनाया जाता है। पड़ा फिट्टो में स्वतः वर्तमान रहता है, परन्तु वह अव्यक्त

१- पं० बलदेव उपाध्याय- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास प्रथम भाग

रूप में हो रहता है। कृष्णार अपने साधन तथा व्यापार से मिट्टी से व्यवस्त
छे की व्यवस्त बना देता है। इस सिद्धान्त का नाम है परिणामवाद। सांख्य
योग तथा रामानुज, आदि के वैष्णव दर्शनों का यही मत है।

कारण कार्य के सम्बन्ध में एक तोसरा मत और
है। इसी अनुसार वस्तुतः कारण ही सत्य है और कार्य उसकी कार्त्तिक तथा
वस्तुतः अपिच्यवित है। इस जगत् का कारण एक ब्रह्म की एक मात्र सत्य वस्तु
सत्ता है। तथा उससे उत्पन्न यह जगत् स्वयम् भिन्ना है तथा पाया के द्वारा
निर्मित होने से नितान्त मायिक है। इस मत का नाम है 'विवर्तवाद' और
यह वदंतवाद का विशिष्ट मत है। 'परिणाम' तथा 'विवर्त' का पर-
स्पर भेद नितान्त स्पष्ट है। वास्तविक परिवर्तन को 'विवर्त' कहते हैं। यही
दूध का विकार है, परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और वही सत्ता
एक प्रकार की है परन्तु रज्जु और सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की
सत्ता कार्त्तिक है। परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है। विवर्त की ही
व्याख्या करते हैं।

दर्शन के उभय इहाँ सामान्य सिद्धान्तों में
कबीर की वास्ता है। यह दूसरी बात है कि कबीर ने 'स्त', 'विवर्त',
'व्यास', 'निदिव्यास' आदि नामों का उपयोग नहीं किया है, किन्तु
'कबीर वाणी' का श्रोत हमें मिल जाता है। गान्धेय में जिस 'स्त' की
बात कही गयी है। वही न्याय वैशेषिक में 'कृष्ट' तथा 'कर्म वीमर्षा'
में 'कर्म' वविषा प्राप्त कर लेता है। कबीर कहने में हिचकिचाते इसलिए
हैं कि वह 'कर्म' कर्मयोग है।

१- हिन्दी साहित्य का वृक्ष इतिहास- पी० बलदेव उपाध्याय प्रथम भाग पृ०

४६६

२- उपरिष्ठ

..

पृ० ४६६

“ ऐसा कद्भुत विनि कये, कद्भुत रासि सुनाय ।

वेद कुरानीं नयि नहीं, कह्यां न की पतियाह ॥ ”

इस कद्भुत की कबीर ‘ सत्य ’ से अभिन्न मानते हैं। सत्य टिकाऊ है, कृत्रिम है। दृश्य या कृत्रिम कृत्रिम कद्भुत सत्य का क्वाकृत रूप है। सत्य की स्थिति पर विचार करते हुए कबीर कहते हैं।

कबीर बाणी के दार्शनिक सीतों में ‘ कर्म-सिद्धान्त ’ कहा ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जो जैसा करेगा, वैसा फल पायेगा । यह कहकर कबीर ने कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । कर्म के दो रूप मानते हुए कबीर उन्हें ‘ पाप ’ और ‘ पुण्य ’ नाम से अभिहित करते हैं। बीजाक्षर के रूप में ‘ पाप पुण्य ’ बनते बिगड़ते रहते हैं। कर्म के कारण ही जन्म मरण होता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने कर्म सिद्धान्त को स्वीकार किया है। बौद्ध और जैन दर्शनों में भी कर्म सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित है। इस प्रकार ‘ चापाक्षु मत्त ’ की झोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों ने ‘ कर्म सिद्धान्तों ’ को लगभग एक ही प्रकार से स्वीकारा है । इस सिद्धान्त की गीता ने भी प्रतिष्ठित किया है। जहाँ जहाँ सदाचार की महिमा निरूपित की गयी है, वहाँ वहाँ ‘ कर्म सिद्धान्त ’ प्रतिष्ठित हुआ है। ‘ वाचागमन ’ की धुमिका भी ‘ कर्म सिद्धान्त ’ पर बनी है। संत परम्परा में ‘ वाचरण ’ पर बहुत बल दिया गया है । उसे नियन्त्रित करने के लिए ‘ कर्म फल ’ और उसके ‘ योग ’ का निर्देश करके भारतीय दर्शन ने नैतिक व्यवस्था के लिए बड़ी सुन्दर योजना प्रस्तुत की है। कबीर व्यक्ति को सामाजिक वाचरण की भी शिक्षा देते हैं और व्यक्तिगत वाचरण को भी । बपौ मूल रूप में वे दोनों भिन्न नहीं हैं। दोनों का प्रेरणा-स्रोत भी वन्तःकरण ही है। बपौ हुए वाचरण का निर्देश वन्तःकरण को निर्मलता वनिर्मलता पर निर्भर है।

स्त्रीसिंह कबीर कम्पनी और कम्पनी के साम-
वस्य का निर्देश करते हैं। कबीर के दर्शन में यही जनकतन्त्रा सर्वत्र व्याप्त है।

संस्कृति की अभिव्यक्ति जन- जैतना

‘संस्कृति’ शब्द का मूल अर्थ है (संस्कृ कृति) इसका सम्बन्ध संस्कार या संस्करण से है, जिसका अभिप्राय शुद्धि, सुधार, उत्थान, परिमार्जन होता है। संस्कार व्यक्ति की तरह समाज के भी होते हैं, अतः मानव समाज के सांस्कृतिक और पारसांस्कृतिक कार्य व्यापार की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए सर्वांगीण जीवन का निर्माण कही है, यही संस्कार या संस्कृति कहे जाते हैं। संस्कृति किसी भी देश वाति या समाज की वात्सा होती है। इसमें उस विशेष वाति देश या समाज के चिन्तन मन, वाचन-विचार, रत्न सदन, बोली, भाषा, वेशभूषा, कला कौशल वादि सभी तत्त्वों का समावेश होता है। आधुनिक अर्थ में कृषिों के कल्चर शब्द से इसे अनुवाद माना गया परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हमें संस्कृति के अर्थ की व्यापकता (कल्चर) में प्राप्त नहीं होती। कल्चर शब्द की उत्पत्ति लैटिन धातु कोलेर से निष्पन्न ‘कृस्टुरा’ शब्द से हुई है जो ‘पूजा करना’ तथा कृषि सम्बन्धी कार्यों का चेतन हुआ करता था। जिस प्रकार कृषि को भूमि विभिन्न पद्धतियों द्वारा परिष्कृत की जाती है तथा रोड़े हटाकर और घास फूस आदि हटाकर भूमि को शुद्ध कर उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ाई जाती है उसी भाँति मानव की मानसिक और सामाजिक अवस्था में भी विकसित हुआ करता है। अतः इस अवस्था की विकसित करने में जो पद्धति काम में लाई जाती है उसे ‘संस्कृति’ कहते हैं। विद्वानों ने ‘संस्कृति’ की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ दी हैं :

हं० बी० टाडसर ने संस्कृति की उन विशेष
विश्वासों, रीति रिवाजों आदि से सम्बन्धित माना है जो लोक मानस
और मौखिक परम्पराओं के द्वारा आदिकाल से ही बली जा रही हैं।

डा० एस० राधाकृष्णन् के शब्दों में -
"संस्कृति विवेक, बुद्धि का जीवन की भवेत्प्रकार से जान लेने का नाम है।"^२

यह विचार भी हमारे समक्ष उपस्थित होता
है कि "संस्कृति वह अटल समस्या है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता,
श्रद्धा तथा अन्य योग्यताएँ और भावों सम्मिलित होती हैं। जिनकी मनुष्य
समाज के सदस्य के स्वयं प्राप्त करता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार
"संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।"^३

डा० सम्पूर्णानन्द के मतानुसार -
"संस्कृति वर्तमान क्षुब्धतियों एवं पुरातन क्षुब्धतियों के संस्कारों से निर्मित किसी
समुदाय के दृष्टिकोण में निश्चित है।"^४

१-

२- स्वतन्त्रता और संस्कृति - विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी पृ० ५३

३- पौण्ड्रो पाठ - सिद्धा के सामान्य सिद्धान्त पृ० ८०

४- अतीत के कृत- पृ० ६०

५- हिन्दू संस्कृति - डॉ० (कल्याण) पृ० ७०

डा० रामधारी सिंह दिग्गर, 'संस्कृति
 को जीवन का तरीका मानते हैं और उन्हीं के शब्दों में यह तरीका बना होकर
 उस समाज में डाला रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।'

इन विचार मन्तव्यों के अध्ययन के उपरान्त
 परिभाषाओं पर संस्कृति के विषय में हम यह सोच सकते हैं कि व्यक्ति की
 संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति है तथा वर्ग की संस्कृति सम्पूर्ण समाज की
 संस्कृति से प्रभावित होती है।

वाज के युग में 'संस्कृति' पर विचार
 की प्रवृत्ति में एक लम्बी, युगों-युगों की परम्परा भी मौजूद है और हर
 युग में संस्कृति को मान्यताएं बदलती रहती हैं। भारतीय संदर्भ में तो यह
 सच्चाई और भी कटु है। भारत का इतिहास लगभग पचास सौ वर्षों से विदेशी
 आक्रमणों का इतिहास है और संस्कृतिक के नाम पर आज हमारे पास जो
 कुछ भण्डार मौजूद है वह मिश्रित संस्कृतियों की विरासत है। इस विरासत ने
 हमारे सोचने के तरीकों में भी गहरी उत्पत्ति की है, कौटुम्बिक या सामा-
 जिक संस्कृति बान की प्राचीन वर्गों के अस्तित्व के अनुसार ही संस्कृति की
 परिभाषा बदल गयी है। एक परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकती है,
 वर्गीय जीवन में परिस्थितियों के अनुसार ग्रहण होने वाले तमाम माध्यम
 संस्कृति के अन्तर्गत हो जाने जा रहे हैं।

संस्कृतिक जन-चेतना की दृष्टि से कबोर
 काव्य का प्रत्येक नही है। संस्कृतिक चेतना कबो संस्कृति के अन्तर्गत प्रायः

 १- संस्कृति के चार अध्याय पृ० ६५३

विद्वानों ने दो अवस्थाओं की बातें की हैं। एक का सम्बन्ध स्थानीय तथा मानवीय विकास से है। यद्यपि दोनों अवस्थाएँ ही एक दूसरे की प्रेरक हैं। संसार की जातियाँ अपना राष्ट्रीय ने कतिपय विशेषताओं की वजह से इस रूप में ग्रहण किया है कि वे अपनी भौतिक गुणों की रीति उद्भावित हो चुकी हैं। संस्कृति का दृष्टि से मानव को संरक्ष, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए प्रयत्नशील है। किसी भी देश की संस्कृति का विकास उस देश के धर्म, दर्शन और साहित्य के द्वारा हो रहा है। यह प्रायः सर्वमान्य बात है।

संस्कृति की उपलब्धियों की बातें की यहाँ आवश्यकता नहीं है। द्रष्टव्य केवल यही है कि कबो-काल में संस्कृति में केतना स्वजागृता अपनी सांस्कृतिक परम्परा की विस्तृत प्रवृत्ति में पल्लवित हुआ है।

बौद्ध मत के आस के पश्चात् भारतीय चिन्तन धारा में जिस नायकीय लठायी साधना का प्रादुर्भाव हुआ, मध्य युग में उसका रूप योगी सम्प्रदाय की प्राचीन परम्परा और सैव मतवाद की लोकप्रिय भावना की रीति हो गठित हुआ है। वस्तुतः मध्ययुग में भारतीय संस्कृति का विकास परस्पर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों की रीति हो रहा है। भारतीय वर्णान्तर व्यवस्था की व्यवस्था कर जिस वर्ण चिन्तन का सुप्रपात बौद्धों और अन्य ब्राह्मण सम्प्रदायों द्वारा किया गया है, उसका विकास निरन्तर होता

१- " किसी देश की संस्कृति अपनी की धर्म, दार्शनिक चिन्तन, कविता, संगीत और कला शासन प्रबन्ध आदि के रूप में अभिव्यक्त होती है। "

- डा० सत्यकिशु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, आरम्भिक शब्द

रहा है। मध्ययुग में नाथपंथ की सांस्कृतिक चेतना इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय वाङ्मयात्मकता से पूर्णतया भिन्न होती है। संत कबीर का काव्य भी नाथपंथ का परवर्ती काव्य है। सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से इस विचार कक्षा वाङ्मय-विचार उसकी मुख्य विशेषता है। यह वाङ्मय विचार की भावना स्पष्ट है कि उसे नाथपंथ से मिली। यही पर बौद्ध चिन्तन की प्रकृति का स्पष्ट बोध होता है।

डा० रामकृष्ण वर्मा का मत है कि 'गीत-नाथ ने नाथ सम्प्रदाय के जिस वाङ्मयीन की जन्म दिया वह भारतीय साहित्य की दृष्टि से सर्वथा अनुसृत सिद्ध हुआ।'^१

सभी उन्मत्त कवियों में प्रसूत कबीर ने उसी मुख्य साहित्य की आधार मान संपूर्ण स्थान की व्यवस्था की चुनौती दी, फिर भी वह लोक जीवन में जादर पाता गया। कबीर काव्य इस दृष्टि से नाथपंथी सांस्कृतिक का कक्षा चरण माना जाय तो व्युत्पन्न न होगी। नाथ पंथ ने केवल संतों को विचारधारा की ही स्थापित नहीं किया, मध्ययुग का संपूर्ण तत्त्व चिन्तन नाथपंथ के प्रभाव से प्रभावित था।

कबीर काव्य की सांस्कृतिक परम्परा इस रूप में नाथपंथ से पूर्णतया सम्बद्ध मानी जायेगी।

भक्ति के वाङ्मयीन के फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस भावधारा का विकास हुआ उसके परिपुष्ट होने की प्रक्रिया में इस्लाम का आक्रमण तथा हिन्दू चिन्तनधारा की भक्ति विह्वल भावना प्रसूत है। पन्द्रहवीं शताब्दी की सांस्कृतिक उत्तम पुस्तक वस्तुतः प्रभाव साधक्य

१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ११७

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४५, ४६, ४४, ४२

३- हिन्दी साहित्य- सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृ० ३५

४- हिन्दी साहित्य की भूमिका - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २

ही नहीं मानी जा सकती, यद्यपि परम्परा रूप में बली जाने वाली भारतीय संस्कृति की यह धारा उस काल में बाहर जिस रूप में सुतरा हुआ उसके पूर्व उसका यह रूप नहीं मिलता, इस्लाम का इस रूप में आक्रमण भारत के लिए अभूतपूर्व घटना थी। राजनीतिक आक्रमण का प्रमुख प्रत्यक्ष जोर पर पड़ता ही है, इसमें दो मत नहीं हो सकते किन्तु कबीर काव्य के रूप में भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की यह परिस्थिति प्राचीन और नवीन दोनों के सामंजस्य का परिणाम है। कबीर में प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन सभी कों का व्यावहारिक रूप उपलब्ध है जिसका कारण संतों की समन्वयशील दृष्टि ही मानी जायेगी। संत नाथपंथियों से कम कठोर एवं लोकजीवन के अधिक निकट है। वस्तुतः हम सांस्कृतिक चेतना के साथ उपकरण पाते हैं, जिनके आधार पर राष्ट्रीय संस्कृति का बोधोपार्जन होता है तथा विश्व संस्कृति का पुष्प खिलता है।

नाथपंथ का यह भाव तथा उसके विश्वास केवल कबीर काव्य पर ही नहीं है, अपितु प्रायः सभी संतों ने उन्हीं विश्वासों को भक्ति के माध्यम से प्रत्यक्षित कर स्वीकार तथा वस्वीकार किया है। भक्ति आन्दोलन के परिणाम स्वरूप नवीन दृष्टिकोण की अपनी आत्म विचार की साधना से सम्बन्धित भी किया है। भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा का कतिपय क्रूरणों में विरोध करते हुए भी वे उसके मर्म से सर्वत्र परिचित रहे प्रतीत होते हैं।

कबीर के चिन्तन के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही भारतीय जीवन में निम्नलिखित प्रवृत्तियों का उन्मेषण हुआ प्रतीत होता है, जिन्हें हम सांस्कृतिक चेतना या उपलब्धियाँ भी कह सकते हैं।

१- सत्य के प्रति आग्रह

२- वाध्यात्मिक चिन्तन की प्रसुता तथा ऐहिक सुखों के प्रति विरहित ।

३- व्यभिचरित साधना का महत्त्व तथा सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता ।

४- भेदभाव के प्रति वासीष्णात्मक दृष्टिकोण ।

५- समन्वय के लिए प्रयत्न ।

उपर्युक्त इन उपसूचियों के विरहित संतों ने भारतीय संस्कृति के कुछ प्राचीन तत्त्वों को ज्वलना भी की है। नागपंथियों की भाँति उन्होंने भारतीय वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार नहीं किया । संस्कृतिक दृष्टि से यह एक वास्तविकता हो जानी जायेगी ।

सामाजिक भेदभाव और बाह्यस्वरूप धार्मिक बाह्याकारों ने वर्णों की अनेक बातियाँ में विघटित कर वांछनात्मकता की स्तना बढ़ावा दिया कि मध्ययुग में सामाजिक जीवन घात-प्रतिघात को एक माथा ही बन गया । धार्मिक क्षेत्र से लेकर सामाजिक जीवन में ऊँच नीच की भावना घर कर गयी । कबीर की इस दृष्टि से हम रुढ़ि के विरोध में खड़ा होता हुआ पाते हैं। कबीर वादि संतों ने वर्णाश्रम धर्म की ज्वलना अपनी परम्परा पोषित रूप में की है । हमें यी मत नहीं है।

यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से कबीर में हन्दात्मक एवं भौतिकवादी रूप नहीं मिलता, किन्तु उनकी सांस्कृतिक चेतना साम्य भावना का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करती है। लोक जीवन की पूर्णतत्त्व की अनुभूति से अधिक भेदभाव एवं वर्ग के स्थान पर परमतत्त्व के विराट् और व्यापक साम्य

भाव का स्वर कबीर काव्य की संस्कृति देन ही माना जा सकता है। जन-संस्कृति केतना को दृष्टि से संतों की व्यापकता और सामान्य जन की निकट लाने की शक्ति बर्ण ही मानी जायेगी। कबीर की अनुभूति का यह स्वर प्रमाण रूप उन्हें उपात्त संस्कृति धरातल पर पहुँचा देता है।

इसमें कबीर की लोक-नैतृत्व प्राप्त हुआ, उसका कारण उनके दृष्टिकोण व्यावहारिकता और साधना के प्रति कठोर वाग्रह का भाव हो माना जायेगा। जो नाथपंथ की भी विशेषता मानी जाती थी। संतों का संपूर्ण काव्य हिन्दी साहित्य के भिन्न का नाथपंथ के पश्चात् का चरण है और यह भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, इस दृष्टि से संत काव्य की देन नाथपंथ की अपेक्षा विस्तृत, व्यापक और लोक प्रभावित है। उसमें धार्मिक केतना के साथ साथ ज्ञानायास ही काव्य का वह रूप भी मिलता है जिसे वास्तविक कथ में काव्य कहा जा सकता है।

संपूर्ण संत काव्य प्रकृत काव्य है, उसमें बर्ण वात्सल्य विश्वास और वाशावादिता के भाव मिलते हैं उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक है, वह व्यक्तिगत कायापकट में बाँधा रहता हुआ महामानव की प्रतिष्ठा का पोषक है।^१ अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने उपदेश का मार्ग ग्रहण किया है। किन्तु वह उपदेश उसकी अनुभूति से प्रमाणित तथा अनुभव से पता हुआ है। कबीर ने एक स्थल पर कहा भी है। यथा-

“कहु कबीर मैं सी गुरु पाया जाका नाउ विझी।”^२

कबीर काव्य की यह देन जहाँ जन में जन-

१- हिन्दी साहित्य- डा० रामकृष्ण वर्मा- द्वितीय खण्ड पृ० २३६

२- संत काव्य - भूमिका - परशुराम चतुर्वेदी पृ० १२६

३- वादि ग्रन्थ ५

चेतना नैतिक बल को विकसित करती है। वहाँ उसमें जनजागरण का संकेत भी निहित रहता है। कबीर की काव्यात्मिक चेतना विश्व धर्म का ग्रीष्म मानो जाती है। समाज के जिस स्तर पर धर्म तथा दर्शन को पूर्ण नहीं थी। संतों की वाणियाँ ने वहाँ अपना संकेत पहुँचाया है, उस दृष्टि से उनका महत्व अप्रतिम है।

कबीर का सांस्कृतिक जनचेतना स्थायी है एवं भावुक मन को शांति देने के लिए सदाय है। यह महत्व अन्य साहित्य की उपलब्ध नहीं है। यह भी कबीर काव्य की एक विशेषता ही माना जायेगा। कबीर काव्य में वाच्य निर्धारता के लिए अपने अनुमान पर चलने की श्रम कर माना गया है।

कबीर काव्य में संस्कृति के माध्यम से ही साहित्य में भी जन-चेतना का प्रस्फुरण पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष होता है, संस्कृति एवं साहित्य एक दूसरे के पूरक हैं।

साहित्य में अभिव्यक्त जन-चेतना

सहित कलाओं में सर्वाधिक स्थान साहित्य का है। नैतिक वाधार की स्पष्टता, इसे इतर कलाओं की अपेक्षा दोषजीवी बनाने में सहायक होती है। अन्य कलाओं की भाँति साहित्य भी संस्कृति का वाहक है। सांस्कृतिक मूल्यों से प्रेरित मानव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। साहित्य अन्तर्गतत्वा, संस्कृति के सम्बर्धन और उत्थान के लिए आवश्यक जन-वाकर्षण उत्पन्न करता है तथा सांस्कृतिक विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति देने का उपक्रम भी करता है।

संस्कृति और साहित्य एक दूसरे के प्रत्यक्ष हैं ।
साहित्य यदि समाज स्मृति नाड़ी का एक है तो संस्कृति उसकी पुरी है । एक
दूसरे के सहयोग के बिना दोनों का अस्तित्व सम्भव प्रतीत नहीं होता किन्तु
प्रकार संस्कृति साहित्य के स्वरूप निर्धारण से लेकर वास्तविक वादार्थ एवं जीवन
मूल्यों का निर्माण और निर्देश करती है, उसी प्रकार साहित्य भी संस्कृति
के व्यापक प्रकार प्रसार के लिए सम्भावित विकास प्रौद्योगिकी का निर्माण करता
है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृति और साहित्य का एक दूसरे से
सहयोग साथे रहना दोनों के लिए आवश्यक होता है।

प्रत्येक देश की अतीत और वर्तमान संस्कृति,
वर्षों विविध कलात्मक रूपों में साहित्य में सुरक्षित रहती है। भूतकालीन संस्कृ-
तियाँ जो घटनाओं के प्रभाव से वास्तविक अस्तित्व में नहीं हैं, उनके पूर्ण इतिहास
पर प्रकाश डालने का एकमात्र साधन वहाँ का उपलब्ध साहित्य ही है।

दीर्घकाल से चले जा रहे सांस्कृतिक संघर्ष का
उत्तम रूप इन्होंने दो स्तरावधारियों में परिलक्षित होता है। इस सांस्कृतिक संघर्ष
के धार्मिक और जातिगत दो प्रमुख कारण थे । दोनों ही जातियाँ अपनी अपनी
धार्मिक सांस्कृतिक एवं जातीय श्रेष्ठता को प्रतिस्थापना के लिए क्रमशः रही थी ।
विशेष्य स्तरावधारियों के साहित्य में ये ही दोनों स्वर विशेष रूप से मुखरित हुए
हैं।

इन स्तरावधारियों का अधिकारी साहित्य,
धार्मिक साहित्य है, जिसमें धर्म सम्बन्धी अवधारणाएँ, पुनर्मूल्यीकरण एवं
वत्सल्यन्धी टीका टिप्पणियाँ को साहित्य की वर्ण्य वस्तु ही स्वीकार किया
गया है या फिर जातीय और धार्मिक श्रेष्ठता के पीछे कार्य विधानों, विधि

निर्बोधी का वर्णन किया गया है। इसके स्तर विषय वस्तु बहुत ही नगण्य हैं। प्रत्येक साहित्यकार उन्हीं वस्तुओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए चुनता है, जिसका सांस्कृतिक चेतना को अभिवृद्धि से सीधा सम्बन्ध होता है। यही नहीं बल्कि सुझावों को भी वह सुनि सांस्कृतिक चेतना के अनुसार ढालने का प्रयत्न भी करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की स्थिति कबीर के अनुसार इसे 'काठ की कीठी' जैसे ही गई थी, जिसके चारों ओर बसि धक रही थी, बन्दर रस्तेवालों की रक्षा का एक ही मान शेष था- पलायन। साहित्य अनिवार्यता सांस्कृतिक बाधाश्रुति से प्रेरणा ही नहीं दिशा बोध भी प्राप्त करती है।

संत कबीर ने किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही साहित्य की साधन रूप में अपनाया है। साहित्य उनके लिए साध्य नहीं था। काव्यात्मकता ही स्व उचित वैमिश्रण के प्रति रीतिकालीन कवियों का जो विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है उसका समो संत कवियों में नितान्त अभाव पाया जाता है। वह अपनी भावनाओं को निश्चल, स्पष्ट तथा सरलतम रूप में अभिव्यक्ति देते रहे हैं। कबीर विशेष रूप से काव्य-शिखा ही काव्य सिद्धान्तों से अपरिमित रहे हैं, क्योंकि इस बात पर समो विद्वान् एक मत हैं कि सन्त महात्मा वशिष्ठित या यह कहा जा सकता है कि अर्द्ध शिष्टित व्यक्त थे। कलंकार, गुण और रीतियों के जो भी उदाहरण उनके साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वे सब स्वभाविक रूप से कविता का अंग बनकर जा गये हैं। जान-बुझकर नहीं लाये गये हैं। ये उनकी सब प्रतिभा थी, जिसके कारण उनकी कविता सुन्दर, सरल, सरस एवं समत्कारपूर्ण हो गई है। उनकी भाषा में साहित्य और कलाकारी का प्रदर्शन नहीं है, बल्कि विशेष तीव्र और प्रभावपूर्णता है। जो हृदय के तारों को कुछ उल्टे सीधे प्रतीकों के माध्यम से फँकृत कर देती है। कबीर का उद्देश्य था काव्य के

माध्यम से अपनी सहृदयता का प्रसार करता। यही कारण था कि उन्होंने जन-
जीवन में व्यक्त काव्य के प्रकारों का अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग किया।

कबीर के मतानुसार उत्तम काव्य वह है जो
सीधेरे ही, तथा उसमें परमतत्त्व के पहचानने की अनुभूतिपरक दृष्टि ही वह
परमात्मा के लिए किए गए क्रिया कलापी का उत्तम समझते हैं। अन्य बाह्य
कार्य उनको दृष्टि में बाधरण मात्र हैं। कबीर के मतानुसार 'पीपी पदि
पदि जग भुवा, पंडित भया न कीह' । बाह्य पुस्तकीय ज्ञान से क्या
लाभ जब तक 'डाहें बदार' परमात्मा के प्रेम का नहीं पड़ता, हरिस्त
नाम और भगवद् भजन नहीं करता उस समय तक 'पंडित' ब्रह्मा ज्ञानी
नहीं हो सकता। इसीलिए कबीर संस्कृत भाषा की रूप जल और सरस्वती
से समझ में आने वाले जन साधारण भाषा की बहते हुए जल के समान सुन्दर
मानते थे।

कबीर काव्य के वाक्यों का परिचय हमें उस
समय और भी स्वाभाविक और मार्मिक लगता है जब कबीर कहते हैं कि 'तुम
भी इस 'पथमय' कथन की कोई गीत या काव्य रचना न समझना। मैं
तो इसके द्वारा केवल आत्म साधना का सार तत्त्व बतलाकर उसे समझने को
बेष्टा को है। कबीर ने स्वयं को प्रभु की पतिव्रता नारी के रूप में देखा है,
दुस्तिन, कामिनी, सुहागिन आदि जैसे नारी विषयक पदार्थ सन्त काव्य
में देखने को मिल जाते हैं। सुहागरात की उत्कंठा और पति से मिलने की
उत्सुकता में ही उनकी रहस्यवाद की मनोरम भावों की दृष्टिगोचर होती है।
सहित्य आत्मा की सहज अनुभूति है जो व्यक्तित्व के व्यक्तित्व का परिचायक
है। व्यक्तित्व जब विश्व में व्यापक सत्ता की व्यापकता का अनुभव करता है,
प्राकृतिक पदार्थों के व्यापकत्व पर दृष्टिपात करता है वही की किसी विशिष्ट
व्यक्तित्व कथा प्राणों के लिए सीमित न रहकर सर्वसुख कथा सर्वहिताय की
भावना से सर्वप्रिय बन जाता है जब इसके मन में भी हठात्स भाव जागने लगते

हैं। उनकी वात्सा व्याकृत्य के लिए झटपटा उठती है तभी वह सारे बन्धनों को त्यागकर दूसरों के साथ सहानुभूति करने लग जाता है। सभी प्रति वात्सीयता का भाव आ जाने से उसमें दुराव या झटपट नहीं रहता। यही भाव वात्सा का गुण है और भावाभिव्यक्ति द्वारा ही वात्सा अभिव्यक्ति सम्भव है। कबीर का साहित्य वात्स्य ज्ञान विषयक सख्य स्वाभाविक प्रेम से भरपूर है जिसमें वह प्रतीत होने वाली प्रकृति वात्सीयता पाकर सजीव स्वं मुक्त हो उठी है। उनका साहित्य वही है जहाँ वात्सा की झटपटाहट, भित्त की व्याकुलता, साक्षर्य जनित प्रेम की पीर, पिय कस्तुर की मीरम काफ़ी आदि भावों की भावुकता मिलती है जिस पर वेपथु का आवरण न डाल सके, जब सन्त कवियों में प्रेम की पीर है, वियोग की वशारी है, अन्तर की बाह है तो कौन ऐसा कारण है जिससे उनकी वाणी कवित्व से परे कही जा सकती है। हाँ कुछ उपेक्षा-त्मक शब्द अवश्य ऐसे हैं जिनमें रसिकों की वात्साद नहीं मिल पाता। इसका मुख्य कारण यही है कि मानव उनकी वाणियों में प्रयुक्त प्रतीक विधान की पूर्णतः नहीं समझ पाता।

डा० हरदेव बाहरी ने समस्त सन्त साहित्य की कृतियों को तीन उत्थानों में विभाजित किया है। प्रथम उत्थान युग गुरु नानक से पूर्व तक है जिसमें जयदेव, साधना, वेणी, प्रिलोचन, नामदेव, कबीर पोपा, रैवास, धन्वा आदि संत आ जाते हैं। उनमें कबीर और रैवास की रचनाएँ साहित्यिकता की कसौटी पर सही उतर जाती हैं। कुछ सन्तों के काव्य में तो काव्य कला के उत्कृष्टतम रूप ही द्रष्टव्य हैं। इस युग की रचनाएँ पहले युग की रचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

साहित्य का उद्देश्य किसी समाज या राष्ट्र की आशा, निराशा, आकांक्षा, उत्थान, पतन, दुःख - दर्प, आश्रु,

ज्ञास की अपनी काव्य के पट पर प्रतिबिम्बित करे। साहित्य अपनी देश का प्राण है, साहित्यकार अपनी समय और समाज का प्रतिनिधि होता है, उसका यह दायित्व है कि समाज और देश की नाहों की परति उसकी धड़कन की समझ और फिर सुन करे। सुन की वेदना को भेजे, पीने पर समाज की मुस्कान के फूल वर्णित करें। साहित्यकार चाहे अपनी सुन में बिना अधिक बाह्यता ही या हुआ हुआ ही। पर उसी काव्य में युग की भाव अवश्य बहनी। वह चाहे या न चाहे आयास हो युग का प्रतिबिम्ब उसी काव्य में पड़ता है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध सीधे और घना होता है। साहित्य का सबसे बड़ा गुण और दायित्व युग में अभिव्यक्ति है, पौराणिक और ऐतिहासिक साहित्य में भी युग और समाज की अभिव्यक्ति रहती है। साहित्य में युग में अभिव्यक्ति का यथार्थवादी कैन तो रहता ही है। पर समाज का मार्ग दर्शन भी उसमें मिल जाता है। समाज के दोषों का यथार्थवादी कैन तो रहता ही है पर समाज का मार्गदर्शन भी उसमें मिल जाता है। समाज के दोषों का यथार्थवादी चित्रण करके उसे उदात्त भावनाओं की ओर उठाने का प्रयास भी उसमें बराबर मिलता है। अतः साहित्य की समाज का दर्पण या स्वरो हो नहीं कह सकते। उसकी मार्गदर्शक भी कह सकते हैं। मनुष्य में जो कुछ अच्छा है, संस्कृति है इसलिए हर समाज में कुछ ऐसे तत्त्व भी रहते हैं जो शाश्वत हैं और कभी मिटते नहीं हैं।

यह बात निश्चित है कि साहित्य और संस्कृति एक दूसरे के सहारे ही बोलित रहते हैं। यदि संस्कृति अपनी शाश्वत से साहित्य की बाकायूस करती है तो साहित्य की संस्कृति की रक्षा करता है, सत्य तो यह है कि साहित्य ही संस्कृति के शाश्वत का पीछा है और अभिव्यक्ति के लिए स्वर देता है। प्राचीन संस्कृति का ज्ञान हमारे प्राचीन साहित्य से ही

होता है। यदि हमारा प्राचीन साहित्य नष्ट हो जाता है तो क्या हम विश्व के समस्त अपनी संस्कृति की वाय्यात्मिक महत्ता का गौरवमान कर सकते थे। साहित्यकार जिस संस्कृति में जन्मता है उसका प्रभाव उसी साहित्य में अवश्य पड़ता है। उनके सुत्र बदलते रहते हैं। एक युग में वही एक समाज-सुधार का है तो दूसरे में साम्यवाद और सह-वस्तित्व का।

राष्ट्र की संस्कृति की अनुभूति की बल्लि में ज्माकर अपनी वाणी में क्या सेवा भेजना करना और सोये हुए समाज में जेतना का रस डूँक देना साहित्यकारों का राष्ट्रीय धर्म है। कबीर ने इसी धर्म की स्तुति की।

साहित्य कला संस्कृति की सृष्टि का पीतक है, मानवीय जेतनाका सर्वात्म्य प्रकाश साहित्य के रूप में आविर्भूत होता है। सभ्यता का प्रारम्भ और साहित्य के उद्गम के बीच सुदीर्घ काल का व्यवधान है। काल की परीक्षा में बार बार उत्तीर्ण होकर ही सभ्यता से नवनीत की भाँति संस्कृति उद्भूत है और पुनः उसी प्रक्रिया से संस्कृति की सार वस्तु के रूप में काव्य का आविर्भाव होता है। सामान्य प्राणी से सम्य सम्य से संस्कृतिमान और संस्कृतिमान से कवि होने के लिए मनुष्य की दीर्घकाल की साधना करनी पड़ती है। इसलिए कवि की कृति में ही मानवता की इस साधना का पूर्णांग परिणय मिलता है। मानव के युग युगान्तर का स्वल्प और उसकी उत्कर्षार्थ काव्य के रूप में धारण करती है और काव्य की एक रहस्यमय, रहस्यमय महत्वधेती है।

कबीर ने वास्तविक जीवन से तथ्य की लेकर वह उसे भाव जीवन के तत्त्व में परिणत कर देता है और इसीलिए कालान्तर

में मनुष्य उसे अपना लेते हैं। कवि प्रतिपादित सत्य का आस्वाद करते हैं।

जन्मों मनुष्य मात्र के हृदय में कबीर का साहित्य ' शिव ' पर ' सुन्दरम् ' के रूप में विद्यमान है। कवि के समीपन सर्वगाथों होकर व्यक्ति स्तर से उठकर आत्म स्तर पर पहुँच जाता है। यही कारण है कि काव्य वस्तु के मनुष्यों को भावनाओं में निरन्तर व्यक्तित्व तथा वास्तविक होती हुई भी, सार्वजनिक अनुभव को वस्तु बन जाती है। कबीर नहीं रहे उनके व्यक्तित्व में सुख दुःख की नहीं पर उनकी सफलता उनकी वेदना काव्य में चिरकाल से गुंथित है। इसीलिए काव्य में मौलिकता का विशेष महत्व है। मौलिकता में रमणीयता का मूल है। जाण जाण में नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। यह रमणीयता तो व्यंजना आदि से भी जाती है, किन्तु वाक-वर्णन के लिए नवीनता आवश्यक है।

कबीर काव्य का वर्ण्य विषय दुख और कात
की दृष्टि से और साथ ही प्रबन्ध के चरित नायकों को गरिमा की दृष्टि
से अनुपम हो प्रतिष्ठित है। इसका एक उदाहरण तो वाल्मीकि की रामायण
है।

संस्कृति के रूप में ही साहित्य का जन्म होता है किन्तु संस्कृति को जीवनरस प्रदान करने वाला ग्रीत साहित्य ही है। संस्कृति साहित्य की गीत में ही सुरक्षित नहीं है। इस प्रकार साहित्य के प्रदेय को कभी न नष्ट किया जा सकता है और न कभी फुटलाया जा सकता है। कबीर जैसे संत कवियों के मन्त्रित के गीत भारत के ही नहीं विश्व की सम्पत्ति है और समस्त देशों में स्थायी आदर और प्रभाव देता जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अपनी संस्कृति और वादशर्तों की महानता हम साहित्य द्वारा ही प्रकट कर सकते हैं। हम प्राचीनकाल में महान् के इसे हम साहित्य द्वारा ही सिद्ध कर सकेंगे। साहित्य का सम्पर्क दूर तक जाता है कार्यों और व्यक्तित्व का सम्पर्क उतना स्वच्छन्द एवं व्यापक नहीं है, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समीपवर्ती देश भी हमारे साहित्य को पढ़ सकते हैं और उसी के द्वारा हमारी जाति, संस्कृति धर्म, दर्शन और देश के वादशर्तों की जानकारी कर सकते हैं।

युग युगान्तर की मानव चेतना को धारा काव्यमें पूर्ण होती है इसीलिए काव्य हमारे सामने मानवता की मनोगति की उपस्थित करता है। इसी कारण किसी काल विशेष में रचित काव्य की केवल उसी काल से नियन्त्रित नहीं रहती। मानव संस्कृति की श्रेष्ठतम धारा के कवि कालिकाल से जाने वाली मानवताओं की अपनी भावधूमि पर संस्कृति की अन्त काल के हाथों उसे साँप देते हैं।

कबीर के साहित्य में हमें मध्ययुगीन समाज, धर्म, दर्शन, संस्कृति सभी में जनचेतना की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। कबीर के साहित्य के द्वारा ही हम कबीर कालीन समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन, के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

कबीर ने अपनी साहित्य का प्रसार जन जीवन में अपने पदों एवं साक्षियों द्वारा ही किया। उन्होंने उस समय समाज में फैली बुराईयों की ओर सम्पूर्ण जनसमूह का ध्यान आकर्षित किया। इससे कबीर के साहित्य के द्वारा भी समाज में जन-चेतना का प्रस्फुरण हुआ। उनके साहित्य

का मध्ययुग की वपिदा वर्तमान युग में भी विशेष महत्व है, कबीर जैसा समाज सुधारक बाब भी हमें अपनी साहित्य द्वारा प्रभावित करता है। कबीर का साहित्य भारत में ही नहीं संपूर्ण विश्व में विस्तृत है। उनकी मर्मितपूर्ण साहित्या बाब की जन मानस की उत्तथित करती रहती हैं।

संदीप में हम कह सकते हैं कि कबीर का साहित्य मध्ययुगीन जन- जेतना का मूल प्रीत रहा है।

निकर्ष

केलु सभ्यता में प्राप्त बार्मि दखितता और नैतिक समुदि संतों के जीवन का सबसे बड़ा बाधुषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस बार्मि दखितता का ही वखान है, और बान्तरि गुणों के विकास के कारण प्रसर व्यथितगत इस नैतिक , समुदि की ही देन है। लीकि स्व पारसीकि जीवन में बन्धुत सम्भुत और समन्वय स्थापित कर गौरपय वैयथितक जीवन व्यतीत करने वाले कबीर ने समय समय पर समाज का का- प्रवर्णन कर युग नेता का रूप ग्रहण किया है। वस्तुतः सन्त कीर्त विशेष व्यथित न होकर भावना विशेष है, बिकका प्रसार बन्धाक्य युगों में विभिन्न व्यथितयों के माध्यम से हुवा है। सुप्त दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि इस भावना विशेष के मूल तत्त्वों में प्रायः परिवर्तन नहीहीता युग की बावश्यकता और व्यथित की रुचि तथा सामय्य के कुरुम जन तत्त्वों के कुरुपात और क्रियात्मक प्रसार में थोड़ा बहुत बन्तर बाता रहता है पर इसकी मूल भावना में कीर्त विशेष बन्तर नही बाता ।

भारतीय मध्ययुग के इतिहास की सार्क मानने के लिर मानी इस भावना का यहाँ विकास हुवा, जो कबीर जैसा सत्त्वत व्यथितत्व पाकर अपने प्रीद रूप में प्रतिफलित हुई । समाज के तथा-

कथित निम्न वर्ग से उद्भूत इन सन्तों को समाज ने ठहराने का दुःसाहस स्व-
 त्रित किया, लेकिन कौन जानता था कि यह दुस्ताहस सर्वत्र की ही वह
 कदम्य शक्ति प्रदान करेगा कि वे इस बाह्यपरपूर्ण समाज की ही ठहराकर
 अपनी पीछे लगा लगे। समाज के इस दुस्ताहस ने उन्हें तनकर लड़े होने की शक्ति
 सामर्थ्य और मान्यताओं पर जो विश्वास था वह और भी दृढ़ हो गया।
 इस बाह्य निष्ठा और बाह्य विश्वास के चल पर वे न केवल स्वयं ही लड़े
 हुए, बल्कि समाज के कुछ व्यक्तियों की भी उन्होंने अपनी साथ लड़ा पाया।
 यह उनकी सफलता का फलता बिस्म था। धीरे-धीरे समाज उनकी फुहार
 सुनने पर विवश हो गया। फलश्रुति में कही गई बातों ने समाज की
 जायास ही प्रभावित करने शारम्भ किया, क्योंकि उनके यथार्थ चित्रण में
 सत्य का चल था, जिसकी बहुत देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस
 प्रकार सम्भावना, जो अब तक व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती
 थी, अब अविविधन धारा के रूप में सामाजिक परम्परा हो बन गई। मध्य-
 युग में भारतीय समाज की इन सन्तों की यह सबसे बड़ी देन है। यह अविविधन
 सामाजिक परम्परा ही सन्तों की सामान्य मान्यताओं की साधन भूमि है।
 एक परम्परा में चलने वाले वाली मान्यताओं में कोई परिवर्तन न हुआ ही,
 ऐसी बात नहीं है, लेकिन इस परिवर्तन का सम्बन्ध उनके मूल तत्त्वों से न
 होकर उनकी अभिव्यक्ति या उनके बाह्य आवरण मात्र से ही अधिक है। इस
 प्रकार कबीर से कुछ फल से ही सन्त विचारधारा के जो तत्त्व विकसित हो
 रहे थे वे न केवल कबीर में पूर्णतया विकसित और समृद्ध होकर फुटहुर।
 बल्कि देर तक समाज को प्रभावित करने वाली सन्त विचारधारा के रूप में
 तब से उसकी अविविधन परम्परा भी प्रभावित हो चली जो आज तक इस
 देश में इसी तरह विकसित और जाग्रत है। उसी परम्परा के वाधुनिकतम फल
 रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा विनोबा
 भावे हैं।

कबीर का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओं की बाधा रमुमि है। लीनिक तथा पारसीनिक जीवन की साधना उन्होंने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। लीनिक तथा पारसीनिक जीवन की साधना उन्होंने सांसारिक विषयमताओं से छव्हा कर वे जंगल में भाग कर ब्रह्म की साधना करने नहीं चले गये बल्कि कर्तव्य जीवन बिताकर उनसे कुछ पड़े इस प्रकार लीनिक उत्सवनों की क्रियात्मक जीवन के माध्यम से ज्ञायास ही उनकी परलीक की साधना भी होती रही। वे न कभी मन्दिर नह न मुर्ति-पूजा की, ब्रत, तीर्थ, स्नान, उपवास और मासा फेरने से भी वे कोसी दूर रहे, फिर भी इस प्रकार के बाजार प्रधान ब्राह्मणों से भी वे कहीं धार्मिक की रहे।

समाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, वार्मिक सभी प्रकार की समस्याओं का उन्होंने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से, समाजान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हें जो आन्तरिक शक्ति प्रदान की उसी के कल पर वे इन समस्याओं से छव्हाए नहीं।

महत्वपूर्ण बात यह है कि ये विषयमताएँ उनके व्यक्तित्व की विरुद्धस्थित न कर सकी और वे सदा इनसे झुक्तते ही रहे। भागे कभी नहीं और हसीतिर हारे भी नहीं। धार्मिक बाह्यम्वरों और बाव-रणों का उन्होंने झुक्तार विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों की उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया और यथासम्भव उन पर भी कृठाराघात किया। राजनीतिक बत्याचारों से झुक्तते झुक्तते उन्होंने सिर तक कटा दिया, पर उसे झुक्तने नहीं दिया।

वार्त्तिक दक्षिणता से अपने को उभारने के लिए जीवनभर कफड़ा जुनवा रहा । कृत मित्राकर समाज की किसी भी सभित के प्रहार से उन्होंने अपने व्यभित्तत्व को विघटित नहीं होने दिया । यही उनकी सफलता का रहस्य है। जीवन को सभी समस्याओं के प्रति उनको यह संतुष्टि दृष्टि उनके सूरपात व्यभित्तत्व की परम्परा को बनार रह सकी ।

जब समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से प्रसारित होने वाली सभित में उन्होंने भाव का आभास पाया, क्योंकि सभित के बाह्य आवरण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए , परन्तु उनकी अन्तर्हि सभित क्षीण होती गयी । संत कबीर ने भावहीन आवरणों और बाह्यार्यों का जो भस्म विरोध किया । प्रतिष्ठा करनेवालों का अन्तर में बैठी प्रति से परिचय कराया, मन्दिर जाने वालों को मन्- मन्दिर को याद दिलाई - ' कर का मका ' करने वालों को ' म का मका ' ता फ- हाया । तीर्थों में भ्रमण करने वालों को सत्गुरु स्यो तीर्थ के वर्तन कराए , नंगा स्नान करने वालों को अन्तः स्नान का पाठ पढ़ाया । व्रत रत्ने वालों को वास्तविक व्रत का महत्व बताया ।

संत कबीर ने ' नाम ' की अनामकत्व दिया, सही से उनके मार्ग की कह्यो ने ' नाम मार्ग ' तक ही संज्ञा प्रदान कर दी है। नाम की ई भी ही, उसका महत्व उतना नहीं, जितना उसमें अन्तर्हि भाव का और नाम तो उस भाव की ही बाग्रत रत्ने का साधन मात्र है। सत्गुरु और नाम की वर्त्ति नहीं किया जा सकता , यह तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है और यह भगवत्कृपा कब प्राप्त हो, यह कोई जान नहीं पाता । सभी सन्तों ने एक स्वर से भगवत्कृपा की ही सर्वप्रथम स्वीकार किया है। अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने आत्मार्त्तिक समकारण्यो वाणी

का वाक्य नहीं लिया बल्कि भाषा को सरलता, स्पष्टता, और सक्षमता ने ही उनकी रेली को साहित्यिकता प्रदान की है।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनीतिक अस्थिरता

के इस युग में वाच राजनीतिज्ञों ने 'विश्व-संस्कार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई में जाकर मानव-मानव की निकट होने का प्रयत्न किया जाए तो वह मात्र धर्म और कुछ नहीं, संत कबीर की सामान्य मान्यताओं से उद्भूत जन-चेतना का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है। धरा का उद्धार करने वाले, मानव की स्वतंत्रता का संरक्षक देने वाले जीवन में क्रांतिकारी रूप का संस्कार करने वाले, विश्व शांति के प्रसारक इस संत कबीर ने मध्ययुगीन जन-चेतना का विकास और प्रसार किया, उसने उन संतों को भी जन्म कर दिया जो उनके सम्कासिनी थे।

वस्तुतः उनकी मान्यताओं की बाधाएँ भी लुप्त हो गईं, अतः उन पर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन दर्शन का विकास हुआ, उसके मूल तत्त्वों में कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्व का कारण उनकी सत्य आभासिकता है। कृत्रिम क्रियाकलापों को इसमें स्थान न देकर संतों ने इसे विशिष्ट नहीं होने दिया। बाह्य वादों, आह्वानों या कर्मकाण्डों के अभाव ने इसे भाव प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार संकीर्णता के बाधक - अतर्क्यों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और इसे भी सक्षम प्रदान की।

...

द्वितीय अध्याय

कबीरकालीन समाज

कबीर की सामाजिक विचारधारा

- (क) व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति
- (ख) धर्म के वास्तविक स्वरूप का तीव्र
- (ग) पारम्परिक संघर्ष
- (द) कबीर का कार्य
- (ध) दर्शन क्षेत्र में
- (य) धर्म क्षेत्र में
- (र) समाज क्षेत्र में

कबीर की कानियाँ में सामाजिक चेतना

- (क) चेतना के रूप की रचना दृष्टि
- (ख) धार्मिक उत्पत्ति
- (ग) साहित्यिक उत्पत्ति
- (द) धार्मिक एवं लौकिक साहित्य

कबीरकालीन समाज की प्रभावित करने वाले तत्त्व

- (१) मानवीय संवेतना
- (२) परिवार : बियोगिनी की स्थिति, माता-पिता की

पुत्र के सम्बन्ध

- (३) नारी भावना : नारी का व्यक्त रूप प्रतीक रूप में नारी
- (४) हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध

निष्कर्ष

कबीरकालीन समाज

समाज व्यक्तियों का बोधा-साधा समूह नहीं बल्कि एक फैलीदा गतिशील व्यवस्था है। समाज रेल का वह डेर नहीं, जिसमें उसका प्रत्येक कण एक दूसरे से अनिच्छ सम्पर्क रखे हुए भी एक दूसरे से विलग और स्वतन्त्र रहता है। समाज एक वृक्ष की भाँति है, जिसका प्रत्येक भाग, प्रत्येक को, प्रत्येक कण और प्रत्येक विन्दु एक दूसरे से और पूर्ण वलण्ड से वायव्यिक सम्बन्ध रखता है। समाज को इसी मीन से जगत्वात्मक दशा का चित्रण करते हुए नेहरु ने सिखा था, "पुराने जमाने में सामाजिक और जातिके परिवर्तन धीरे धीरे होते थे। और सभी वर्ग एक उत्पादन वितरण और मात लेने के तरीके लगभग वैसे के वैसे को रखते थे। इसलिए लोगों को परिवर्तन को क्रिया का भाव नहीं होता था और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज व्यवस्था कमर और जटल है।"

उस समय का समाज प्रमुक्तः हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के संयोग से बना था। भारतवर्ष की बहुसंख्यक जनता उस समय हिन्दू थी। मुसलमानों के आगमन से पूर्व वे साक्षर और सम्पूर्ण देश के स्वामी थे। मुसलमानों के युग में भी उनमें से अनेक धनी तथा समृद्धतालु थे। इस काल तक जाते जाते हिन्दुओं की कुछ आन्तरिक व्यवस्था गड़बड़ हो गई थी। वर्णाश्रम व्यवस्था जो हिन्दू जाति की परम विशेषता थी, इस युग में विकृत और सदीप्त हो चली थी। इस युग में ब्राह्मणों की महिमा और शक्ति बहुत बढ़ी। क्षत्रियों की निम्नता का प्राचुर्य होने के कारण उनका समाज में निम्न स्थान समझा जाने लगा। उत्तम से उत्तम वाचरण वाला होते हुए भी क्षत्र समाज में वादर न पाता था। व्यक्तियों का हिन्दू जाति से प्रभेद

ही जाना तो साधारण बात थी। झुर्गों की संस्था में वृद्धि होती जा रही थी, उच्च जाति से प्रभु होने पर व्यक्ति की इन्हीं का वायव्य होना पड़ता था। ये लोग नगरों के बाहर रहे जाते थे। इन्हें उच्च जातियाँ फुर्गी से भी होने सम्भवती थी। इस काल में इस प्रकार के सभी व्यक्ति हस्तार की कृपाया में शरण पाते। बौद्ध धर्म का यद्यपि पूर्ण स्वीकार प्राप्त हो चुका था, तथापि उसके विचारों से प्रभावित होकर कौन-कौन से सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए थे जो ब्राह्मण धर्म से अब भी जुड़ कर रहे थे। निराकार की उपासना करने वाले कौन-कौन से सम्प्रदाय ब्राह्मणों के कट्टर विरोधी भी हुए थे। वाजपेय ब्राह्मणों का प्रभाव म्लेच्छों के मतानुसार, "गौरवनाथ के समय से कौन-कौन से, बौद्ध और शक्ति सम्प्रदाय थे जो न तो हिन्दू थे न मुसलमान। गौरवनाथ के सम्प्रदाय में कौन-कौन से, शक्ति सम्प्रदाय उत्पन्न हुए परन्तु इस सम्प्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो गए।" इस प्रकार भारतीय मुसलमानों की संस्था दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। मुसलमानों की संस्था वृद्धि के साथ ही मुसलमानों के बीच हिन्दू रीति रिवाज, विचार और व्यवहारों का भी प्रवेश होने लगा। एक ओर तो समाज में यह कृता की भावना धीरे धीरे जाग्रत हो रही थी। दूसरी ओर हिन्दुओं के जातिवाद की तीव्रता जाति कौन-कौन से सम्प्रदाय भी कार्य कर रहे थे। संत सिद्ध और नाथ जातिवाद के कट्टर विरोधी थे, ब्राह्मणों का उत्कर्ष और सर्वजातियों से श्रेष्ठत्व उन्हें बिल्कुल न आता था। इस प्रकार यह नाथ और सिद्ध लोग वर्ण व्यवस्था विविध विचार तथा शास्त्रों और वेदों का सुलभ विरोध कर रहे थे।

समस्त निरुपेक्षित कवि जानते थे कि हिन्दू और मुसलमानों में शारीरिक दृष्टि से कोई अन्तर और भेद नहीं, भेद केवल विचारों और भावों का है, इस विचारों और भावों के भेद की वल धार्मिक

कट्टरपन और रुढ़िवादिता से भिन्नता है। कृदय की गरम अनुभूति की दशा में राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं रहता । अन्तर केवल उन माध्यमों में है, जिनके द्वारा वहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। क्योंकि वे समस्त निर्गुणियाँ सन्त उन माध्यमों- मन्त्रि, मन्त्रि, पुत्र, नमाज, व्रत और रोजा इत्यादि का सुकर विरोध करने पर कटिबद्ध हुए । हिन्दू मुसलमानों को फटकार कर इन बाह्य उपायों की असफलता और व्यर्थता दिखाने का प्रयत्न उन्होंने किया । कबीर इन सन्तों में प्रसृत हैं। उनके काव्य में इस प्रकार के अनेक उदाहरण देते जा सकते हैं।

वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मणों का विरोध भी कबीर में साधारण नहीं है । वे बड़ी धक्कामार भाषा में इन सबका विरोध करते हुए दिखाई देते हैं। वे जनता के उस वर्ग में थे जहाँ वे जहाँ उन्होंने उच्च वर्ग के अत्याचारों को सुनी जातीं देखा था । उनके विचारों और भावों में जातिवाद का लपटन करने वाली धारणा बड़ी दृढ़तापूर्वक बैठ गई थी । जाति पाँति पूर्तिपूजा , बाल विवाह आदि से सम्पूर्ण समाज ग्रस्त था । क्योंकि वे किसी भी जाति पाँति को पूजा व्यर्थ समझा और हरि भजन की ही माना । स्वामी रामानन्द ने भगवान् की उपासना में किसी प्रकार के भेद भाव को नहीं स्वीकार किया । एक और उनकी शिष्य मंडली में ऊँची जाति के लोग थे, तो दूसरी ओर धना, जाट, खन, कसाई, सेन नाफि, रैदास बमार और कबीर सुलाहा भी थे । इन निम्नवर्गीय लोगों को अपनी साधना के गौरव का बोध था और क्योंकि वे अपनी जातीय हीनता को तुच्छ मानते थे । कबीर ने अपने स्वाभाविक व्यक्तित्व से घोषणा की कि ब्राह्मण की धम्मी में दूध और शूद्र की धम्मी में खत नहीं रहता । ब्राह्मण और शूद्र दोनों की जन्म प्रणाली

१- जाति भी बीड़ी, कर्म भी बीड़ा कसब हमार ।

नहिं से प्रभु ऊँच किया है, कह रैदास बमार ।।

२- तुम कैसे वाक्म पीड़े, हम कैसे सुद । हमारे कैसे लोहू, तुम्हारे कैसे दूध ।।

रु है, तब रु कहा कैसे और दूसरा झूटा कैसे ।

कबीर की ब्राह्मण अपराधी मान्य पड़ते थे,
पर्यन्त वे लीटें वाचरण करते थे :

‘ गाय बघी सी तुलक कहानि , यह क्या उनसे झूटि ।

कहैं कबीर सुनी भाई साधी , कलि के ब्राह्मण लीटि ॥ ’

कबीर स्वयं कपड़ा बुनते थे । उन्होंने अपनी जीविका चलाते थे और साथ ही साथ सत्संग भी करते थे । कबीर के इस सत्संग का उद्देश्य था, समाज में समता लाना । बिना सत्संग के मानव अपनी में दुधार नहीं कर सकता । सत्संग ही मनुष्य को सदाचारों बनाता है जिस समाज में सत्संग नहीं है वहाँ भ्रष्टाचार अधिक है। कबीरकालीन समाज में विविध भेदों के कारण सत्संग का कम बिकसुल गया था । कुसंगति में पड़कर मानव मानवता रक्षा न करके भटक था ।

राजा प्रजा का शोषण कर रहा था । धनी गरीब था । इसीलिए कबीर ने सभी सत्संगति करने का उपदेश दिया । उन्होंने समस्त मानव जाति को एक जाति के रूप में देखा और पाला था । इसी ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सामाजिक दृष्टिकोण समता का था । वे समाज के हर एक व्यक्ति को सुखीदलना चाहते थे । सुख का मुलाधार तब व्यवस्था की पर कबीर कालीन समाज में कोई भी ऐसी जाति या सामाजिक व्यवस्था नहीं थी जिससे कि हर व्यक्ति को अपनी उन्नति का मार्ग मिलता , बल्कि इना काफ़ी के बल पर राजा महाराजा तथा सामन्तों की शक्तियाँ बनी थीं । अपने अपने स्वार्थ के लिए सभी वैभव का विस्तार था, जिसमें कितनी शक्ति होती वह

१- जो सु वाक्म वाक्मो जाया ।

वान बाट है कैव नहिं जाया ॥

उतना ही धन संग्रह कर लेता था। कबीर के समाज में सबकी साने कमाने का समान अवसर नहीं मिल रहा था। इसीलिए समाज में बीगी, कती, कटा-धारी, बनतण्डी आदि भेष बनाकर अपनी बीबिका बला रहे थे। कस्ती साजुकी की समाज में परमार थी। कोई माता लेकर राम की बच्चा था, कोई सारे शरीर में रख लेभेटे फिरता था। कबीर थे ये मानव के रूप। तभी कबीर ने कहा था कि क्या इसी प्रकार के ज्ञान से जन-बागर्ण ही सकता है। समाज की इस दशा की देखकर कबीर बहुत चिन्तित थे, पर समाज उनका साथ ही नहीं दे रहा था। सत्तासीन समाज के लोगों में बलि काम वासना थी। इसलिए कबीर ने ऐसे लोगों को नास्तीय प्राणी कहा है। जो रात दिन नारी के साथ रहते हैं। कबीर ने काम की दुरा नहीं माना बल्कि उसमें बलि लीनता नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार के अनेक दुर्गुण लोगों में थे जिससे समाज का पतन हो रहा था।

कबीर ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें प्रष्टाचार न हो। लोग समाचार और सत्यता के कल पर ऊपर उठ सकें। कोई किसी का न विरोधी हो और न कोई किसी के दुःख का कारण हो। कबीर ने इस बात का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया था कि बिना अपनी सुधार के समाज सुधार नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने लोगों से निज स्वल्प पहचानने और निज की सुधारने का आग्रह किया था। इस आत्म दर्शन से वे सामाजिक स्थिति की सुदृढ़ बनाना चाहते थे। उनका कहना था कि समाज के सभी स्त्री पुरुष आत्म पहचान से ही अपनी दोषों का त्याग और सद्गुणों की ग्रहण कर सकते हैं। समाज की यह व्यवस्था तभी मजबूत होगी जब मानव द्वारा नैतिक कर्म किये जायेंगे।

कबीर की सामाजिक विचारधारा

स्व-कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान रखने वाले

व्यक्तियों के समष्टि स्वरूप का नाम समाज है। व्यक्त के बाजार विचारों के स्वरूप ही समाज का स्वरूप होता है। यही कारण है कि जब तक व्यक्तियों में किसी प्रकार के दोष उत्पन्न नहीं होते, समाज का स्वरूप सुन्दर व सुव्यवस्थित रहता है। किन्तु व्यक्त के कर्तव्यव्युत् होती ही समाज में विद्रुस्तता जाने लगती है। इसी विद्रुस्तता को दूर करने के लिए प्रायः युग के महापुरुषों का जन्म हुवा करता है तभी तो कबीर ने कहा है कि " युग की विधुतियां युग प्रभुत होती हैं । हमारे महात्मा कबीर मध्ययुग की ऐसी ही महान् विधुति थे । "

कबीर के सामाजिक विचारों को समझने से पहले उनकी पृष्ठभूमि जान लेनी आवश्यक है। प्रथम क्ररण में इस पृष्ठभूमि की पीढ़ी सी जर्ण की जा चुकी है। जिस समय महात्मा कबीर का जन्म हुवा था । उस समय समाज के प्रत्येक पौत्र में अन्धकार, अस्त व्यस्तता और विद्रुस्तता फैली हुई थी । प्रथम क्ररण में वर्णित कारणों और परिस्थितियों के वतिरिक्त भी इसके प्रमुख रूप से तीन कारण और थे ।

- १- व्यक्तवाद की प्रवृत्तता
- २- धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप
- ३- पारस्परिक संघर्ष और विभिन्न भावना

(ब) व्यक्तवाद की प्रवृत्तता

कबीर का युग व्यक्तवाद का युग था, " जिसकी साठो उसकी भैर " और " अपनी अपनी ठपकी अपना अपना राग " वाली कहावतें प्रत्येक पौत्र में पूर्ण रूप से वरितार्थ हो रही थी । जिसका फल जिसमें लगा हुवा था वह उसी की अन्धा समझता था । कोई

किसी की बात को सुनने के लिए तैयार न था। कबीर ने इस व्यक्तित्वापिता का उस युग के विविध साधनों की बाह्य रूप प्रधान साधनाओं का चित्र उपस्थित करके अच्छा वर्णन किया है। स्वामी लैराणाय के बाद कोई भी ऐसी विभूति भारत में प्रादुर्भूत नहीं हुई जो इस कथकार की विनीर्ण करने में समर्थ होती। स्वामी रामानन्द इसमें कोई संदेह नहीं कि तभी युग की वास्तविक धन थे। किन्तु सर्वसास्त्र पारंगत विद्वान् होने के कारण तथा साधुमत्त में अधिक विश्वास करने के कारण साधारण जनता के सम्पर्क में अधिक न जा सके। इसका फल यह हुआ कि उनका कार्य कपूरा हो रह गया। महात्मा कबीर ने इसी की पूर्ति की थी। कबीर जो संदेश लेकर हमारे सामने आये वह भी रामानन्द थे ही दिव्य धन थी। केवल प्रस्तुत करने का ढंग उनका अपना था। वह थी, 'भाव भगति'। इसी भाव भगति के सहारे ही उन्होंने व्यक्तित्वापिता के समाज को संयमित करने का प्रयत्न किया। इसी के द्वारा वे समाज के विविध वर्गों को एक छत्र में बाधने में समर्थ हुए थे। निर्गुनियॉ भाव भगति सबकी हीकर भी किसी एक वर्ग, किसी एक धर्म, किसी एक जाति से विलुप्त सम्बन्धित न थी। यह सभी धर्मों की साधनाओं के प्राणभूत सार्विक तत्त्व की वात्सवात् करी भी मौलिक बनी रही यही कबीर की सबसे बड़ी विशेषता थी, कबीर के समाज सुधार की सम्पत्ति के लिए उनकी निर्गुण भाव भगति की सर्व व्यापक में रत्ना फँसना क्योंकि समस्त धर्मों के बाह्य तामसिक और राजसिक कार्यों को ध्वंस करके वे उसी का मण्डन करते हैं।

(ब) धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप

धर्म का समाज से अतिष्ठ सम्बन्ध है। समाज की धारणा करने वाले तत्त्व धर्म हैं और समाज है स्वकर्तव्य का ज्ञान रखने वाले-----

१- एक पदुहि पाठ एक प्रमहि उदास ।

एक नमन निरन्तर रहै निवास ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० २१६

वाले व्यक्तियों का समष्टि स्वल्प । कर्तव्या-कर्तव्य का विवेक करने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र कहलाता है। नीतिशास्त्र धर्म का प्रधान कर्म है। सामाजिक व्यक्ति का धर्म के लक्ष्य को पूर्ण परिचित होना परमावश्यक है। इस प्रकार व्यक्ति समाज और धर्म दोनों का मिलन बिन्दु है। यही कारण है कि जब धर्म का ज्ञान होने लगता है तब समाज की दूषित हो जाता है। कबीर का युग ऐसा ही था । वह धार्मिक ज्ञान का युग था । क्योंकि उस युग में समाज की पतन की पराकाष्ठा की ओर सीधे से बढ़े रहा था । महात्मा कबीर कभी तो विविध साधनाओं की बटिलता का वर्णन करते हैं, और कभी हिन्दू और इस्लाम धर्मों के बाहम्वरों, पातण्डों, बन्ध विश्वास का निर्दोष । सभी प्रकार कभी रुढ़ियों की हड्डी उड़ाते हैं । और कभी धर्म के ठेकेदारों की पीठ तोलते हैं । देखिये काजी साहब के वाचरण का कैसा रहस्योद्घाटन किया है :

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हते सब दोह ।

बहि भसीति लै कहे, दरि कटुं सणि होह ॥ ३

पंडित भी अपनी विषा के नियंत्रण में होते रहते थे । पंडित ही नहीं संन्यासी, जीगी और तपस्वी भी उत्कीर्ण से रहित नहीं थे । यथा-

पंडित ज्ञा माते पदि पुरान, जीगी माते जीग व्यान ।

सन्त्यासी माते तपसि, तपसी माते तप के भव ॥ ४

१- कर सेती माता फिरे---- । कबीर ग्रंथावली पृ० ४५

२- काजी सुको प्रमिया --- । कबीर ग्रंथावली पृ० ४२

३- कबीर ग्रंथावली पृ० ४२

४- .. पृ० ३०२

उस समय हिन्दू और मुसलमान दो ही धर्म प्रधान थे। हिन्दू के तात्पर्य हमारा स्नातन धर्म से है। स्नातन धर्म सबैव ही वाचरण प्रकृत रहा है। जब बौद्ध धर्म पत्तनोन्मुख होकर वाक्याचार प्रधान होने लगा तो उसीी हीदु में स्नातन धर्म के सार्विक वाचारी ने भी अपना अविरूपित रूप धारण किया। स्नातन धर्म के कर्णधार पंडित और ब्राह्मण बधि सजग हो गये। उन्होंने अपने धर्म की और भी बधि वाचार प्रधान बनाकर उसीी नीति दृढ़ करने की चेष्टा की। इसका परिणाम यह हुआ कि समान में वाक्याचारी की वा, ही वा गहं। पंडितों ने धर्म के वाचारवाति पदा के ही दृढ़ नहीं किया वरन् विचारपदा की दृढ़ बली के लिए औकानिक दान पद्धतियों की प्रस्थापना भी की। इन वास्तविक पद्धतियों और वाचारों के प्रकार के लिए औक ग्रन्थ रचि गये। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग वाचारों और विचारों के माया जाल में ही फँसकर रह गये और वास्तविक धर्म का लोप हो गया। कबीर ने एक लख पर इस परिस्थिति का मार्मिक वर्णन किया है :

“ वालम हुनो सबे, फिरि लोबी, हरि बिन सकल व्याना ।

० ० ०

० ० ०

कागद लिलि लिलि अगत मुलाना, मनहो मन न समाना ॥

हिन्दू समाज की ही यह दशा न थी।

इस्लाम के पैगम्बर भी पण्डित ही लुके थे। काजी साहब का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं :

“ काजी मुला प्रमिया बलिया हुनो के साथि ।

विल ये दीन बिसलिया, करद तई जब साधि ।। १

इस प्रकार उन्होंने सिद्ध किया है :

“ एक न भूला दोह न भूला, भूला सब संसारा । ” २

कबीर के जीवन का लक्ष्य समाज की इन्हों भिष्याचारी और विचारी के पायाबास से निकालकर एक सरस और सहज धर्म का उपदेश देना था । यह संदेश देने के लिए उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई थी ।

(स) पारस्परिक संघर्ष

कबीर का युग संघर्ष का युग था । एक जाति दूसरी जाति की दबाने की चेष्टा कर रही थी । दूसरी पराजित होने पर भी हार मानने की तैयार न थी । इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वेषाग्नि सदा भभका करती थी और धर्म की दृष्टि में इस जग्गि में नित्य प्रति होम हुआ करते थे । इन्हें देखकर कबीर की सरस और सात्विक आत्मा कांप उठी । उन्हें देखकर कबीर की सरस और सात्विक आत्मा कांप उठी । उन्हें दोनों वर्गों के ठेकेदारों से इतनी अधिक घृणा हो गई कि यह भयंकर क्रान्ति के रूप में व्यक्त होने लगी, उन्होंने साफ साफ कह दिया :

“ पंडित मुल्ला जी तिल दिया, जाहि मल्ले हम कह न लोया । ३

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४२

२- .. पृ० १५२

३- मोहि जाग्या दई दयास दया करि काहु कू समझाह ।

कई कबीर में कहि कहि हास्यो, जब मोहि दोस न लाह ।।

वे दोनों मार्गों का परिचय कर सकें। मध्यमार्ग की निकालने की चेष्टा में लग नये जो नवीन होती हुए भी प्राचीन से सम्बन्ध बनाये हुए थे। इस प्रकार यह दोनों से सम्बन्ध होकर भी दोनों से विलक्षण भी था। उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी मिली। उनका सुधारवाद इसी मध्यममार्ग के आधार भूमि पर खड़ा हुआ है। उन्होंने इसी भूमि पर दोनों की मिलाने की चेष्टा की थी।

(द) कबीर का कार्य

सदाचारण प्रिय कबीर अपने युग के सबसे बड़े साम्यवादी नेता थे। उनकी साम्यवादी प्रकृति उनके युग की ही विषमताओं की प्रतिक्रिया का परिणाम थी। युगीन परिस्थितियों में हम दिसता चुके हैं कि कबीर का युग विषमता का युग था। जीवन में, देश में, धर्म में, समाज में भेदों के विषमताएँ बढ़ती चली जा रही थी। साम्यवादी कबीर भला इनकी कैसे सफल कर सकते थे। वह उन विषमताओं को खड़ा करके ही दर्शन धर्म और समाज दोनों से छटाने में लग गए। इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि कबीर का तत्त्व सुधार करना न था किन्तु युगीन परिस्थितियों ने ऐसा बाँट कर के लिए बाध्य किया जा रहा है, उन्हें जब सुधारकों की पदवी मिलाने के किसे पर्याप्त समझी जा सकती है।

(य) दर्शन क्षेत्र में

यद्यपि भारत में दर्शन धर्म का ही जग माना जाता है। किन्तु विवेक की सुविधा के लिए हमने उसे धर्म से प्रायः अलग हो रखा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध तत्त्व विवेक से है। प्रायः दार्शनिकों ने तत्त्व विवेक में बुद्धिपूर्वक तर्क की ही प्रधानता दी है। भारत में ही वैतनाथ, जैतनाथ

विशिष्टाद्वैतवाद आदि विविध दर्शन पद्धतियों का विकास और उदय तर्क के बल पर ही हुआ है। यद्यपि वेदान्त सदैव तर्क के विरुद्ध रहा है, वेदान्त सूत्र और उपनिषद् बराबर तर्क की अप्रतिष्ठा घोषित करते रहे हैं। उन्होंने के समान कबीर ने स्पष्ट कह दिया कि जो तर्क के बल पर तत्त्व की दैवता सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी बुद्धि कहीं स्थूल है^१। यह तो हुई दर्शन चीज की पहली सुधारात्मक विशेषता। उस चीज की दूसरी विशेषता तत्त्व स्वल्प निष्पन्न सम्बन्धी है। तत्त्व निष्पन्न में उन्होंने अनुभूति की विशेष महत्त्व दिया है। उनके तत्त्व निष्पन्न में व्यवहितत्व की अप्रतिष्ठा का पक्का है। इसके एक एक और तीरे वेद सम्मत की रहते हैं, दूसरी और लेश्वरवाद के द्वारा मुसलमानों से सम्बन्ध बनाये रहते हैं। आपने विलक्षणवाद का पत्ता यहाँ भी नहीं झोड़ा है। वे तत्त्व की हिन्दू और मुसलमान दोनों के उपास्यों से विलक्षण घोषित करते हैं। तत्त्व निष्पन्न चीज की यही मौलिकता उन्हें दार्शनिक सुधारवादों का फल के समेत है।

(१) धर्म चीज में

समाज की स्थिति की सुस्थिर बनाये रखने वाला 'तत्त्व धर्म' है^२। यों तो धर्म शब्द बड़ा व्यापक है, किन्तु यहाँ पर उसका प्रयोग ऐसी लोक प्रचलित संकृति अर्थ में हो कर रहा है, इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से धार्मिक विश्वास, रीतिरिवाज, उपासना विधि और साधना पद्धतियाँ आती हैं। कबीर का एक अन्धानुसरण एवं अन्य विश्वास का एक था। लोग धर्म का पालन हृदय से नहीं मन से किया करते थे। यह कबीर ने अपनी

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २७७

२- महाभारत कर्ण पर्व ६६, ५६

एक उभिस में बतलाया भी है। कबीर की धर्म में जब तप, जप, ज्ञान, ध्यान, पूजा, वाचा आदि सब व्यर्थ लगते हैं। इसीलिए उन्होंने उनका सब प्रकार से तंडित किया है। यह सण्डन किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं है। मियाबाजार उन्हें जहाँ कहीं भी दिखाई दिये, उनका उन्होंने छटकर विरोध किया है। उस समय के प्रमुख धर्म हिन्दू और इस्लाम थे। इन दोनों धर्मों में जौन मियाबाजार प्रचलित हो गये थे। उन्होंने सबका सण्डन किया। एक ओर तो वह हिन्दुओं के जप, तप, सन्ध्या, वन्दन, माता, फेरना, तीर्थ व्रत, वासे तिलक आदि का सण्डन करते थे। दूसरी ओर मुसलमानों की नमाज, रोजा, हलाक आदि का तिल्ली उड़ाते थे। कभी कभी तो बाह्याचारों के प्रचारकों पर इतना अधिक क्रोध हो जाते थे कि कूटीकितकों को बर्बाद करने लगते थे। किन्तु ऐसा उन्होंने किसी दण्ड भावना से नहीं किया है। उनकी इस उग्रता के मूल में उनकी सत्य निष्ठा खिपी है, क्योंकि उनका कहना है, "जहाँ सचि तह भाई बाय"। इन सण्डनों के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है, वह यह कि वे अधिकतर बुद्धिवाद पर आधारित हैं। उनके सण्डन प्रायः सतर्क किए गए हैं। देखिये वे बाह्यस्वरियों प्रश्न करते हैं कि :

“जो रे सुदाय मसीत बसतु है, अजर मुक्तु किहो केरा ।

हिन्दू धरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न केरा ॥” ५

१-	कबीर ग्रन्थावली	पृ० १७४
२-	..	पृ० २२६
३-	..	पृ० ४२
४-	..	पृ० १७२
५-	..	पृ० २६७

कहींकहीं पर तर्क बहुत हो अधिक बुद्धिवादी हो वे कहते हैं :

“ नामें फिरें जोग ये हीरं मन का मृग मुक्ति गया कीरं ।

मृग मुहार जो सिधि हीरं, स्वर्ग ही मेहु न पहुँची कीरं ॥ १

कभी कभी तो वे ब्राह्मणियों से बड़ी सहानु-
भूति के साथ प्रकट हैं कि वे किस विचार से बाह्य पूजा में संलग्न हैं। वे उन्हें
बतलाते हैं, वास्तव में आत्मा ही ब्रह्म है। उसमें बिना विश्वास किए हुए फल
पत्र बढ़ाना अधर्म है। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बाह्याभारों का ही
संकेत नहीं किया है, अवधूतों और जनों की भी स्मरण की है। अवधूत ही नहीं
वेष्णवों की भी किसी से बड़ी भद्रा की दृष्टि से देखते थे, उनकी ब्राह्मण-
प्रियता के लिए संजित किया है। बाह्याहमरों का विरोध कबीर ने संकेत-
पूर्ण स्तरों में ही नहीं किया है, उपदेशात्मक स्तरों में भी किया है। ऐसे स्थलों
पर वे उपदेश और गुरु रूप में विस्तार करते हैं। देखिये जोगी की कंसा उपदेश
दे रहे हैं :

“ बासण पवन किये बृह रह रे मन का मेत झाँकि ये बीरे । ” ३

कबीर ने केवल बाह्याहमरों और वैशाहमर
का ही संकेत नहीं किया है। भिन्न भिन्न प्रकार के साधकों की उनकी सच्ची
साधना तथा धर्म का भी उपदेश दिया है।

इस प्रकार के उपदेश देते समय उन्होंने किसी
प्रकार की मेकभावना नहीं रखी है। भक्त की वे राम की पूजा और सद्गुरु की
सेवा करने का आदेश करते हैं तथा उसे भिन्ना-पासण्ड से बचने की सलाह देते

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १३०

२- उपरिषत् पृ० ४६

३- उपरिषत् पृ० २०७

हैं। इसी प्रकार जोगी की उसकी साधना का लक्ष्य स्वल्प समझते हैं। धर्म, सत्य, वादि का उपदेश देते हैं, और पातण्ड स्व काम, क्रीडाग्नि से दूर रहने का उपदेश देते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण वादि की भी उन्होंने अपनी कलम व्याख्या दी है :

‘सो हिन्दू सो मुसलमान बाका दुस्स रहे इमान ।

सो ब्राह्मण जो कये ब्रत- गियान काजी सो जो जाने रहिमान ॥

कबीर की बहुत सी सुधारात्मक, उचितार्थ, उपदेश, नीति भर्त्सना, या वात्म बोध कथ्य वादि विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई हैं। कुछ सुधारात्मक, उचितार्थ, उपदेश, नीति भर्त्सना, या वात्म बोध कथ्य वादि विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई हैं। कुछ सुधारात्मक उचितार्थ ती सिद्धान्त कथन के रूप में विस्तारित पड़ती है।

(स) समाज चौत्र में

समाज चौत्रमें कबीर की सुधार- भावना अपने कर्तिपुर्ण रूप में अभिव्यक्त हुई है। समाज चौत्र में जो सबसे बड़ा कार्य करना चाहता था वह था साम्यवाद की प्रतिष्ठा। कबीर समाज में ऊँच- नीच, ब्राह्मण, दानविय, शूद्र वादि के भेदभाव की सख्त नहीं कर पाते थे। उन्होंने इस भेदभाव के वाग्रथ देने वाली की कच्ची तबक सी है, और दृढ़ता से उसकी निरर्थकता सिद्ध कर दी है। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है :

‘भूला भरमि परे जिनि कीहं, हिन्दू तुलक झूठ कूल दोहं ।’^१

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २०४

२- उपरिष्ठ पृ० १६८

इसी प्रकार की उक्तियाँ गुरु के ग्रन्थ में
कहते हैं :

‘ एक ज्योति से सब उत्पत्ता, कौन ब्राह्मण कौन भूषा ॥

उनका गुरु विश्वास था कि शक्ति सभी मिल सकती है कि जब मनुष्य में सम-
दृष्टि आ जाती है। वे गीता के समान कहते हैं :

‘ लोहा कंधन सम करि जानहि, ते घुरत भगवाना । ’ १

कबीर की वाणी ने समाज के पीछे में एक
तीर बहुत बड़ा कार्य किया था। वह है सात्विकता और वाचरण प्रणता
का प्रसार। कबीर के युग में वासना बप्ता भर्कर रूप धारण करती आ रही
थी। कबीर की उसका छटकर सामना करना पड़ा था। उसके लिए उन्हें स्त्रियाँ
निन्दा करने पड़ी, ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ा। इसके बतिरहित उन्होंने
महि-भक्षण^२ ? भक्षण का भी निषेध किया उन्होंने समाज में सात्विक
वृत्तियों के प्रसार के लिए बड़ा तप किया था। वे क्रोध, लुब्धा, हिंसा,
कपट वादि बिलनी कृष्णवृत्तियाँ हैं, उन सबके कट्टर विरोधी थे।

बोवन की सरसता^३, हृदय की निष्कपटता^४,
मन की शुद्धता, वादि का प्रसार करना कबीर के सामाजिक सुधार का प्रमुख
तत्त्व था। उन्होंने सर्वत्र मन पर जोर दिया है। कभी कभी तो कबीर का सुधा-
रु तीर उपदेशक रूप बहुत स्पष्ट हो गया है, यह उचित है।

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १५०

२- कबीर कहा गरवियाँ ॥ (कबीर ग्रन्थावली पृ० २१)

३- हरि की नाम । (कबीर ग्रन्थावली पृ० १७७)

४- कबीर ग्रन्थावली पृ० १७८

‘बली विनारी रहे सभारी, कस्ता ई नु फुकारी ।’

उन्होंने मिथ्या कर्मकाण्ड का भी बड़ा विरोध किया है। उनका व्यक्त विश्वास था कि :

‘कृणी करनी राम न पावै, सधि टिकै निज स्व दिलावै ॥१’

धर्म की बहुत सी बाँहें लोकाचार, वेदाचार, कबीर कृप्याओं के रूप में परिणत हो जाती हैं। इसलिए कबीर लोकाचार और वेदाचार का पालन करना उचित नहीं समझते थे। कबीर ने इन सबका सफ़ाई किया है :

‘ताके कहिए लोकाचार वेद, कतेब कये व्योहार।

०

०

बीजत पियहि नारे डंडा, भुवा पिय नै पाले गंगा ॥’ २

इतनाही नहीं बल्कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया है कि कबीर के उद्धार कामुख्य कारण साम्य दृष्टि ही है :

‘ऊँच नीच सम सरिया, तार्क जन कबीर निखतरिया ॥’ ३

कबीर की इस प्रकार की सफ़नात्मक प्रवृत्ति को देखकर बहुत से लोग उन्हें बराकतावादी मानने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि कबीर ने पदापातपूर्ण सुभाषनाओं से प्रेरित होकर उचित अनुचित सभी

१-कबीर ग्रन्थावली पृ० १५६

२- उपरिषत् पृ० २०७

३- उपरिषत् पृ० १५०

प्रकार की धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का पूर्ण जीवन करने का प्रयत्न किया था। कबीर ऐसे सत्त्वान्वेषी महात्मा पर इस प्रकार का दीव्यारीपण करना उचित नहीं। ^१कॉस्टकिन नामक विद्वान् ने कहा है कि "मनुष्य की यह साधारण प्रवृत्ति है कि वह समाज की उपयोगी प्रथाओं और संस्थाओं की कटु नहीं करना चाहता है। जब साधारण मानव के सम्बन्ध में इस प्रकार के सामाजिक सिद्धान्त स्थिर किया जा चुका है तो कबीर ऐसे सत्त्व और लोक-कल्याण विनाशक महात्मा ने पदापातपूर्ण दुर्भावनाओं से प्रेरित होकर सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं की कटु-बालीबना की थी। ये बात सम्भव में नहीं आती। कबीर की बराकतावादी तो किसी प्रकार से नहीं कर सकते। बराकतावादियों का लक्ष्य इस प्रकार की राजकीय व्यवस्थाओं का विनाश करना होता है। ^२कबीर ने कभी इस प्रकार का प्रयत्न नहीं किया था। डॉ. सिकन्दर लोदी वाली विवेचन की आधार पर यदि यह कहना चाहें तो इतना कह सकते हैं कि वे वाय्वात्मिक क्षेत्र में राजकीय सत्ता के प्रभुत्व की अस्वीकार करते थे, उसका विध्वंस करने का प्रयत्न उन्होंने कभी नहीं किया था। उन्हें धार्मिक और सामाजिक बराकतावादी भी नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी विध्वंसात्मक प्रवृत्ति रचनात्मक भावना से प्रेरित हुई थी। उनके भी मूल में सत्य निष्ठा काम कर रही थी। एक बात जरूर उनमें बराकतावादियों की दिलाई पड़ती है, वह अन्य विश्वासी की अपेक्षा सुदिवादिता की महत्व देना किन्तु कबीर में बराकतावादियों की यह प्रवृत्ति भी अपनी विचारात्मक विशेषता से विशिष्ट होकर उदय हुई थी। सब तो यह है कि उन्हें हम किसी राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिकवाद के कटघरे में बन्द नहीं कर सकते। वे क्रान्तिवाद

१- कार्लिस्ट कम्युनिज्म पृ० ४

२- रीडिंग्स इन पीसिटिक्स फिलीसफी - कोकर पृ० २६

महात्मा थे , जिनके जीवन का लक्ष्य साम्यवाद की प्रतिष्ठा करना था किन्तु उनका साम्यवाद भी अपनी क्लृप्त विशेषताएँ रखता है। इंग्लैंड के डायसेफिटकल वाइडियसिन्स और कार्ल मार्क्स के डायसेफिटकल मॅटोरियसिन्स से कबीर का साम्यवाद बिल्कुल भिन्न है। इसे हम सामाजिक और वाय्यात्मिक साम्यवाद कह सकते हैं किन्तु यह 'सेटी' के सामाजिक साम्यवाद और घूर के नैतिक वादर्स-वादी साम्यवादों से भी भिन्न है। 'सेटी' का सामाजिक साम्यवाद केवल स्त्री और बच्चों का साम्यवाद था ।

कबीर ने मानव मात्र के साम्यवाद पर जोर दिया । अतः वह 'सेटी' के सामाजिक साम्यवाद से कहीं ऊँची वस्तु है। कबीर का वाय्यात्मिक साम्यवाद घूर के नैतिक वादर्सवादी साम्यवाद से भी भिन्न नहीं लाता । 'सेटी' और घूर ने उन वादर्सवादी साम्यवादों का वर्णन किया था , जिसे कार्य रूप में परिणत करना असम्भव ही सम्भव जाता है। किन्तु कबीर ने अपनी सामाजिक, धार्मिक और वाय्यात्मिक साम्यवाद की अपनी जीवन में चरितार्थ होते देखा था । उनके मत के जितने अनुयायी थे । वे सब सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से समान थे । कबीर उनमें तथा अन्य मानवों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानते थे । कबीर का साम्यवाद एक और तो इसलामिक साम्यवाद से प्रभावित प्रतीत होता है और दूसरी हिन्दुओं के जैतवादी वाय्यात्मिक साम्यवाद से भी अनुप्राणित है। उनका साम्यवाद इस्लामिक साम्यवाद की व्यावहारिक और भारतीय जैतवाद की ज्ञानात्मकता के सुन्दर सम्मेलन से बना था । इस दृष्टि से उनका साम्यवाद अपनी क्लृप्त विशेषताओं से विशिष्ट होने के कारण पूर्ण मौलिक है।

इस प्रकार कबीर की सद् समान प्रियता उनकी

विचारधारा में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित दिखता है। उन्होंने परम्परागत बन्धविश्वासी, प्रयागी और संस्थागी का मुसीबतजनक धर्म, दर्शन और समाज सभी चीजों में बुद्धिवादी साम्यवाद प्रतिष्ठित किया था। अपनी लक्ष्य की पूर्ति उन्होंने इसमें सन्देह नहीं कि बड़े कठोरता के साथ की है। यह कठोरता कहीं कहीं अपनी बलि रूप में दिखता है। इसकी देकर ऐसा लगता है कि कबीर किसी प्रकार की पक्षपात पूर्ण दुर्भावनाओं से प्रेरित थे। किन्तु हमारी समझ में इस प्रकार की बड़े बालीबनाओं के मूल में उनकी कसब प्रकृति बहुत थी। पक्षपातपूर्णता बहुत कम। वास्तव में उनका साम्यवाद भारत के लिए एक मौलिक देन है। इसी के आधार पर चल कर आगे भारत का उद्धार हो सकता है।

✓ कबीर की वाणियों में सामाजिक चेतना

मानव चेतना का क्रियाकलाप प्राणिशास्त्रीय नियमों के बाधित है। किन्तु प्राणिशास्त्रीय नियमों के बाधित होते हुए भी चेतना बाह्य पर्यावरण से आनुवंशिक रूप से जुड़ी हुई है।

“ चेतना के तत्त्व बाह्य के वात्सल्य कृत बिम्ब हैं। उनका आधार बाह्य वस्तु है। वाकार बाह्यगत है। किन्तु उनकी बलि और उनका तेज वात्सल्य है। ”

सामाजिक चेतना किसी भी सामाजिक व्यवस्था का संश्लिष्ट उत्पादन है। और मनुष्य के ऐतिहासिक गतिविधियों का संश्लिष्ट कोश है। सामाजिक चेतना की निर्मिति के तीन बाधाएँ हैं :

१- कारणात्मक : एक पुनर्विचार - सुचितबोध पृ० २

१- मानव समाज की उत्पत्ति का ऐतिहासिक विकासक्रम,

२- संज्ञान शास्त्रीय और

३- समाजशास्त्रीय ।

प्रत्येक समाज व्यवस्था एक दूसरे से अपनी क्रायट और नेता में भिन्न होती है। मानव समाज के ऐतिहासिक विकासक्रम के दौरान तीन प्रकार की विशिष्ट संरचनाएं उभर कर सामने आती हैं : बाबिल समाज की नेता , वर्गीय समाज की नेता , और वर्गहीन कम्युनिस्ट समाज की नेता समाज के वर्गों में बंट जाने के कारण सामाजिक नेता वर्गीय नेता के रूप में प्रकट होती रहे । सामाजिक नेता के विकास के दौरान सैदान्तिक नेता में वान्तरिक विभेदिकरण होते हैं । और उसके भीतर विपदाकृत स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक , वैधानिक (विधि सम्बन्धी) नैतिक , धार्मिक , वैज्ञानिक , दार्शनिक और सौन्दर्यशास्त्रीय चीजें अपना पुष्क वस्तित्व स्थापित कर लेते हैं । बौद्धिक कार्यलाप शासक वर्ग का विशेषाधिकार बन जाता है जो भ्रमजीवी जनता को बाध्य करता है। वह सारोहिक भ्रम के लिए है । बौद्धिक चीजों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसका परिणाम यह होता है कि जनता को हर बौद्धिक तत्त्व से वंचित कर दिया जाता है । सत्ताधीशों के दिलों में यह भय समाया रहता है कि अगर वंचित जनता ज्ञान के तन्त्र से सँस हो गई तो उनकी प्रभुकारियों को सदा सदा के लिए नस्तोनाश कर देगी ।

“ सत्ताधारी वर्गों ने हमला ज्ञान पर अपना आधिकार रखने की कोशिश की है । और हर संभव तरीके से जनता को उससे वंचित रखा है। जनता को उन्होंने केवल सुन्न रूप में ज्ञान दिया है। ताकि अपनी सत्ता को और मजबूत करने के लिए वे उसका स्तेमास कर सकें । ”

सामाजिक चेतना के संज्ञानशास्त्रीय विश्लेषण

से तात्पर्य है कि मानव मस्तिष्क में चेतना का उत्पादन दो रचनात्मक धरातलों पर होता है। पहला धरातल है साधारण चेतना का जिसमें सामाजिक मानव की चेतना में यथार्थ प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित होता है। दूसरा धरातल है सैदान्तिक चेतना का। जिसमें यथार्थ का प्रतिबिम्बित ही कल्पाधिक गहरा होता है। वह पूर्ण संज्ञित चेतना कोश से जुड़ा होता है और वह चेतना के व्यवस्थित रूप में प्रकट होता है। साधारण और व्यवस्थित चेतना को एक सम्बन्धना भूत है। साधारण चेतना में एक निम्न स्तर का सामान्यीकरण होता है। जिसका प्रतिफलन दैनिक व्यवहार में होता है। साधारण चेतना में विचारों तथा सिद्धान्तों का सुसंगत रूप नहीं मिलता है। जबकि सैदान्तिक चेतना विचारों को सुलभ नष्टार के उत्तरीस्तर सुसंगत रूप में विकसित होती है। विषय वस्तु से इसका सम्पर्क पूर्ण संज्ञित विचारों से होता है। जैसे विचारों का ग्रीत प्रत्यक्ष अनुभव हो है। लेकिन मनुष्य हर एक चीज का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करता। वस्तुतः हमारा बकितिश ज्ञान अप्रत्यक्षतः अनुभूत वस्तु है। प्राचीन काल और दूसरे देशों सम्बन्धी हमारा सारा ज्ञान इसी तरह का है। मनुष्य का ज्ञान निम्न दो भागों की झड़कर और कुछ नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव का ज्ञान और अप्रत्यक्ष अनुभव का ज्ञान जो भरे लिए अप्रत्यक्ष अनुभव है वह ही सकता है कि दूसरे के लिए प्रत्यक्ष अनुभव से पूर्ण नहीं किया जा सकता ही। सभी ज्ञानों का स्रोत है मनुष्य की भौतिक इन्द्रियों द्वारा बाह्य का प्रत्यक्षीकरण। बाह्य के प्रत्यक्षीकरण से उद्भूत चेतना के वाच्यन्तिकरण और उस वाच्यन्तर का सतत संशोधन संपादन और संवर्धन ही तो सैदान्तिक चेतना या व्यवस्थित चेतना के नाम से जाना जाता है। ज्ञान को साधारण चेतना तथा व्यवस्थित चेतना में जो फेहरें वज्ञानिक, विचारकों तथा कलाकारों द्वारा विकसित होती है, गहरा सम्बन्ध होता है। और वे एक दूसरों को प्रभावित करती हैं। अतः सामाजिक चेतना के विकास में एक दूसरे जुड़ी हुई दो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। संज्ञानात्मक

प्रवृत्ति और विचारार्थक प्रवृत्ति संज्ञानात्मक प्रवृत्ति मनुष्य के वास्तविक व्यवहार के हितों से निर्धारित होती है। और इसी प्रवृत्ति से प्रकृति और समाज के विषय में वस्तुनिष्ठ ज्ञान संजित होता है। विचारधारात्मक प्रवृत्ति उन सामाजिक क्षेत्रों द्वारा निर्धारित होती है जिनका उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों को या तो कायम रखना है या बदलना है। यथावीचन में ये दोनों प्रवृत्तियाँ घुली मिली होती हैं। विचारधारात्मक प्रक्रिया का एक संज्ञानात्मक पक्ष होता है। और संज्ञानात्मक प्रक्रिया एक विचारधारात्मक पक्ष होता है। किन्तु फिर भी यह प्रवृत्तियाँ एक नहीं होती। और इनका विकास भी भिन्न नियमों के अधीन होता है। जैसे प्रकृति से मनुष्य के भौतिक सम्बन्ध सर्वेव उत्पादन के निश्चित सम्बन्धों के द्वारा साकार होते हैं। ठीक उसी प्रकार यथार्थ से मनुष्य के संज्ञानात्मक सम्बन्ध हमेशा तत्कालीन सामाजिक स्थितियों द्वारा उत्पादित निश्चित विचारधारात्मक रूपों द्वारा साकार होते हैं। विचारधारा सामाजिक चेतना का वह क्षेत्र है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज के समस्त उठने वाले सामाजिक कार्य भागों की पूर्ति से है। और जिनके द्वारा सामाजिक सम्बन्धों को बदलने या दृढ़ करने में सहायता मिलती है। वर्गीय समाज में विचारधारा का स्वरूप वर्गीय होता है। यानि वा विविध वर्गों के भौतिक हितों की बौद्धिक अभिव्यक्ति है। विचारधारा की प्रक्रिया में यथार्थ का एक सही और एक विकृत प्रतिबिम्ब होता है। राजनीतिक, वैधानिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक तथा अन्य भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं से यथार्थ का विकृत प्रतिबिम्ब विचारधारा में व्यक्त होता है। विचारधारा में यथार्थ का विकृत प्रतिबिम्ब कोई वास्तविक घटना नहीं होती बल्कि उसके कुछ ठोस भौतिक कारण होते हैं। प्रभुता और कधीनता के सम्बन्धों के उत्पत्ति के साथ जब वार्थिक क्षेत्र में प्रभुत्वशाली स्वामी वर्ग के हित सामाजिक उत्पादन की प्रेरक शक्ति बन जाते हैं, तो सामाजिक सम्बन्धों का सार सामाजिक जीवन

की ऊपरी स्तर पर विकृत रूप में प्रकट होता है। इसका कारण यह है कि परिष्कृतार्थों की स्तर पर समझीधी जनता का नीतिगत उत्पादन केवल प्रत्यक्ष-साक्षी वर्ग के उद्देश्यों को पूरा करने के रूप में प्रकट होता है। परिणामस्वरूप ऐसा विभ्रम उत्पन्न हो जाता है कि चेतना नीतिगत और व्यावहारिक दोनों से निर्धनता दिताई देने लगती है और ऐसा लगने लगता है कि मानी परिवेश चेतना का निर्धारण नहीं करता बल्कि उल्टे चेतना ही परिवेश को निर्धारित करती है। इस मियाप्राप्त की प्रतिबिम्बित करने में चेतना अपने बाकी यथार्थ से अलग कर लेती है और उसके विरुद्ध लड़ती ही जाती है। ' इस कारण से लेकर चेतना की वास्तव में यह मियाप्राप्त हो जाता है कि वह वर्तमान व्यवहार की चेतना के ब्याप कृष्ण और है, इस समय से चेतना इस स्थिति में होती है कि अपने बाकी यथार्थ से मुक्त कर ले और ' शुद्ध ' विद्यान्त ' धर्मशास्त्र, दर्शन, नैतिकता आदि की रचना के लिए कदम उठाये।

सामाजिक मनोवृत्ति जन-चेतना है। यह उन विचारों और स्मृतियों से मिलकर बनती है जिसका निरूपण जनता के सामाजिक व्यवहार और कार्य के दौरान होता है। उसमें जनता के जीवन और उनकी क्रियाएं उनके हिस और आवश्यकताओं प्रतिबिम्बित होती हैं। सामाजिक मनोवृत्ति जनता की चेतना में जनता के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब है और वह जनता के दैनिक व्यावहारिक क्रिया का माप का बोध है।

व्यक्तियों की चेतना का मुख्य तत्त्व समाज से प्राप्त होता है। इसका विकास व्यक्तियों द्वारा सामाजिक अनुभव ज्ञान तथा समाज के अधिनियमों और आवश्यकताओं की आत्मसात् करने के आधार पर होता है, हर व्यक्ति जब जीवन में प्रवेश करता है तो वह न केवल नीतिगत

व्यवहार की वस्तु सामाजिक रूपों, भाषा, कलात्मक, कल्पना, नैतिक धारणाओं की भी वात्सल्यसाधक करता है जिसमें मानव-जाति नारी और के जन्म के प्रतिबिम्ब को वक्षित करती है। वास्तव में सामाजिक रूपों के बिना मानव चेतना का अस्तित्व ही नहीं सकता। लेकिन समाज केवल व्यक्ति द्वारा चेतना के सामाजिक रूपों की वात्सल्यसाधक करने का नहीं है। उसकी चेतना का स्वयं क्षेत्र ही, उसका उत्काव उसी कार्य कलात्मक के पीछे काम करने वाले प्रोत्साहन, प्रेरणा और उद्देश्य, किसी निश्चित मूल्य के प्रति उनका रुत, ये सभी चीजें समाज से प्राप्त होती हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक मनोवृत्ति को व्यक्तियों की चेतना की कला कला स्थितियों का मात्र योगफल नहीं समझना चाहिए। हम और सार दोनों की दृष्टि से सामाजिक मनोवृत्ति एक सामाजिक पैठार है जनता के मनों में वस्तुनिष्ठ सत्य का, उनके वास्तविक अस्तित्व का, उनकी समान जीवन स्थितियों का प्रतिबिम्ब है।

सामाजिक चेतना से मनुष्य को आवश्यक ज्ञान, संस्कृति और विचारधारा प्राप्त होती है। सामाजिक चेतना वह बौद्धिक वातावरण है जिसमें मनुष्य जीवनमार्ग का जीवन बिताता है तथा व्यावहारिक कार्य-कलाप करता है। जिसमें लोटी कड़ी समस्याएं ज्यों ज्यों कला कला समुदायों, वर्गों, राष्ट्रों, तथा पूरे समाज के जीवन में उठती हैं। प्रतिबिम्बित होती हैं। बचपनी जादमी लड़ी वातावरण में बसि लेता है। लड़ी में जीवन गुजारता है और लड़ी की वात्सल्यसाधक करता है। वह उन परम्पराओं तथा नैतिक बहिर्मुखों की भी समाज में या किसी उसके लोटे बायरे में प्रसिद्ध होती है। स्वीकार करता है और साथ ही उन विचारों, रुतों-रायों, आदर्शों की परम्परा-नापम्परा की भी कक्षा करता है। जिससे उसका वाचरण तथा कर्म के प्रति उसका रवैया प्रभावित होता है। वैयक्तिक चेतनामुक्तः एक सामाजिक चेतना है, क्योंकि प्रत्येक तभी समय की सामाजिक स्थितियों की पैठार होता है। लेकिन जीवनिष्ठ चेतना तथा सामा-

कि वेतना के मध्य कई चीजें जाती हैं जैसे वायु, जीवन, पदति, व्यक्ति के कार्य कलाप का स्वरूप, विकास का सामान्य स्तर, समाज की स्थिति आदि इसलिए मानव द्वारा सामाजिक वेतना के कसर को वात्सल्यता करने की शक्ति सम्मान होती है। और यह मानव के व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। सामाजिक वेतना मानवों की व्यक्तिगत वेतना द्वारा विकसित तथा समृद्ध होती है। व्यक्तिगत वेतना सामाजिक वेतना के विकास का साधन है। अतः व्यक्तिगत वेतना में व्यक्त के प्रतिबिम्बित होने में सामाजिक वेतना द्वारा मध्यस्थता होती है। क्योंकि व्यक्तिगत वेतना का विकास सामाजिक वेतना के आधार पर होता है। दूसरी ओर सामाजिक वेतना में व्यक्त का प्रतिबिम्ब (या व्यक्त पर उनका प्रभाव) व्यक्तिगत वेतना के जरिये होता है उनकी पारस्परिक प्रक्रिया की यही दृष्टात्मकता है।

(ब) वेतना के रूप और जीवन दृष्टि

आदिम साम्यवादी समाज के विघटन के बाद वेतना की कसपटता उद्घिस्त होकर कई रूपों में विभक्त हो गई और आज तक सामाजिक वेतना निम्नलिखित मुख्य रूपों में व्यक्त होती रही है। राजनीतिक विचारधारा, विधि- वेतना, वैदिकता, धर्म, विज्ञान, दर्शन और कला और साहित्य अर्थात् साम्य- बोध । इन्द्रधनुष के साथ रंगों की भाँति इन्हीं से प्रत्येक समाज में बौद्धिक जीवन की रंगारंग तस्वीर बनती है। वेतना के सभी रूप एक समुच्चता में सुसम्बद्ध होकर समाज की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। प्रत्येक की अपनी अलग विशेषता है, अपना अलग रंग है। वह मनुष्य के विशेष सम्बन्धों और कार्य कलापों की बहुरंगी को पूरा करती है। वेतना के रूप सामाजिक वेतना के वपलाकृत स्वतन्त्र रचनात्मक तत्त्वों के रूप में होते हैं। उनके सार और ऐतिहासिक विकास की विशेषताओं का अध्ययन विशेष विद्वानों द्वारा किया जाता है। जैसे- विधि वेतना और विधि का अध्ययन

विधि के इतिहास और सिद्धान्त द्वारा किया जका जाता है। कता और उसकी शाखाओं का कताशास्त्र के द्वारा विज्ञान का अध्ययन विज्ञान के द्वारा और वर्गों का उसके इतिहास द्वारा। चेतना के ये सात रूप समुच्चय में सुव्यवस्थित होकर जीवन दृष्टि का ढाँचा तैयार करते हैं। वर्गीय समाज में चेतना के इन रूपों का स्वल्प भी जो हिस्से में बँट जाता है। वैज्ञानिक चेतना तो शीघ्र और शीघ्रित्व दोनों में कलक कलक दिसाई तो नहीं दिखी किन्तु शीघ्र शिविर में उसकी व्याख्याएँ प्राप्त विचारों की दृष्टि के लिए की जाती है। वैज्ञानिक ज्ञान से उपलब्ध कल्याणकारी सकारात्मक परसुर्वा की ठोकर मारकर शास्त्र शीघ्र वर्गों के नकारात्मक परसुर्वा ही को स्थापित करते हैं। जिससे वह अपने मुट्ठी भर वर्गों के हितों को धुरला कर लें।

वर्गीय समाज में हर व्यक्ति किसी न किसी वर्ग का पदाधार होता है। कतः उसकी जीवन दृष्टि एक वर्ग विशेष की ही जीवन दृष्टि होती है। जिस तरह शीघ्र वर्ग सामाजिक विकास में कड़ी बाधक समित बन जाता है ठोके उसी प्रकार उसके पदाधार विन्तकों की जीवन दृष्टि भी सामाजिक विकास को लहरा करने में कर्ष भूमिका बादा करता है।

कबीरदास जी का जो व्यक्तित्व हमारे सामने उभर कर आया है। उसका मूल कारण समाज ही है। व्यक्तित्व के व्यक्तित्व का विकास होता है वहाँ पर उस काव्य की सामाजिक परिस्थितियों का उस पर अवश्य ही प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीरदास जी की कबीर मानने में उस समय की सामाजिक परिस्थितियों का बहुत ही योग रहता है। कबीर का ईश्वर शिवाय स्व प्रेरणा का प्रीत मुख्य रूप से समाज ही रहा था। वर्ग, धर्म वादि कल्प शीघ्रों के विचार में अध्ययन की प्रेरणा कबीर की समाज से ही हुई थी। यह सत्य है कि कबीर की दृष्टि में शास्त्रीयता नहीं थी। किन्तु संपूर्ण

दार्शनिक समस्याएँ, कठिनाइयाँ और रुढ़िवादिता को भी उन्होंने बढ़ी ही निर-
 विन्तनीय दृष्टि से देखा था। उस समय जिन दार्शनिक दीर्घों तथा वर्गों में समाज
 की स्थिति शोचनीय थी। साधारण जनता उस काल की दार्शनिक व्यवस्था से
 सन्तुष्ट नहीं थी। ऐसी बात नहीं थी कि लोक में उस समय किसी दर्शन की वाव-
 रकता नहीं थी, किन्तु भेद भाव एवं वैमनस्य से विहीन सुन्दर एवं उत्तम दर्शन
 की आवश्यकता थी। कबीर को चिन्तन कला ने इस आवश्यकता की पूर्ति की
 दिशा में एक निश्चित कदम उठाया। कबीर दर्शन को एवं समाज को जलम जलम
 नहीं करता चाहते थे। जो दर्शन समाज को जलवा जिस दर्शन को समाज की वाव-
 रकता थी। कबीर ने उसी की लीज की उसी को एकत्रित किया। उसी की
 व्यवस्था भी की। धर्म के सम्बन्ध में भी कबीर का ऐसा ही विचार था। कबीर
 की उस धार्मिक मान्यता का अनुमान कर सकते हैं जो कि समाज की एकता के
 क्षेत्र में बाधती थी। इससे यह पूर्ण रूप से स्वीकारा जा सकता है कि कबीर
 को वह कोई भी धर्म स्वीकार नहीं था जो कि समाज में भेदभाव की स्थिति की
 जन्म दे। यही विशेषता कबीर के नैतिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत रख सकते हैं।
 'सठे साठ्य समाजोत् ।' की नीति इसका पक्ष कबीर कदापि
 नहीं लेते वरन् उनका विश्वास तो 'जो तीरुं काँटा हूँ, ताहि बीरु तू फूल'
 में है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि इस पक्ष एवं कदम कदम पर प्रत्येक स्थिति
 में कबीर सामाजिक एकता के पक्ष में थे। सामाजिक बिसराव नहीं चाहते थे,
 नहीं वह सामाजिक स्थिति में किसी भी धर्म एवं सम्प्रदाय का कोई समाज विरोधी
 परिवर्तन ही स्वीकार करने वाले थे। समाज ही कबीर की मूल प्रेरणा का कारण
 बनता है। वे कुछ सोचते हैं तो समाज से और सिखाते हैं तो समाज को ही सिखाते
 हैं, समाज की सम्पूर्ण स्थितियाँ उनके दृष्टिकोण को विस्तृत एवं विनयपूर्ण उद्गार
 बनाती हैं- साधारणतः समाज के दो रूप कबीर हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं-
 एक तो वादों रूप तथा निन्दित एवं गर्हित रूप फलता रूप कर्मयोग है, कबीर उसे

प्रसिद्ध से व्याप्त देखना चाहते हैं और दूसरा रूप गहिरा है, उसकी वे निन्दा करते हैं, ये दोनों रूप समाज के दो हीरों की ओर उल्टे करते हैं। इन दोनों के बीच समाज का जो रूप है उसके विषय में कबीर न तो चिन्तित हैं न ही उस पर गम्भीरता से विचार ही करते हैं न उसकी प्रस्तुत करने का प्रयास ही उनकी वाणी से दृष्टिगत होता है। परन्तु अन्य उदाहरणों द्वारा वह हमारे सम्मुख प्रस्तुत ही जाता है। जैसे-

(क) 'संत न होई संतई, जे कोटि मिलैं कसंत ॥

बंदन भुवना बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ॥ १

(ख) 'सो जीयो जाकें मन में मुद्रा ।

रति विषय न करहें निद्रा ॥

(ग) 'सकल वरण छत्र छै, सकति पुजि मिति लाहि ।

हरिदासनि की भाँति करि, केवल जमपुर जाहि ॥ २

(घ) पढ़ि पढ़ि पंडित वेद ब्रह्माण्ड ।

भीतर कृती बसत न बाँण ॥

(ङ०) 'किमलि करै सलास विचारै, बाप कहाँ मोटे ।

जाकरी ओर निवाले हाविर, साँहें सेती लोटे ॥

'हरि हीरा जे जोहरी, से से माँहिय हाटि ।

जब र मिलिना पा रिखु, तब हीरों की लाटि ॥

१- (क) कबीर ग्रन्थावली पृ० ५१२ (ख) कबीर ग्रन्थावली पृ० १५६, २०६

२- (क) कबीर ग्रन्थावली पृ० ४३-४४ (ख) कबीर ग्रन्थावली पृ० १०२-४२

(ग) ,, १६७, ३२३

संत कबीर में जिस स्थान पर भक्त कवि
 बोलता है वहाँ पर अधिकतमः वादश प्रस्तुत होता है और वहाँ पर एक समाज
 सुधारक बोलता है। वहाँ पर सामाजिक भेदभाव की कालोन्मा ही हमारे सम्मुख
 आती है। वहाँ कबीर का सुधारक प्रस्तुत होता है। वहाँ उनका कवि सुष य सुष
 (कदृश्य) ही जाता है :

‘ कबीर भेष कतीत जा , कस्तुति करै वपराध ।

बाहरि दीसिबाध नति, माहिं महा कबाध ॥ १

०

०

‘ कबीर यह जन कैला, कैसी कैधी नाह ।

बड़ा था सो मरि गया, कौी नाम चटाह ॥ २

कबीर का सुधारक रूप सदैव सरताज के ही
 अवगुणों पर अपनी दृष्टि अंकित करता हुआ उनकी निन्दा करता है। सुधारक
 के मितता पुसता कबीर का एक रूप उपदेशक का भी है उसमें भी कबीर का कवि
 रूप नहीं बोलता है, सिद्धान्तों की ही प्रस्तुती मात्र दृष्टिगोचर होती है :

‘ निधइक बैठा राम बिन, बेति न करै फुहार ।

यह तन जल का बुबुदा, बिनसत बाहिरी बार ॥ १

०

०

जो बग्यां सो बाप्यो, पुस्या सो कृमिस्तह ।

जो निणियां सो ठहि फँ, जो बाया सो जाह ॥

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४६

२- उपरिखत् पृ० ७

ऐसे उपदेशों में साधना या विवेक की शिक्षा ही प्रसृत होती है। उन सभी में कबो-किसी भी व्यक्ति को उपदेश देते हुए वे प्रसीत होते हैं।

कबीर का प्रसिनीय समाज संत समाज है। संत

यावैष्णव भक्त कबीर की प्रसा के मुख्य रूप से पात्र रहे हैं। कबीर संत जीवन के ली कि स्व वाच्यार्थिक दोनो ही पदों को सम्मिलित रखकर ही " संत " के समुदाय को परल करते हैं। संत जीवन की पहली सीढ़ी उसका सामाजिक व्यवहार है। उसके साथ रहकर जंत भी संत बन जाता है। सदाचार भक्ति की ही धूमिका है और भक्ति सदाचार की मारीक बनाती है। इस प्रकार से कबीर काव्य में सामाजिक अन्यायना स्थापक रूप से व्याप्त है। कबीर ने जिस प्रकार से ऊँच नीच एवं मेढभाव की निन्दा की है उसी प्रकार से बुरा जावरण भी कबीर की लिखित भी फन्द नहीं है। इसलिए जिस स्थान पर भी कबीर की गन्दा जावरण दृष्टिगत होता है वहीं पर उनकी बाणी कठोर प्रकार करती सी प्रतीति होती है। कोई भी व्यक्ति तिला हामि से वैष्णव नहीं बन सकता है । इसी तरह से मोक्ष, विभूति, बट्वा, पैशु आदि के समावेश से कोई जीमी नहीं हो सकता । एहो०॥ए०००॥ए०००॥ए०००॥ए०००॥ ऐसे ही व्यक्तियों को देख कर कबीर को कहना पड़ता है :

“ सी बॉगी बाके फल में सुआ ।

राति दिवस न करुं निद्रा ॥

0 0

पेन परजारि मसम करि मुक्ता, कहै कबीर धी लखै लैता ॥१॥

व्ययित के वाचरण और साधना की हीनता

१- कबीर ग्रन्थावली प्र० १५-२०६

तथा वस्तु-ज्ञान के प्रति उत्कर्षता कबीर बाणी की भी प्रभावित किसे किना नहीं रह सकती। ऐसे ही मनुष्यों को देखकर कबीर के मुँह से इस प्रकार के शब्द निकल पड़ते हैं :

“ माता पर्याय कुछ नहीं, रहस्य भूषा इहि भारि ।
बाहरि सेल्यो होइह, भीतरि मरी भंगारि ॥ ” १

० ० ०

“ कसौ कहा बिगाड़िया, वे मुँह सौ बार ।
मन को काहे न बुँडिये, जायँ बिचै विकार ॥ ” २

कबीर बाणी की सामाजिक उत्पत्ति (उत्पत्ति)

में एक बहुत बड़ा योगदान उस समय के व्यवसायों, संस्कारों एवं रीति रिवाजों का रहा है। इस सम्बन्ध में कबीर की बाणी की सामाजिक उत्पत्ति की स्थिति में हम दो धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। एक धारा में कबीर का सामाजिक बालीक का रूप द्रष्टव्य होता है। और दूसरी में उनका कवि का रूप किसी न किसी पक्ष से व्यक्त हुआ है। सामाजिक कुरीतियों की बालीकना पहली धारा के प्रवाह में ही हुई है। इसकी एक मालूम ये हैं :

‘ सकति से नेह फरि करि सुनति,

यहु न फ्यो रे भारं ।

जोर सुदाय तुलु मोहि करता, ती जाये करि जाई ॥ ३

इसी तरह से मरने के बाद पिण्ड मरने की रीति की मत्सरता की देखिए :

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४५

२- उपरिषत् पृ० ४६

३- .. पृ० १०७

“ जीवित फिर्तु जन्म न त्वावै ।

भुवा पावै प्येह मरावै ॥ १

ज्वान की बालीजना करते हुए कहते हैं कि :

“ मुत्ता कहाँ फुकारै हरि, राम रहीम रह्या मरपुरि ।

कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०कहु०

यहु तो जलस गूणा नाहो, वेत्तौ तल्लु जुनी पिस माही । ” २

ज्वान के सही रूप के बारे में कहा है कि :

“ हरि गुन गाह बंग में दीम्हा, काम क्रोध दोहँ विसपल कीन्हा ।

कहै कबीर यह मुत्ता फूटा , राम रहीम सबनि में दीठा ॥ ” ३

इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल कुरीतियाँ से कबीर की कुछ कहने के लिए ही प्रेरक हैं। वस्तु में प्रयत्न भी उनकी बाणियों की प्रेरक बनाती हैं। जो केवल ज्ञान रूपी बन्धकार की धृक् हो है। जिस तरह से कबीर ने ज्वान की ज्ञान रूपी बन्धकार माना है। उसी प्रकार से व्रत , रीजा, तीर्थ, स्थानों की गमन, यज्ञोपवीत आदि की भी प्रमत्तपूर्ण माना है। छुष्ट की कृप्या की भी कबीर ने ही सम्मान नहीं दिया है , “ रह रह री बहुरिया छुष्ट जिनि काटे ” कहकर कबीर ने वैश्वरीय सत्ता के रूप में छुष्ट की कृप्या का भी त्याग ही किया है। छुष्ट स्त्री के वाचरण की शया ही ऊँचा है वह उसके सतीत्य का रक्षा नहीं हो सकता है, इसलिए कबीर कहते हैं कि :

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २०७

२- “ १०७

३- “ १०७

“ घुष्ट काढयी सती न कोई । ”

कबीर ने शायद ही किसी कृपया कृपा बन्ध-
वाररूपी क्लान प्रया को पामा किया ही, कस्यग उन्होंने हर एक की किसी
न किसी प्रकार से तबर ली है। केष्ठ विस्मय की बात यह है कि कबीर की
वाणी में उसे कहीं भी बिना सिद्धि के नहीं माना गया वरन् उसे वादर वीर
मान की दृष्टि से देखा गया है :

“ सती बिचारी सत किया, काणी सेव विहाइ ।

सै सुखी फि वावणां, बहूँ दिशि जगति लगाइ ॥ ” १

प्रस्तुत साखी में तो सती स्त्री के प्रति वादर मान दीस ही रहा है। एक कस्य
साखी में भी सती प्रया के पल का समर्पण सा मिलता है :

“ विरहणी थी तौ बहूँ रही, बसी न फि के नाति ।

रह रह मुगध गहिलही, प्रेम न ताबुं भारि ॥ ” २

इस कथन से हम कबीर के “ शवदाह प्रया ”
के समर्पण का भी सैत प्राप्त कर सकते हैं। समस्तान वीर लव- दाह के प्रयोगों
की बहुलता से उक्त सैत की पुष्टि ही होती है। कबीर ने दफनाने की क्रिया
का विरोध नहीं किया वरन् कई स्थानों पर वर्णन भी किया है, किन्तु इस
प्रया के प्रति उनका विशेष लगाव दिखाई नहीं देता । ऐसा ज्ञात होता है कि
कबीर “ दाह कर्म ” के ही पदापाती थे । हिन्दुओं के अन्तिम संस्कार की

१- कबीर प्रभावली पृ० ६६

२- .. पृ० १०

३- .. पृ० ६३, ३३

४- .. पृ० २२

लेयारियाँ के वर्णन की विशेषता भी इसी बात की स्पष्ट करती है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है :

“ पाँच गज दीपटी भांगी, बून लीयाँ सानि ।

वैसयर पीणरी हाँडी, नत्थी लादि प्लाँनि ॥ ” १

सारी प्रथा के प्रति कबीर की सम्मान दृष्टि का हल्का प्रसुत प्रमाण है। इन सभी रीति रिवाजों के अतिरिक्त विवाह प्रथा ने भी कबीर की वाणियाँ की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया है। कबीर के काव्य में विवाह की जैसी रीतियाँ प्रचलित थीं। किन्तु कबीर ने वर्णन के लिए हिन्दू रीति को ही चुना है। कबीर वाणी ने विवाह वर्णन से अपना सीधा सम्बन्ध कभी नहीं जोड़ा है, उसमें विवाह वर्णन केवल स्वरूप से ही आया है। इन उदाहरणों में रहस्य शैली का सुन्दर वर्णन और कविता के अच्छे उदाहरण सम्पुल आते हैं, एक उदाहरण यहाँ भी द्रष्टव्य है :

“ मैं सासने पीष गँहनि बाँहें ।

साँहें सीगि साध नहीं पूगी, गयीं जीवन सुदिनाँ की नाहें ।

पेव जनाँ मिलि पण्डप कायी, तीनि जनाँ मिलि लगन

लिसाहें ।

सखी सहेली नंगल गावे, सुत दुत पाये कलय बढ़ाहें ।

नाना रँग भाँवरि फेरी, गाँढ़ि जोरि पति ताहें ॥

०

०

बपौँ पुरिष पुल कबहुँ ने देखी, सती होत सम्झी सम्झाहें ॥ २

कबीर की वाणी के प्रेरणा के द्वारा उस समय

१- कबीरग्रन्थावली पृ० १६४

२- .. पृ० १६५

के सभी व्यवसाय भी हैं कबीर के व्यवसाय वर्णनों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें किसी भी व्यवसाय की निन्दा नहीं मिलती है। उनमें प्रतीकों के माध्यम से ईश्वरीय एवं साधनात्मक विवेकन में कटपटापन जा गया है। जो कि कबीर के कवित्व का परिचायक है। इन वर्णनों में तेली, चमार, कुम्हार, धोमर, बहिदो आदि सभी के व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उन्होंने महत्व केवल कुम्हार, वैश्य, बयन कर्म एवं कतारह कर्म को ही दी है। इनमें से वन्तिम तीन में तो यह कहा जा सकता है कि वे उनके जीवन से ही सम्बन्धित रहे हैं। इनके सम्बन्ध में उनका गहन अध्ययन रहा है। अतएव उनकी प्रधानता मिलना निश्चित ही है। परन्तु कृष्ण के सम्बन्ध में भी उनका ज्ञान कुछ कम नहीं है। उसका प्रमुख कारण यह ही सकता है कि कृष्ण इस समय के ही देश में प्रमुख व्यवसाय रह गया था क्योंकि फेसल घूमते हुए वह कृष्ण एवं कृष्ण कर्म के अधिक समीप रहे होंगे। यह भी सम्भव हो सकता है कि काशी में जिस मुहल्ले में कबीर रहते थे उसके पास भी कृष्ण कर्म ही होता था। जो कृ० भी रहा हो कबीर ने कृष्ण वर्णन की जड़े ही रुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। निम्न पद में कृष्ण वर्णन ही रहा है :

दादस कृष्ण एक बनमासी ।

हरि हम एक रंगा ॥ १

उपर्युक्त वर्णन से तीन बातें सामने आती हैं, एक तो यह है कि कृष्ण का वर्णन, प्रस्तुत है एक में न होकर 'अप्रस्तुत' रूप में ही हुआ है। दूसरी यह कि इसमें सिंघाई का साधन डकि या डकुली है और तीसरी बात यह है कि यह ऐसे स्थान को सम्मुख ला देता है जहाँ नदी का किनारा है। पानी की सतह भी ऊँची है। अतएव डकुली से ही

सिंघाई होती है। वैसे ही मध्यकाल में ढीकसी सिंघाई का प्रमुख साधन होने के नाते देश के लोक भागी में जहाँ पानी की सतह ऊँची रही है। कृष्ण के लिए लोकप्रिय रही है। किन्तु विस्मय नहीं कि यह वर्णन कबीर के निवास के आसपास का ही है। खेती की रफा कैसे की जा सकती है। कबीर की इसका व्यापक ज्ञान है। कृषि होने पर पुन खेती को बिगाड़ देते हैं 'सुरणा' के लिए कृषक लोग खेतों में (बिफुका) ' एक प्रकार का कपड़े का आदमी ' बनाकर टाँग देते हैं जिससे हटकर पुन वहाँ नहीं जाते हैं। कबीर खेती सम्बन्धी इस ज्ञान को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

‘ कतन दिन मृगनि खेत उपरि --- बरिया मकी सँभार ॥’^१

प्रस्तुत पद कबीर के बुद्धिमान का सूक्त रहा है। इसमें अनुभव का भी योग रहा है (सुनी सुनाई बातों) का भी इसमें कुछ की आवश्यकता ही रहा होगा । इसके स्पष्ट है कि कबीर ने बुद्धिमान का ज्ञान की अपनी साधना सम्बन्धी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का साधन बनाया है, इसीलिए कृष्ण सम्बन्धी बातें प्रतीकों का ही रूप ग्रहण कर रही हैं। कबीर वाणी की श्रेष्ठ उन्नति एवं उनके वचन कर्म तथा व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं। इसीलिए कबीर ने इनकी बुद्धि विस्तारों से ही प्रस्तुत किया है। कबीर ग्रन्थावली के केवल चार पद वचन कर्म सम्बन्धी कबीर की विशेषता की समान रूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं। सूत कातने की पूरी प्रक्रिया का वर्णन हमें निम्न पद में पुरा पुरा मिलता है :

तान्हां लीन्हां ----- भगवानां ही राम ।^२

०

०

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २१६

२- .. पृ० ६५

धना ज्यू ----- लागोबारा । १

तेरा हरि --- सब नासा ॥ २

मार्ह रे ----- नली हमारी ॥ ३

इन चारों पदों से वफा प्रक्रिया की अवनति होती होती है। साथ ही कुछ अन्य बातें भी प्रमाणित होती हैं। एक तो यह है कि जुलाहे लोग व्यापार के तिर ही नहीं बल्कि मजदूरी पर भी कपड़े बुनने का काम करते थे। दूसरी बात यह है कि उस समय (बेगार प्रथा) प्रचलित थी और जुलाहों को भी बेगार में कपड़े बुनने पड़ते थे। चौथे पद से यह ज्ञात होता है कि कुछ शासक वर्ग के लोग वस्त्रों का पूरा पूरा मूल्य भी भुगतान करते थे। साधारणतः ऐसी शोटी शोटी बातों का वर्णन किसी भी मुक्तक काव्य में कम ही होता है तथा उनका मिलना दुर्लभ ही होता है। परन्तु कबीर काव्य में इनकी भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है, इससे न केवल कबीर की ही सूक्ष्म दृष्टि पर प्रकाश पड़ता है, वरन् अभिव्यक्ति का शक्ति भी प्रकाश में आता है। यह वर्णन भी 'वस्तुतः' रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं। वही समय के व्यापार व्यवसाय से भी कबीर ने जिनका लो है। कबीर के समय में दो प्रकार के व्यापारी होते थे। एक तो वे जो अपनी निजी सम्पत्ति से व्यापार करते थे। और दूसरे वे जो कि बड़े साह-कारों से (कर्म) लेकर व्यवसाय करते थे। यह रूपया उन्हें मूल के साथ व्याज देकर ही बुकाना पड़ता था। इस सामाजिक स्थिति से प्रभावित होकर कबीर ने प्रतीक रूप में इस प्रकार से वर्णन किया है :

“मारे कागद कीर पराया ।” ४

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १२२

२- .. पृ० १८६

३- .. पृ० २०६

४- .. पृ० १२२

स्थित व्यापार के लोक साधनों में से प्रमुख साधन कौन था । सामान से लादकर बैलों को बहुत से बनजारे बाफ़ में पिंकर लोक देशों को व्यापार के लिए प्रस्थान करते थे, वे अपनी साथ सुरक्षा के लिए पैसल चलने वाले बादमियों को भी लेकर चलते थे । इनकी स्थान स्थान पर उस सामान का कर चुकाना पड़ता था । कई बार अन्य जातियों से इनका संघर्ष भी हो जाता था । इनकी सम्पत्ति भी समाप्त हो जाती थी । बिकर जाती थी । इस स्थल को दर्शाते हुए कबीर का कथन इस प्रकार से है :

“ पर जैसे बनिय ----- रही लाबि ॥ ” १

कबीर काव्य में स्त्रियों की आय का साधन केवल भूत कातना ही था जो कि उस समय कबीर के घर में ही होता था । साधारणतः भूत कातने का काम करना भी व्रज कर्म का ही एक अंग है । कबीर को इस व्यवसाय ने भी अपनी भावनात्मक एवं आध्यात्मिक क्रियुतियों को व्यवस्थित करने की प्रेरणा प्रदान की । प्रतीकों के माध्यम से कबीर ने जो मन रूपी रूढ़ि (चरहे) का वर्णन किया है। वह भी भूत कातने के व्यवसाय से प्रेरित होकर ही हुआ है :

“ मन भरी रूढ़ि --- फा बाता । ” २

कबीर ने किसी भी व्यवसाय की निन्दा नहीं की? किन्तु वे किसी भी व्यापार में जाहं हुं बेहमानी की निन्दा करते हैं। वे “ चौली बनज व्यापार करीबि ” के वाग्रहकर्ता हैं। “ तब तुम्ह काही बनजी लारी ” तथा “ तब तुम्ह काहे बनजी कुरी ” कहकर कबीर ने हमान-

१- कबीर ग्रंथावली पृ० २१५

२- .. पृ० १६५

३- .. पृ० १६७

४- .. पृ० १८७

५- .. पृ० १८७

दारी के द्वारा किये हुए श्रेष्ठ व्यापार की धुरि धुरि प्रशंसा की है।

कबीर के मतानुसार व्यापार का दुरुपयोग लक्ष्य केवल लाभ ही हो सकता है। वह भी सत्य पर आधारित लाभ ही हो सकता है। किन्तु उसका समीकृत लक्ष्य (अपने मूल धन की सुरक्षा) होना चाहिए।

हरलाम धर्म में (सुवलीरी) पर प्रतिबन्ध लगा है, किन्तु कबीर ने उसके विषय में कहीं कुछ भी नहीं कहा है। उस वादपी की निन्दा की है जो कि केवल स्वामित्व ही चाहता था और लाभो होने के कारण व्याज (कर्ज) पर धन देता था :

‘कसि का स्वामी लीभिया, मनसा धरी बघाह ।

देहि परैसा व्याज करी, लेती करती जाह ॥’ १

प्रस्तुत घांसी में लूट की कदावा देने की प्रवृत्ति एवं लाभ की निन्दा की गई है, व्याज एवं व्यवसाय की नहीं। संक्षेप में यह कहना उचित ही होगा कि समकालीन समाज में कबीर की वाणी की बहुत बड़ा सहयोग भी प्राप्त हुआ, कतना तो हम कह भी सकते हैं कि कबीर वाणी में समाज की भागी से जाया है : प्रत्यक्ष मार्ग से और अप्रत्यक्ष मार्ग से। जहाँ कबीर समाज की कुरीतियाँ, कृपणाई, कृत्थाई, अद्वितीय और बन्ध विश्वासों की निन्दनीय रूप में प्रस्तुत करते हैं, वहाँ समाज का प्रत्यक्ष रूप सामने आ जाता है, किन्तु जहाँ समाज की लोक प्रथाएँ उसके व्यवसाय (व्यापार) कर्तार से विशेषतः प्रती पदा से आते हैं, वहाँ समाज का अप्रत्यक्ष रूप ही समझना चाहिए परन्तु फिर भी समाज का रूप बड़ा स्पष्ट दिता है

देता है। स्पष्ट इसलिए कि वाचक शब्द जानेपहचाने हीनिकलते हैं। इसलिए वाच्यार्थ की व्यवस्था में भी अधिक बाधा नहीं होती किन्तु ऐतार्थ की गवेषणा कभी कभी बड़ी दुश्च हो जाती है। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है निम्नलिखित पद :

‘ अब न बसुं इहि गाँव गुसाईं, तेरे नेवगी खी सवाने ही रासि ।
बगर एक तहाँ जीव धरम छता, वसै जु फे किसाना ॥

अक्की बेर कसि बाये कीं, सब त्त करी नवैरा ॥

इस पद के वाचक शब्द एक ऐसे गाँव का दृश्य प्रस्तुत कर देते हैं। जहाँ पर पाँच किसानों के साथ ‘जीव’ नाम का व्यक्ति रहता है। उनके सेत को नापा जाता है और बाकी वसूल करने का प्रयत्न किया जाता है। परिशान होने पर भयभीत होकर किसान भाग जाते हैं और ‘जीव’ को बाँझर वसूलयावी की जाती है।

वाचक शब्दों के पीछे एक ऐतार्थ किया हुआ है। यदि इस पद में ‘राम’ ‘जीव’ ‘फे किसाना’ ‘जीर’ ‘धरमराह’ शब्दों का प्रयोग न होता तो संभवतः इस पद के ऐतार्थ की गवेषणा दुष्कर हो जाती। इसके अतिरिक्त इस पद की अन्तिम दो पंक्तियाँ, जिनमें भक्त का (दैन्य) सुतर रूप से विद्यमान है बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार कबीर ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों मार्गों से ही समाज की वृत्ता प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जो समाज के दोषों को भी प्रकाशित करते हैं और कबीर की साधनात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने में भी सहायक होते हैं।

(ब) धार्मिक उत्थ

कबीर सुनि धार्मिक वातावरण कबीर बाणी की प्रेरित करने में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामाजिक वैमनस्य का बहुत बड़ा कारण धर्म की विभिन्नता में ही लीजा जा सकता है। तन्मय कहा जा चुका है कि कबीर के युग में अनेक मत और सम्प्रदाय प्रचलित थे। उनके विकास में कार्य धर्म की विभूतियाँ, कार्य धर्म की रुढ़ियाँ तथा साम्प्रदायिक भेद दृष्टियों के अतिरिक्त धर्म गुरु कर्मकाण्ड प्रवर्तन करने की साक्ष्य का भी योग था। इस समय ब्राह्मण धर्म एवं कर्मकाण्ड के पातण्डों में फँसा हुआ था। बीदों और शैवों के फलन ने सिद्धों, कापालिका और कोनों की कृष्णार्थ का धर्म धारण कर लिया था। धर्म की जाड़ में व्यभिचार एवं दुराचार भी पोषित हो रहे थे। नाथ सम्प्रदाय ने भी अपनी पवित्रतावाद के सत्य की बाह्याहम्बर में विसर्जित कर दिया था। गोरक्षाथ का 'मोयोग' कबीर तक जाते जाते 'बाह्याहम्बर योग' बन गया था। योगियों की ऐसी स्थिति देखकर ही कबीर को यह कहना पड़ा -

‘जोगिया तन को जेद बनाइ, ज्यू तेरा बाबागम मिटाइ।

जिस वैभव के साथ नाथ पैय का उद्भव हुआ था, वह प्रतिष्ठा कबीर काल तक समाप्त हो गई थी- एक देरी के समान बह गयी थी। मन एवं आचरण की वह शुद्धता जो गोरक्षाथ ने योगी के लिए निश्चित की थी उसके बाह्याहम्बर में उलझ गयी थी। यद्यपि अब सिद्धों का युग नहीं रहा था, किन्तु उनकी साधना के अवशेष हमेशा भी दृष्टिगत होते हैं। उनके आचरण की दुर्दशा का मुख्य कारण ~~कबीर~~ कबीर की उनकी प्रान्ति में ही मिला था। इसलिए कबीर

ने निर्णायक ढंग से कहा - 'पर दारुण संघर्ष पड़ा, अब जीरासी सिध'।'

वैदिक धर्म ने भी अपनी मौलिकता को दी थी।

पुराणों ने वैदिक धर्म की व्याख्या में जिन प्रतीकों या कल्पनावली का उपयोग किया था। उनसे शिथिल हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का रूप ही निर्मित हो गया था।

स्वयं इस्लाम का विकास धर्म के तन्वीयन एवं कट्टरता की भूमिका पर ही चल रहा था। पीछा, भय एवं निराशा ने इस्लाम की उन्नति का मार्ग सुलभ कर दिया था। तलवार की धार उसे कहीं भी पहुँचा सकती थी। इसके भय से सभी भयभीत थे। उन सभी से सारांश हुई एवं निराश हिन्दु जनता किसी भी उदार धार्मिक विश्वास की भाँसा में ही शान्ति पा सकती थी। वही प्रकार किसी भी उदार धार्मिक विश्वास में ही धार्मिक विरोधान्ति लीन हो सकती थी। सुफियों ने केवल ऊपर से ही विरोध मिटाने का प्रयत्न किया किन्तु मोतरी तह में इसमें इस्लाम के प्रचार की पूरी तैयारी थी। किसी भी धर्म में 'मानव धर्म' की योग्यता हमें दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। कबीर ने इस कठिन धार्मिक समस्या को बढ़ो ही रोचकमयी दृष्टि से चिन्तित होकर देखा। कबीर ने इस समस्या को बढ़ी ही निष्पक्ष दृष्टि से देखा तथा बड़े ही शुद्ध विचारों के साथ उन्होंने उसकी धार्मिक जालीजना को उन्होंने दूध को दूध पानी को पानी बतला दिया। उस निराशाजन्य वातावरण में उन्हें केवल हरि भक्ति में ही जाला की किरण दिखाई दी, परन्तु वातावरण के अनुसार भक्ति के रूप को निश्चित करना एक बड़ा ही कठिन एवं महत्वपूर्ण कार्य था जो कबीर की वाणी द्वारा ही सम्पन्न हो सका। युगानुकूलता की दृष्टि से कबीर ने 'सगुणीपासना' के

स्थान पर निर्गुणीपना की ही स्थापित किया जिसमें सगुणीपासना के सभी गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे, किन्तु उसमें पूर्ति न थी, अज्ञानाभाव, तीनों स्थानों का दि के लिए कोई भी स्थान नहीं था। कबीर की निर्गुणी-पासना की भूमिका उनसे पहले ही कुछ फल लुकी थी। परन्तु शक्तिशाली व्यक्तित्व के अभाव के कारण उसकी प्रसिद्धि नहीं मिल सकी थी। उपनिषदों की आत्मोपासना ने अद्वैतवाद की धरा पर साराधित होकर सगुणीपासना के अनेक गुणों की अपनी भीतर खोज कर लिया था। कबीर के प्रेम के आत्ममग्न में वेदान्त का ब्रह्म (आत्मा) भी है और बुद्धियों का प्रिय (अस्माह या सुखा) भी विद्यमान है। अतएव निर्गुणीपासना में गुण की मणि की पूर्ण करने की चाहता भी विद्यमान थी और 'मानव धर्म' के अन्तर्गत सम्मिश्रित होने की योग्यता भी विद्यमान थी। जिस 'हरि भक्ति' को कबीर 'हरि भक्ति' कहते थे, कबीर ने स्वीकार किया। उसकी एकमात्र सत वास्तविकता भावना थी। कोई भी 'वास्तव' उसे स्वीकार कर सकता था, भक्ति का यह रूप नया नहीं था विकास की दशा में किसी धर्म को जिस जोड़ तोड़ की प्रवृत्ति प्रक्रिया में होकर गुजरना पड़ता है, प्राचीन मानवत धर्म को भी उसमें होकर गुजरना पड़ा। इसी क्रिया में उसी मौलिक रूप में भी परिवर्तन आ गया।

पुराण काल की अनेक मान्यताओं से भक्ति भी मुक्त न रह सकी। गीता में भक्ति के परिष्कार का यत्न दृष्टिगत होता है। आत्मवार भक्तों की वाणी में इस यत्न की ओर भी अधिक विरहित दशा को हम देख सकते हैं। सामाजिक दृष्टि से रामानुज की मान्यताओं में भक्ति को वह जोड़ार्थ प्राप्त न हो सका, जो राघवानन्द के शिष्य रामानन्द की मान्यताओं में प्राप्त हुआ। अतएव कबीर का प्रमुख प्रेरणा स्रोत रामानन्द सम्प्रदाय हो रहा था। उसकी भक्ति विचार्य मान्यताएं थीं। कुछ तो उन मान्यताओं की आया में और कुछ भीतिक उद्भावनाओंके प्रकाश में कबीर ने अपनी 'निर्गुणीपासना' के रूप का निर्माण

किया। इसका आधार प्राचीन होते हुए भी प्रस्तुतीकरण में मौलिकता का भी
 पुष्ट था। कबीर ने भक्ति के इस रूप को 'नारदी भक्ति' के रूप में प्रति-
 स्थापित किया है। कबीर की भक्ति का प्रमुख तत्त्व 'नाम स्मरण' या
 'नाम बप' है, किन्तु वे हरिगुणगान, देव्य प्रकाशन आदि की भी विस्मृत
 नहीं कर देते। 'आत्मसमर्पण' में भी उनका पूर्ण विश्वास है, उनका विश्वास
 'कर्मना' 'बन्धना' में नहीं है और उस कीर्तन में भी नहीं है जो कि ज्ञान के
 प्रेरित है जो अन्धाधुन्ध ही किया जाता है। नाम की महानता का वर्णन
 भक्ति के अनेक ग्रन्थों में किया गया है। पुराणों में भी नाम का यत्नगान किया
 गया है। 'विष्णु' 'सहस्रनाम' जैसे ग्रन्थों का उद्भव स्व विकास नाम के महत्त्व
 की स्वीकृति का ही सीला सिद्ध हुआ है। कबीर ने अपने युग के किसी धर्म की
 धर्म के रूप में ही स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने जिन जिन धर्मों की आस्थाओं
 और मान्यताओं की आलोचना की है, स्पष्टतः उनमें उनका विश्वास नहीं है।
 इसका प्रमुख प्रमाण यह है कि कबीर ने उनकी प्रशंसा नहीं की है। भक्ति की
 प्रशंसा करते उन्होंने उसी की तपाधर्म घोषित किया है। हाँ उन्होंने कुछ धर्मों
 के सिद्धान्तों और उनकी साधनाओं की स्वीकार करते भक्ति की प्रौढ़ स्व बलिष्ठ
 बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। उन्होंने बीड़ों, शैवों, नाथों, वज्रयानियों
 और सज्जनानियों में प्रचलित कुछ सिद्धान्तों और कुछ साधनाओं की नवीन रूप
 देकर स्वीकार कर लिया है। नाम की संपत्ता से यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिए
 कि कबीर ने अनेक धर्मों की साधनाओं की उनके मौलिक रूप में ही स्वीकार कर
 लिया है। जिस प्रकार से अशुद्ध स्वर्ण को तपाकर कच्चा बनाया जाता है, उसी
 प्रकार कबीर के विकृतिपूर्ण साधनाओं की घोषित करते ही स्वीकार किया है,
 इसका विवेचन सिद्धान्त और साधनाओं के प्रारंभ में अलग से नहीं किया जाएगा।
 कबीर की प्रमुख प्रेरणा तत्कालीन धार्मिक दशा से ही प्राप्त हुई है। धर्म के
 विकृत रूप में कबीर की सबसे अधिक प्रेरणा प्रदान की है। उनकी वाणी का ही

वर्धित समय धार्मिक विकृतियों की धजियाँ उड़ाने में ही व्यतीत हुआ है। कबीर की दृष्टि में उनके समय का एक भी धर्म तो विकृत मुक्त नहीं था। कुप्रथाओं, ऋदियों, कृत्साओं, बन्ध विस्वासाँ, बाढम्बराँ आदि के कारण मौलिक मानव धर्म समाप्त हो गया था। कबीर प्रथाओं, वैरा भुजाओं या तीर्थ स्थानों व्रत पूजा में धर्म की देखने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने धर्म के वास्तविक रूप की बाह्याढम्बराँ से मुक्त माना है जो धर्म सौकीर्णता से मुक्त और समता पर आधारित है और जिसका मूल सत्य और बहिष्ठा से पुष्ट भी है। वास्तव में वही धर्म है, उस कसौटी पर एक मात्र 'संत धर्म' ही उतरता है। 'वास्तविकता' 'स्व' 'प्रेम' की प्रधानता ने उस धर्म को दीप्यमान कर रखा है। कबीर संतों और वैष्णवों में अन्तर नहीं मानते हैं। इससे सम्बन्धित उनकी दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

‘साध संगति हरि भगति कि, कहू न आवे हाथ ।’ १

०

०

‘मेरे संगी दोह बणाँ, एक वैष्णवी एक राम ॥’ २

इन दोनों वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर 'साध' और 'वैष्णवी' अभिन्न हो जाते हैं। इनके धर्म की संत धर्म, साधु धर्म, वैष्णव धर्म, हरि भक्ति आदि कौन-कौन नामों से स्मरण किया जा सकता है।

इस दृष्टि से कबीर का धर्म 'हरि भक्ति' है, जिसमें मानव धर्म की उदात्ता प्रतिष्ठित है। भक्ति सभी दोहों का

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४६

२- .. पृ० ४२

निराकरण^१ और दुर्बलताओं का परिहार करके मनुष्य को निर्दोष एवं सबल बना देती है। भक्त में 'बाप सरीस' ^२ कर लेने की क्लृप्तता होती है। वास्तव कबीर का वादार्ज धर्म 'हरिमयित' या वैष्णव धर्म है। कबीर का वादार्ज समाज वैष्णवों या सेंटों का समाज है, जिसमें चाण्डाल को भी समुचित सम्मान मिलता है। उनकी दृष्टि में शायत ब्राह्मण अत्यन्त पतित और नीच है, वे उससे मिलना भी फलदा नहीं करते, किन्तु वैष्णव चाण्डाल से मिलने के लिए वे सदैव उत्कण्ठित रहते हैं, उसके प्रति वे बड़ा आदर मान रखते हैं^३। कबीर के वादार्ज समाज की नारी गरिमा नहीं है, वह पतिव्रता या सती है, किन्तु उनके नारी सम्बन्धी वादार्ज की ऊँचाई 'भक्त नारी' में ही दृष्टिगोचर हो सकती है। यह तथ्य उस समय अफि प्रकाश में आ जाता है जब वे (राम भक्त पतिहारी ' की ' नृप नारी ' की तुलना में रत्नर देखते हैं। और फिर समाज से प्रश्न करते हुए स्वयं उत्तर देते हैं।

‘क्यों नृप नारी नीचये, नष्ट पतिहारी की भनि ।

वा भाग खारे पीस की, वा नित उठि छुविरे राम ॥’ ४

कबीर उस सुन्दरी की धन्य मानते हैं, जिसकी कृपा से वैष्णव पुत्र का जन्म हुआ है, जो राम भक्त होने के साथ साथ रामा-श्रय होने से निर्भय भी है। वास्तव में सपूती तो ऐसे पुत्र की माता ही है, अन्य नारियाँ तो निपूती हैं। उसी प्रकार कबीर कुल की उत्समता की धन, संपत्ति

१- भक्त हजारी कपड़ा तामें पत न बनाइ ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० ५०

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० ५०

३- .. पृ० ५३

४- .. पृ० ५३

५- .. पृ० ५३

वर्ण या परम्परा से नहीं व्यक्ति, बल्कि वे उसी कृत को उत्तम मानते हैं, जिसमें हरिदास उत्पन्न हुआ है। हरिदास विहीन कृत को वे वाक वीर डाक से अधिक गौरव प्रदान नहीं करते^१।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर का श्रेष्ठ वादरभाव हरिभक्ति में केन्द्रित है। जिस व्यक्ति में अपना समाज के जिस वर्ग, मत या सम्प्रदाय में हरि भक्ति का अभाव है, वह कबीर की धृष्टता से मुक्त नहीं है। सब तो यह है कि कबीर का धर्म ईश्वर भक्ति में सम्मिलित है। कबीर का प्रभु या परमात्मा कोई अवतार नहीं है,^२ वह किसी वर्ग सम्प्रदाय जाति या देश की निधि नहीं है, प्रत्युत वह समान रूप से सबका है, सबके भीतर है, वीर प्रेम द्वारा उसे कोई भी व्यक्ति प्राप्त करने का अधिकार रखता है। उसका किसी भी नाम से, जो उसकी विभुता या प्रभुता का उचित वे श्रेष्ठ, अभिव्यक्ति किया जा सकता है। अतएव कबीर का निरञ्जन राम वीर रहीम या बल्लाह से अभिन्न है।

भक्ति हीन मनुष्य को देखकर कबीर की अत्यन्त खेद होता है, वीर वे यहाँ तक कह डालते हैं :

‘जा नर राम भगति नहीं साधी ।

सो जनमत कहि न धुणौ अपराधी ॥

० ०

कहे कबीर नर सुवर सरूप ।

राम भगति किन कृत कुरूप ॥’ ५

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ५३।८

२- .. पृ० १०३।४८

३- .. पृ० १०५।५३ तथा पृ० १०४।५१

४- .. पृ० १३६। १४८

५- .. पृ० १२८।१२५

कबीर राम की ' चिन्तामणि ' कहकर उसे
हृदय से सुरक्षित रखने का उपदेश देते हैं। जो लोग सिद्धियाँ और निधियाँ के
पीछे पड़े रहते हैं उनकी सावधान करते हुए वे ' नाम ' की ओर प्रेरित करते
हुए कहते हैं :

' राम मणि राम मणि राम चिन्तामणि ।
भाग बड़े पायी चाहें बिनि ॥ १

योग, तप, साधना, सिद्धि, आदि की
व्यर्थता प्रकट करते हुए कबीर हरिभक्ति का ही उत्कर्ष सिद्ध करते हैं।

' का सधि साधि करौं कहूँ नहीं ॥ २

जहाँ कबीर की वैष्णव भक्ति का उत्सव या प्रेरक रामानन्द रहे हैं वहाँ वे
राम नाम के मन्त्र के दाता भी हैं। यह ठीक है कि कबीर का आराध्य कोई
विशेष व्यक्तित्व नहीं है जो किसी विशेष रूप और विशेषनाम से ही जगत
फिरा जा सके। रूप की दृष्टि से उन्होंने उसे ' निर्जन ' ही कहा है। वे
उसको किसी नाम से अभिहित कर देते हैं। इसलिए राम नाम के साथ हरि,
' गोकुल नाथ बीठुरा ' आदि जैसे नाम प्रयुक्त होते हैं। फिर भी
कबीर का विशेष आग्रह राम नाम के प्रति ही है। कबीर की इस बातों से इस
बात की पुष्टि की जा सकती है :

' तत तिलक तिहुँ लोक में, राम नाव निज सार ।
जब कबीर मस्तक दिया, सोभा बधिक अपार ॥ ' ३

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १२७-१२८

२- .. पृ० १२७-१२८

३- .. पृ० ५१३

कबीर उसका प्रचार भी करते हैं :

“कबीर बापण राम कहि, बौरा राम कहाइ ।

जिहि मुसि राम न ऊचरे, तिहि मुसि फेरि कहाइ ॥ १

कबीर की वास्था का पुर्णान्ति राम भक्ति में अधिकृत कर लिया है। क्तर धर्मों की जो बातें कबीर की भक्ति भावना की पी-बक सिद्ध हुई हैं, उनकी भी कबीर ने ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में मौलिकता का प्रभुत योग है। उन्होंने कई बातों को क्तर झटकर भक्ति साधना के अनुकूल लिया है। जैसे ‘सहज साधना’, ध्यान, सुरति शब्द योग आदि भक्ति के मार्गमें बाधक सिद्ध होने वाली, या भक्ति वास्था को दुर्बल बनाने वाली बातों को कबीर ने न केवल उपेक्षा की है। प्रत्युत उनका ब्यावहार तण्डन किया है। अतएव भक्ति और धर्म को वभिन्न मानने वाले कबीर की बाणी के प्रसुत उत्सर्ग में धर्म का प्रमुख स्थान है। इसके विपरीत तपाकफित धर्मों के प्रति कबीर की वास्था ही नहीं, तब और दायी भी था। उनकी बालीबना से यह तथ्य अधिक स्पष्टता से प्रत्यक्ष ही जाता है।

साहित्यिक उत्स

यह तो बन्धुत कहा ही जा चुका है कि कबीर पुस्तक पाठ या पुस्तक ज्ञान के सम्पर्क नहीं थे। इसलिए यह मानना अनुचित न होगा कि पुस्तक लिखने के निमित्त उनकी बौर से कोई प्रयत्न नहीं हुए होंगे। जब कबीर स्वयं यत्नरुति हैं कि विधा न पढ़ बाव नहीं जानु तो स्पष्ट ही जाता है कि साहित्य से कबीर का कोई विशेष सम्पर्क नहीं रहा था। कबीर की

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ६। २३

२- ..

शान्तिभारिणी बुद्धि ने कुभव की ही मान्यता दी थी। 'कुभव की
वैसी 'बात के सामने वे 'कागद की तैली' को कोई महत्व नहीं देते थे।

(घ) धार्मिक एवं लौकिक साहित्य

कबीर के युग में दो प्रकार का साहित्य

विद्यमान था। धार्मिक तथा लौकिक। वेद, उपनिषद्, शास्त्र, पुराण, स्मृति, गीता, बौद्ध, और जैन धर्म ग्रन्थ तंत्र-ग्रन्थ, योग ग्रन्थ, भक्ति ग्रन्थ आदि कृतियाँ, धार्मिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करती थीं तथा व्याख्या-फिराई, नाटक, इतिहास, कोष ग्रन्थ, व्याकरण आदि रचनाएँ, लौकिक साहित्य के मण्डार का वन थीं। धार्मिक रचनाओं की परम्परा का विकास व्याख्याओं और टीकाओं से भी हो रहा था। स्वर भक्ति की नींव में लोक-भाषाओं की विकसित होने का सुअवसर मिल रहा था। जब देव कृत 'गीत गोविन्द' जैसे थोड़ी सी रचनाएँ संस्कृत के चोत्र में प्रगति कर रही थी वन्ध्या धर्म की अभिव्यक्ता लोक भाषाओं में होने लगी थी। सिद्धों और नाथों की हो नहीं वरन् जैनों और वैष्णवों की धार्मिक रचनाएँ भी तत्कालीन भाषाओं में अपना रूप खोलने लगी थीं। चण्डीदास, विद्यापति, रामानन्द, नामदेव आदि की भक्ति भावना भाषा में ज्वाबूत हो रही थी।

लौकिक साहित्य के रूप में हम्पीर रासी,

पूज्योराज रासी जैसी प्रबन्ध रचनाओं के वतिरिक्त 'लौकिक चारों' फेरियाँ कहफुरियाँ आदि मुक्तक रचनाएँ भी भाषा साहित्य की भीवृद्धि कर रही थीं। फारसी बरबी और तुर्की बोलने वाले विदेशियों तथा हिन्दी भाषी भारतीयों के सम्पर्क का फलता परिणाम बचाने उर्दू के रूप में सामने आया। लोक भाषाओं में विदेशी शब्दों की छुल फट ने समुदायता की बदली का ही प्रयत्न नहीं किया,

वर्षित विभक्तियों और प्रत्ययों को वञ्चित करने का प्रयत्न भी किया जिस प्रकार संस्कृत व्याकरणों व्यास कीर्णों की भाँति लोग रहते थे उसी प्रकार 'साहित्यकारी' के शीर्ष भी लगाये जाते थे। 'देशी नाममाता' किसी व्याकरण की रचनाएँ भी वञ्चित ग्रहण कर रही थी। इस प्रकार देशी विदेशी के सम्पर्क से जो भाषा विकसित हो सकती थी, वह विकसित होती नहीं गयी। कबीर बाणी में उसके स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है, किन्तु कबीर बाणी की साहित्यिक भाषा न कहकर एक 'साधु लोक भाषा' कहना ही उचित होगा। लौकिक साहित्य से कबीर का सम्पर्क लगभग नहीं के बराबर था। हाँ, ऐसे साहित्य से जिसमें कबीर की प्रभावशक्ति की सहायता के लिए कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती थी, उन्होंने कुछ प्रेरणा अवश्य ले ली थी, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि कबीर की रूढ़ि में लौकिक साहित्य के लिए विशेष स्थान नहीं था। साथ ही कबीर की वास्तविकता उस साहित्य के प्रति भी नहीं थी, जो वर्णों में धर्म की बाँधियों में से निकल रहा था, जगत् जो सामुदायिक भावनाओं का पोषण कर रहा था।

१- मानवीय संवेतना

संत साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता मानवता है। इसका सबसे बड़ा लक्ष्य है वर्तमान के अनुभव एवं ज्ञान से वर्तमान की उच्छ्वेदताओं एवं कमर्यादाओं को दूर करके पर्यादा की संस्थापना। मान्यता के कारण दृष्टिकोण में जीवार्थ का समावेश हो जाता है। कबीर यदिकेवल दार्शनिक या संत हो रहते हैं तो उनकी कटुता कितनी मोट फूँकाने वाली होती ? किन्तु वामिर्वा-जना विधि में उनकी कटुता बहुत दृढ़ मृदु हो जाती है। और उनको मानवता को सतह पर आ पाती है। भारतीय संतों का साहित्य मानवता से जीत प्रीत है।

मानवता ही कबीर, नानक, मल्लूदास आदि संतों के काव्य का गौरव है।

मानवता का मूल तत्त्व है संसार के सभी जीवों के कष्ट को मिटाना। मानव के दुःख में व्यक्ति के हेतु सहानुभूति एवं समन्वयता की भावना रहती है। वह संसार की सुखी और प्रसन्न देखा चाहता है। वह मानव की वार्षिक सामाजिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक सभी दशाओं को सुधारने के लिए प्रयत्न करता है, मानवतावादी साहित्य और मानव जीवन को एक दूसरे के निकट लाने के लिए प्रयत्न करता है। मानववादी मानवता की सर्वथा शुद्धताओं से उत्पन्न देखा चाहता है।

वह भविष्य में एक स्वरूप और वांछापूर्ण दृष्टिकोण का वाक्यांश रहता है। प्रातिवादी हिन्दी साहित्य, जिसके मूल में मानववाद की वर्तमान है, इसी मानवता के आधार पर स्थित है। यह मानवता संतों के साहित्य में जीत प्राप्त है। एक भी ऐसा संत कवि नहीं है, जिसका तत्त्व मानवता के पक्ष में न रहा हो। मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन की सुखी बनाने के लिए उन्होंने बारम्बार सम्पूर्ण, कल्याणकारी पक्ष को और उन्नत किया। इसीलिए तो संतों ने जन जीवन के विरुद्ध बार बार उपदेश दिया है। उन्होंने वर्ग पीडा को दूर करने की। मानवता संतों की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर जैसे उदारवादी व्यक्ति संसार में सभी को सुखी देखने के वाक्यांश थे। मानवता की पराकाष्ठा मल्लूदास के साधियों में उपलब्ध होती है। कवि संसार भर के दुःख कष्ट और वांछित को अपने चिर पर इसलिए ले लेना चाहता है कि संसार का भार हल्का हो जाय। मानवता से ही प्रेरित होकर इन संतों ने संसार की भाँति भाँति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है।

निर्गुण कवि स्वभाव से ही बुद्धिवादी और
 शक्तिप्रिय सन्त थे। प्राचीन कवियों को ज्वलन करते, नवीन वाद्यों की स्थापना
 करना, संतों को बहुत प्रिय था। उनका रुढ़ि विरोध शक्ति की सीमा तक पहुँच
 गया था। साथ ही उनके निष्कण्ट व्यंग्यहार ने उन्हें अत्यधिक लोकप्रिय बना
 दिया है। वे सत्यान्वेषक थे एवं परम्परावादी के विरोधी थे। संत साहित्य
 की सर्वप्रथम महान् परम्परा 'मानवतावाद' है। मानवतावाद पर विचार करते
 से पूर्व परिभाषा पर विचार कर लेना आवश्यक है। मानवतावाद शब्द का प्रयोग
 सर्वप्रथम सोलहवीं शताब्दी में हुआ। परन्तु इतिहास के प्र पुष्टों की देखी से ज्ञात
 होता है कि सोफिस्ट सर्वप्रथम मानवतावादी थे। उसने यह प्रतिपादित किया
 कि एक दूसरे के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार, संस्कृति, सम्यक्ता वादि जीवन के लिए
 बहुत ही आवश्यक तत्त्व है। साइंटिज ने यह आवश्यक माना है कि मनुष्य को
 सर्वप्रथम अपनी को समझना या जानना आवश्यक है। कारण कि आत्म-विरलेखण
 के बिना हम दूसरे के दुःख या कष्ट को नहीं समझ सकते हैं। जिस बात से हमें
 कष्ट होता है, वही दूसरे के लिए भी कष्टदायक हो सकती है। जो बात हमारी
 वेदना का आधार है वही दूसरे के लिए भी कष्टनाक बन सकती है जो हमारे
 लिए वापत्तिजनक है। वह उसी प्रकार दूसरे के लिए भी हो सकती है। तात्पर्य
 है कि मानव को आत्म विरलेखण कर लेना चाहिए। उसे (स्व) का प्रसार
 समस्त सृष्टि में करना चाहिए दूसरे की वात्सा में उसे अपनी ही वात्सा की
 उपस्थित की कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार मानवतावाद की प्रथम सीढ़ी
 है, या प्रमुख आधार है। आत्म विरलेखण, आत्म-चिन्तन, आत्म विवेचन।
 मानव समस्त शक्तियों का प्रीति है। उसी प्रकार अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों

१- बाह्य नी दाख्येत्क - सीडेत्स

२- मेन जीवगुपाद्यं द सेन्द्रत प्लेस बाव् द स्कीम बाव् चीण्ड ।

- सीडेत्स

ने मानवतावाद के विषय में अपनी विचारों को सविस्तार प्रकट किया। सभी विचारकों ने आत्म विश्लेषण तथा 'स्व' के प्रसार पर बल दिया है। परन्तु सोफिस्ट की विचारधारा ही सबे चिन्तन की विन्दु है। भारतीय दर्शन के इति-हास में मानवतावाद के चिन्तन और विश्लेषण का सर्वात्तम समय था 'उपनि-षद् कास'। यथा ग्रीक दार्शनिकों ने आत्म ज्ञान और आत्म विश्लेषण पर जोर दिया है। उसी प्रकार हमारे भारतीय दार्शनिकों ने भी आत्म ज्ञान और आत्म विश्लेषण पर बहुत जोर दिया है आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्व श्रेष्ठ कर्त्तव्य समझा जाता था। आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्व श्रेष्ठ विकास था। इसी वाद और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। आत्मज्ञान के अन्तर मनुष्य का परम कर्त्तव्य समझा जाता है। उस ज्ञान का साक्षात्कार अथवा ज्ञान प्राप्त करना, जो समस्त जगत् का हेतु कारण या कर्त्ता है। ज्ञान की ज्योति से आलोकित हो जाने पर मानव स्वतः विकास और प्रसार को प्राप्त करता है। वह हीनताओं से ऊपर उठकर, औदार्य की व्यापक भूमि में प्रवेश करता है, इस प्रकार आत्म ज्ञान और उस ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े बड़े दार्शनिकों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और अपनी विचारों के प्रसार के लिए बल परिश्रम किया।

सम्राटों और शासकों के दरबार में विद्वान् स्व ज्ञानी पुरुष ज्ञान की प्राप्ति की चर्चा करते, मानवतावाद का उपदेश करते थे। उनके चिन्तक और चर्चा का विषय होता था 'ज्ञान' एवं मानवतावादी विचार। इसमें सन्देह नहीं कि वह मानवतावादी दृष्टिकोण जिसका प्रचार भारतीय दार्शनिकों ने समय समय पर किया था। एक बड़े भारी कल्याणकारी

१- द पीरियड वाव् उपनिषद् एव् सरटेनली द मोस्ट ग्लोरियस पीरियड
वाव् इण्डियन इयुमेनिज्म।

- इयुमेनिज्म एण्ड इण्डियन थाट पृ० १२

वातावरण के प्रकार में अत्यधिक सहायक हुआ। इस विचारधारा ने एक ऐसे वातावरण की दृष्टि की। जहाँ मानव हृदय से मानव के प्रति सहानुभूति का भीत प्रस्फुटित हो उठा और एक दूसरे की समझने में सहायता पहुँची। मानवतावाद के प्रकार में उपनिषद् साहित्य एवं तत्कालीन दार्शनिकों ने बड़ी सहायता प्रदान की। इस दृष्टि से उपनिषद्काल मानवतावाद के प्रकार के लिए सबसे उत्तम समय माना जाता है। मानव की शाश्वत सुख की तालिका, उसके वृत्तत्व में ही सम्मिलित रहती है। मानव के सुख का लक्ष्य या उद्देश्य शारीरिक सुख या भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति ही नहीं होती बल्कि इसके अतिरिक्त कुछ और भी है, जो मानव को अपनी और बाक्यजित करने की सामता रखता है, वह है 'सत्य'। भौतिक सम्पत्ति और भौतिक सुख के आनन्द से मानव का चित्त कभी न कभी उन्नत जाता है। परन्तु सत्य और सुन्दर के साम्प्रदायिक और नैकट्य में रहकर मानव का मन कभी भी विकृत नहीं होता है। वास्तव में मानव जीवन का नैसर्गिक उद्देश्य या लक्ष्य है, चिर सत्य की प्राप्ति करना। इस चिर सत्य की प्राप्ति आत्मोन्नति तथा आत्म परिष्कार के अभाव में सम्भव नहीं है। मानव की आध्यात्मिक उन्नति तभी ही सकती है। जब समस्त जीवों पर समान स्नेह हो, और जब सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति न रहे, तात्पर्य यह है कि मानव अक्षय्य भावनाओं से ऊपर उठकर हो (वेद्य) प्रीति में प्रवेश कर सकता है। भारतीय दार्शनिकों ने बारम्बार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' का उक्ति दिया है। इसी प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने कहा है कि 'सर्वं भवन्तु सुखिनः सर्वं सन्तु निरामयः'। सर्व भूताणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्' हमारी चिन्तन धारा खैब से इस बात पर जोर देती रही है कि दूसरे की आत्मवत् समझना चाहिए। दूसरे के कष्टों, व्याधी और दुःखों को अपनी अनुभूति बनाना चाहिए। इस उदार दृष्टिकोण ने भारतीय जीवन के समस्त कलुषों को धीकर उसे निर्मलता प्रदान करने का प्रयत्न किया। करना न

न होना कि इस दृष्टि ने भारतीय जीवन में दिव्यता तथा कथुत वागन्ध को दृष्टि एवं संसार किया, और उसे उवात्त कानि में कथुर्न योग प्रदान किया इस सिद्धान्त से प्रेरित होकर भारतवर्ष के सततः महाशयों तथा महात्माओं ने कर्तव्य पथ पर कथा जीवनयापन किया । मानवतावाद का वाधाकथुत या मूल सिद्धान्त है। समस्त प्राणियों को 'वात्मा' से भिन्न न समझना, समस्त जीवों में कथा भाव का समान रूप से प्रसार करना, सक्की दुःख को कथुप्रति को वात्माकथुति काना । इसका मसुस कारण यह है कि सक्की स्वयिता एक ही केश के स-केशी हैं। फिर मानव मानव के बीच यह विरोध केशा ? न कोई कड़ा है, न कोई कीटा, न कोई उक्क है न कोई नीच । सबमें एक ही वात्मा का प्रसार है। सब एक ही कलाकार की कृतियाँ हैं। एक ही ईश्वर ने सक्की जन्म दिया है, सब समान हैं। जाति पाति का भेद भाव नहीं होना चाहिए । कर्न मानव के स्वल्प को काने बिगाड़ने वाला है। केवल कर्न से ही मरुष्य कृषी को बन सकता है। 'वैदिक साहित्य में लिखा हुआ है :

नर्तकी गर्न संभूती विशिष्टीनाम महाकृणिः ।
 तपसा ब्राह्मणी जातः वस्मात् जातिर्नकारणम् ।
 ब्रह्माली गर्न संभूतः सक्कितर्नाम महामुनिः ।
 तपसा ब्राह्मणी जातः तस्मात् जातिर्नकारणम् ।
 स्वपाकी गर्न संभूतः पराशरी महामुनिः ।
 तपसा ब्राह्मणी जातः तस्मात् जातिर्नकारणम् ।
 मत्स्थगन्ध्यास्तु तनयी विहान व्यासी महामुनिः ।
 तपसा ब्राह्मणी जातः तस्मात् जातिर्नकारणम् ॥ १

कथात् वशिष्ट का जन्म एक नर्तकी कन्या से हुआ था । सक्कित का जन्म ब्राह्मण स्त्री से हुआ था । पराशर का जन्म स्वपाकी से हुआ था, व्यास मुनि का जन्म

एक मत्स्य गन्धी स्त्री से हुआ । तपनी अपनी साधना के कारण सभी मानवता के उच्च वासन पर प्रतिष्ठित हुए । इस प्रकार तपस्या, साधना और कर्मा से मनुष्य ब्राह्मण बनता है। जन्म और परिवार से नहीं ।

मानवतावादी विचारधारा से प्रेरित होकर हिन्दों के संत कवियों ने भी जाति-पाति को निस्सार बताया है।

जाति न पूरी साध की, पूरी उसका जान ।

मोक्षरी तलवार का पड़ी रहन यो ध्यान ॥

तात्पर्य यही है कि मानव की आत्मा की चीन्हे का प्रयास करना चाहिए । वाङ्मयवर्ण से न कोई उच्च होता है न निम्न ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मानवतावाद की पृष्ठभूमि उच्च वाङ्मयात्मिकता ही है। यही कारण था कि विदेशियों के भीषण आक्रमणों से भी भारतीय योगियों की शान्ति भंग नहीं हुई । उनके यम, नियम, वासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न बाधाओं के चलते रहे और यदि विघ्न पड़े भी तो सापेक्ष रूप से । वे वाङ्मय संसार को छोड़कर ध्यानावस्थित होकर वाङ्मयान्तरिक्ष साधना में संलग्न रहे । आत्मा की स्वतन्त्रता के तागे देश की स्वतन्त्रता का महत्व उनके मन में न बैठ सका । अतः उन्होंने उसी की ओर ध्यान न दिया । मध्ययुग में जबकि उत्तर पश्चिम से अजरत रूप से आक्रमण हो रहे थे, जबकि भारतीय - धर्म साहित्य एवं संस्कृति अत्यधिक संकटपूर्ण परिस्थितियों में ख़ास से रही थी । जैसे जबकि निराशा का विमिर भारतीय जनता की विनाश के गर्त की ओर उत्तरी-उत्तर क़सर कर रही थी । उसी समय सन्त कवियों ने अपनी पट्टर

बाणी से बोधी की समता और एकता का संदेश दिया। समता, एकता, विश्वबन्धुत्व तथा बौद्धार्थ के ये संदेश भारतीय जनता के प्रति महापुरुषों ने समय समय पर उच्चरित किये और उनका प्रसार किया। संत-साहित्य का मूल मंत्र है मानवतावाद संतों की बानियाँ का मूलधार यही मानवतावाद है, कबीर से लेकर संत-साहित्य के अन्तिम कवि चरनदास तक सभी ने जीवन की धारा की मानवतावादी दृष्टि से समल्लूत करने की विष्टा की। संतों का मानवतावाद मनुष्य जाति तक ही सीमित न रहकर पशु पक्षी, जीव-जन्तु तथा वनस्पति जगत् तक प्रसारित है। यह प्रवर्तक रामानन्द से प्रेरित और अनुप्राणित होकर संत कबीरदास ने मानवतावादी विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार करने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं उन्होंने भारतीय चिन्तनधारा में एक नवीन परिवर्द्धन प्रारम्भ किया जिसके द्वारा समानता की भावना को प्रसार मिला। कबीरदास ने एक ऐसा मार्ग प्रोत्साहित किया, जिस पर उनके अन्तर का विभूत अन्य सन्त सन्त नानक, दादू, तुन्दरदास, मल्लदास, चरणदास आदि ने चलकर समता का उपदेश भारतीय जनता को समय समय पर सुनाया। उनकी प्रेरणा से हिन्दी के जानाश्रयी भक्त कवियोंकी एक शाला बल पड़ी, ये सन्त सभी जातियों के थे। उनकी मूल भावना थी 'हरि की भवैसी हरि का होई' जाति पाति के भेद भाव से उन्हें मोह न था। उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में सतकार कर कहा कि सभी एक ही ब्रह्म की कृतियाँ हैं सभी एक ही कुम्हार की रचना हैं फिर ' ' की ब्राह्मण की सुदा ' '। भेद भाव तो मन का फल है सन्तों ने स्पष्ट होति से कहा- 'जाधी मन का फल त्यागी ' '।

हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियों का लक्ष्य कदा ही व्याप्त था। उन्होंने जीव के विस्तार के लिए उन्नावर्षों के उपदेश दिये।

मानव की कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करता ही इनका सबसे बड़ा तत्त्व था । उन सन्तों के हृदय में व्यक्ति के हेतु सहानुभूति एवं समीपना की भावना थी । वे संसार की सुखी एवं प्रसन्न देखना चाहते थे । इसी कारण सन्त कवियों ने मानव जीवन के सभी पक्षों, आर्थिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिकता की सुधारों की चेष्टा की । ये सन्त मानवता की सदैव ही श्रृंखलाओं से उन्मुक्त देखना चाहते थे , और भविष्य में एक स्वस्थ एवं आशापूर्ण दृष्टिकोण के आकांक्षी थे । यह मानवतावादी दृष्टिकोण सन्तों के साहित्य में जीत प्राप्त है। एक भी ऐसा सन्त नहीं है, जिसका दृष्टिकोण मानवतावादी विचारधारा से सम्बन्ध न रहा हो, मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन की सुखी कानों के हेतु उन सन्त कवियों ने बारम्बार सन्मार्ग एवं कल्याणकारी पक्ष की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया । इन्होंने पारमार्थिक सत्ता की शक्ति निरपेक्ष करके, यह प्रतिपादित किया कि मानव मानव में भेद नहीं है। सब प्राणी एक ही कलाकार की कृतियाँ हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने अपनी अपनी विधियाँ कल्पना के आधार पर ब्रह्म के सम्बन्ध में विविध प्रकार की निस्सार कल्पनाएँ स्थापित कर ली हैं। माया, भ्रम, अज्ञान वृत्तान्त के कारण हम सत्य को नहीं देख पाते हैं। सत्य ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सत्य है। उसमें भेद और भेद नहीं है। वह पूर्णतया अज्ञान, अज्ञात, अमर और अनन्त है। संसार का कोई भी कार्य उसको हल नहीं करता नहीं सम्पादित होता है। वह सर्वांगीर और सन्निहित है। उस ब्रह्म को लेकर जो भेद भाव हिन्दू और मुसलमानों में चलते हैं । वे निरा मूर्खता के पीतक हैं । अज्ञान का विसर्जन करके, मूर्खता का परित्याग करके, प्रेम सद्भावना और सहृदयता का प्रसार न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए वरदान है बल्कि समाज के उत्थान और विकास के लिए भी नितान्त आवश्यक और उपयोगी है। सद्भावना के प्रसार से मनुष्य के जीवन में जीदार्य, स्नेह, करुणा, प्रेम, त्याग तथा विश्वबन्धुत्व की भावनाओं का स्वतः विकास हो जाता है । जो मानव के लिए नितान्त आवश्यक

है। मनुष्य का स्वभाव श्रेष्ठ भी है श्रेष्ठ भी है। धीरे-धीरे व्यभिक्त दोनों की पूर्ण पूर्ण दृष्टि से देखते हैं।

सद्भावना और सहृदयता के प्रसार के लिए श्रेष्ठ के साथ ही व्यापक दृष्टिकोण एवं जीवन धारण करने की बड़ी आवश्यकता है। मानवतावादी भावना संतों की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर जैसे उदार सन्त कवि संसार में प्राणिमात्र की सुखी देखी के आकांक्षी थे। मल्लदास की साधियों में मानवतावाद की पराकाष्ठा उपलब्ध होती है। कवि संसार पर के कष्ट दुःख और वास्तविक को अपने धर पर हससिर ले लेना चाहता है कि संसार का भार हल्का हो जाय। इससे अधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण होगा भी क्या ?

मानवतावाद से ही प्रेरित होकर इन सन्त कवियों ने संसार की भाँति के भाँति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। इनके मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु है, जैत ब्रह्म। ब्रह्म जैत है वही संपूर्ण जगत् का नियन्ता है वही संपन्न सृष्टि का विकास केन्द्र है। वहीं सबका रक्षक है। मनुष्य ही नहीं संपन्न सृष्टि ही उसी के द्वारा विरचित है। उसकी सामर्थ्य अद्वितीय है। उपनिषदों में कहा गया है कि एक ही ब्रह्म सब प्राणियों के भीतर बिपा हुआ है। सबमें व्याप्त है। सब जीवों के भीतर का अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सृष्टि में ही रहा है। उसका नियन्ता वही है, वह सब प्राणियों के भीतर बसा है। सब संसार के कार्यों का साक्षात् रूप में देखी वाला चैतन्य केवल एक ब्रह्म है जिसका कोई अंत नहीं है और जो एणों के दोष से रहित है। इन सन्तों ने एक ही भूमिका प्रस्तुत की जिस पर हिन्दू मुसलमान दोनों ही समान भाव से खड़े हो सकते हैं। इस प्रमुख सत्य ने हिन्दू-मुसलमानों

को अत्यधिक निकट लाकर रक्का कर दिया। इसी भाव की मानवतावादी विचारों को जन्म दिया।

मानवतावाद विषयक अपनी विचारों के प्रसार के लिए सन्तों ने सप्त महाव्रतों का उपदेश दिया, जिसे मानव का व्यक्तित्वगत तथा समाजगत जीवन समुत्थित करता है। सात महाव्रतों का विवरण निम्नलिखित है :

१- सत्य २- अहिंसा ३- ब्रह्मचर्य ४- अस्वादि
५- अस्त्येय ६- अपण्डित्य तथा ७- काम्य।

आचार्यों का कथन है कि सत्य ही ज्ञान है। ब्रह्म है और संसार की वास्तविक गति है संसार का कार्य सत्य पर ही चल रहा है सत्य के अभाव में सांसारिक कार्य नहीं चल सकते हैं। एक क्षण के लिए भी यदि सत्य अपना कार्य बन्द कर दे तो प्रलय ही जाय यदि कोई मिथ्या आचरण करता है तो सत्य आचरण करके दूसरा तत्कात ही दृष्टि की रक्षा करता है, संसार सत्य पर ही चल रहा है। नीतिक शक्तियाँ भी सत्य पर ही चल रही हैं, सत्य के अंत पर ही पूर्ण स्थिर है। सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से ही वायु प्रवाहित होती है। सत्य में ही सब स्थिर है जाणबय नीति में कहा गया है :

सत्येन धार्यते पूज्यते सत्येन तपते रविः॥

सत्येन वा ति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

सन्तों ने भी सत्य के प्रति बड़ी प्रशंसा प्रकट की है। कबीरदास, दादू, गरीबदास, परियासाहब, भीखा साहब, नरनदास,

मल्लकदास बादि सन्तों ने मानवतावादी भावनाओं के विकास और प्रसार के लिए सत्य की अनिवार्य सत्त्व माना है। सत्य, व्यवहार, सत्कर्ष, सत्यवचन, सत्य अनुभूति जीवन की उदात्त बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मानव समाज सुखी और सम्पन्न बनता है, इसालिए कबीर ने कहाथा -

‘सखि बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदै सखि है, ताकि हिरदै बाप ॥

गरीबदास के मत से सत्य में फीहर साधक सन्ने संत है, उनमें दोष कभी प्रवेश नहीं कर पाता है और वे ब्रह्म के प्रिय होकर संसार में अद्गुणों को फूट करते हैं।

‘सखि घूरे संत हैं, परवाने जुझार ।
सात बीस व्याधे नहीं, एक नाम लीलार ॥

सत्य की ही सर्वत्र विजय होती है। सत्य मार्ग से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। कवियों का कथन है :

‘सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन फण्या वितती देवयतः ।

इसी भाव की कलक हमें सन्तों के काव्य में स्थूल स्थूल पर दृष्टिगत होती है। दूसरा महाव्रत जिसका उपदेश सन्तों ने दिया है वह ‘बहिष्सा’ है। बहिष्सा मानवतावाद की प्राण शक्ति है। जब तक हम हिंसा में लगे रहेंगे तब तक हम एक दुसरे के प्रति ममता की भावना की स्थापना कर ही नहीं सकते । महाभारत के ‘वन पर्व’ में उल्लेख हुआ है :

‘क्रीडः सर्वभूतेषु कर्मण फसा गिरा ।
अनुग्रहस्य दानं न सताधर्मः सनातनः ॥

अर्थात् मन, कर्म, वचन से सर्वभूत के साथ खड़ी रहना ही सज्जनों का अनात्म धर्म है, सामाजिकता नैतिकता और वाय्यात्मिकता की दृष्टि से हिंसा का परित्याग होना परमावश्यक है। 'महाभारत' के 'कुशासन पर्व' में लिखा है।

वहिंसा परमधर्म है, वहिंसा परम तप है ।

वहिंसा से ही धर्म की उत्पत्ति होती है। वहिंसा परम संयम है, वहिंसा परम दान है, वहिंसा परम यज्ञ है, वहिंसा परम फल है, वहिंसा परम मित्र है । सब जगों में दान किया जाय, सब तीर्थों में स्नान किया जाय, सब प्रकार के दानों का फल प्राप्त हो, तो भी उसकी वहिंसा के साथ तुलना नहीं की जा सकती है। साथ ही यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणी मात्र पर क्या करता है, मसि भक्षण नहीं करता, किसी से कभी भी नहीं डरता, वही दीर्घायु, आरोग्य तथा सुखी होता है। सन्त कवियों की वहिंसा भावना बड़ी व्यापक है कबोरदास तो यहाँ तक कहते हैं कि :

‘ छट छट मैं सार्हं रमता, कटुक वचन मत बोल रे ।

इन सेंट कवियों ने जनता में नय की भावना को भी उत्पन्न करके वहिंसा व्रत पालन करने का उपदेश दिया है :

‘ मसि मसि सब एक है, परणी हिरनी नाय ।

जसि वैसि ते तात है, ती नर नरुहिं जाय ॥ ’

वासना में लिप्त मानव कभी भी साधना और परमार्थ में दृष्टि बिखर नहीं हो सकता है। सन्तों ने मन, वचन, कर्म से

ब्रह्मचर्य, पासन करने का उपदेश दिया है, संयम जीवन के लिए सबसे बड़ा वरदान और प्रेरक शक्ति है। सन्तों ने इसलिए मानवतावादी भावना के प्रसार के लिए ब्रह्मचर्य की उपयोगी माना है। संतों ने मानव की हर प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों की बालीबना की। उन्होंने अपने समय की जनता को बताया कि मनुष्य को एक दूसरे का शोचण नहीं करना चाहिए। सबकी दीनता की भावना ग्रहण करके सत्कार्य और ईमानदारी के साथ जीवन यापन करना चाहिए। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि :

‘सबसे लघुतार्ह भली, लघुता ते सब लीय ।

जान दुतिया की चन्द्रमा सीस नवें सब कीय ॥’

सब यह है कि यदि कभी संतोंण और दीनता की ग्रहण कर ले, तो संसार के समस्त जाचार, दुराचार, प्रष्टाचार तथा संघर्ष समाप्त हो जाय और मानव मानव बनकर जीवनयापन करने लगे। सन्तों के मानवतावाद के सन्तोष एवं दीनता अभिन्न वंग हैं। इन उपदेशों ने युग युग से पीड़ित एवं निराश जनता के हृदय में वाशा का संसार किया। निर्गुण सन्त कवियों ने अपने काव्य में संजीये हुए सरल भावों द्वारा नटकती हुई जनता का पथ प्रदर्शन किया। पञ्चाष्ट की मार्ग दिखलाई फड़ा और बाह्यादम्बर से दूर मानव एक दूसरे के दुःख एवं कष्ट की ओर ध्यान देने लगा। धीरे धीरे जनता इस ओर आकर्षित हुई।

सन्त कवियों का विचार था कि सद्गुण एवं नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है। इस कारण कवियों ने मानव में मानसिक शक्ति बढ़ाकर उत्साह भरने की चेष्टा की, उनका विचार था कि मनुष्य में वह शक्ति है कि वह अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकता है। ये जानी सन्त महात्मा नैतिकता से पूर्ण मानवतावाद की ओर ही अधिक ध्यान

दे रहे थे। जिसके कारण जनता के दृष्टिकोण में जीवन का संपादन हुआ। दर्शन के क्षेत्र में जो कटुता थी, वह साहित्य में अधिक से अधिक उपास्य बन कर रह गई और मानवता कीसतह पर जागृत। निर्गुण सन्त कवियों की व्यक्ति-व्यक्ति विधि में कटुता बहुत कम हुई ही गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय निर्गुण सन्त कवियों ने मानवतावाद की ओर अधिक ध्यान दिया। प्रेम, बहिष्कार, सत्य, शान्ति, त्याग, क्षमा, दया, सहनशीलता ही मानवतावाद के गुण हैं। इस पर सन्त कवियों ने समय समय पर प्रकाश डाला है।

(२) परिवार

“परिवार वह समूह है जो जिन सम्बन्धों पर आधारित है, और इतना छोटा एवं स्थायी है कि बच्चों की उत्पत्ति और पालन पोषण की व्यवस्था करी की क्षमता रखता है।”

“जाति जन्म के आधार पर सामाजिक संरक्षण और स्पष्ट विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो सने पाने, विवाह, व्यवसाय और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध में जैके या कुछ प्रति-बन्धों की अपने सदस्यों पर लागू करती है।”

परिवार सम्पूर्ण मानव समाज की आधार शिला है। यह समाज के अस्तित्व और समाज की निरन्तरता के लिए अनिवार्य है, यह एक सार्वभौमिक और आधारभूत सामाजिक संस्था है, यह हमारे सामा-

जिसे संगठन का मूल है। यह समाज के विस्तार और विकास की बाधा रक्षिता है। मानवशास्त्रियों के मतानुसार - "सर्वप्रथम परिवार की उत्पत्ति हुई। परिवार से सानावदोश समूह जन्में, अन्य जातियाँ बनीं। जातियों से राष्ट्रों एवं राज्यों का जन्म हुआ। धारण यह हुआ कि परिवार समाज का मूल एवं संस्थापक रूप है जिसमें समाज की सम्पूर्ण प्रक्रियाएँ लघु रूप से अपना काम करती पाई जाती हैं।

कबीर साहित्य में प्रतिबिम्बित पारिवारिक जीवन के अनुशीलन के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कबीर का उद्देश्य जीवन के सम्पूर्ण पक्ष का उद्घाटन न होकर अपनी कल्यात्म साधना की सर्व सुलभ बनाना था। ऐसी स्थिति में पारिवारिक जीवन का सम्यक् उद्घाटन उनकी रचनाओं से प्राप्त कर लेना अपेक्षित ही नहीं है। केवल अपने सिद्धान्तों की अनिवार्यता के लिए या तो उनके कल्पित वर्गों का उपयोग किया है। अथवा सामाजिक विकृतियों की आलोचना के प्रसंग में उनकी स्तुतिगम्य उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं फिर भी कबीर का पारिवारिक जीवन का और उसके संगठित स्वरूप का पूर्ण अनुभव है। उन्होंने अपने साहित्य में न केवल इसका उल्लेख किया है वरन् पारिवारिक सम्बन्धात्मक स्थितियों पर भी प्रकाश डाला है। कबीर ने सांसारिक तथा पारिवारिक जीवन की माया के रूप में व्याख्यात्मक साधना के मार्ग की दाता के रूप में ही माना है। परन्तु उनकी साधना पद्धति जैसा या परिवार में रहकर अग्रसर होने की थी। इस कारण उनका पारिवारिक जीवन का अनुभव बहुत प्रत्यक्ष है।

कबीर की रचनाओं में परिवार विषयक वर्णन अधिकतम नारी अथवा कूलकपू के सन्दर्भ में आयी है। यद्यपि उनमें सास, ससुर, माता-पिता, देवर, ननद, पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा पति पत्नी आदि के

के सम्बन्धों के निर्देश यह तब स्पष्ट मिल जाते हैं। इन निर्देशों की अवस्थिति से प्रकट है कि उस युगका पारिवारिक जीवन सम्पत्ति परिवार प्रणाली पर आधारित था। तत्कालीन संयुक्त परिवार प्रणाली पर कबीर की उक्तियाँ से प्रकाश पड़ता है। संयुक्त परिवार में वास्तविक प्रेम के विकास का कम अवसर प्राप्त है। पति-पत्नी इतनी कृत्रिम और वस्त्राभाविक परिस्थितियों में मिलते हैं कि उनमें प्रेम के विकास की तो दूर की बात है, परिचय भी ठीक से नहीं हो पाता है।

संयुक्त परिवार में मुख्य रूप से स्त्रियाँ पर अधिक प्रतिबन्ध होते हैं। स्त्रियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी पति से बात नहीं कर सकती हैं। उनके साथ कहाँ जा जा नहीं सकती। वे अपनी इच्छानुसार पति से वस्तुएँ प्राप्त नहीं कर सकती हैं। पतिर की प्रधान स्त्री उन सब पर नियंत्रण रखती है। परमपति परमात्मा की स्वतन्त्र निष्ठा के प्रतीक रूप नारी की चर्चा में सास तथा बहू के सम्बन्धों की भी उल्लिखित हुई है। उसमें से यह प्रकट है कि उस युग के परिवारों में गृह कार्य के अन्तर्गत सास का मार्ग चर्न तथा बहू द्वारा उसका आदेश पालन विहित था।

‘सासु कहै काति बहु ऐसी, दिन कातै निसतरिबी कैसे।’ १

यहाँ पर सास की आज्ञा सुन कातने के लिए है। इसके साथ ही इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि कार्य किए बिना बहूवाँ का परिवार में कोई महत्व नहीं था। संत कबीर ने एक अन्य उक्ति द्वारा यह तथ्य प्रकाशित किया है कि कोई वस्तु बहू की ली जाने से उसे सास का ही बहुत भय था :

१- कबीर ग्रन्थावली पृ. २२५

‘ मेरी हार हिरानी में लबाऊँ ,

सास दुरासिन पीव डराऊँ ॥ ’ १

यहाँ पर वधू कहती है कि मेरे नसे का हार ली गया है जिससे मैं लज्जित हूँ, सास से भयभीत हो झिपती हूँ, प्रियतम से भी डरती हूँ, वधू ने हार ली दिया है । इसलिए वह अपनी बाप से इस कार्य से लज्जित है। सास से वह इसलिए भयभीत है कि वह तो कुछ कहनी हो साथ ही प्रियतम से भी चुगली कर प्रताड़ित करवायेगी । परिवार की स्त्रियों में सासों का शासन रहता है। नन्दों को भी कक्षा स्थान प्राप्त रहता है। बहुते और विध्वंस वादि बहुत हीन अवस्था में रहते हैं। सास बहुते की परिवार का नाँकर समझकर व्यवहार करती है और बहुते सासों की अपना दुश्मन समझती है। इसी प्रकार बैठानियाँ यह समझती हैं कि वह देवरानियों पर शासन करने के लिए हैं। परिवार की लड़कियों का सर्वाधिक स्थान होता है। उनका इस परिवार की बहुते के प्रति ठीक नहीं होता । कबीर की अवि-व्यक्ति से भी तत्कालीन पारिवारिक सम्बन्धों का परिचय होता है जिनमें बहुते के प्रति ‘ सास ’ और ‘ नन्द ’ के व्यवहार बहुत कटु एवं तिरस्कारपूर्ण हैं :

‘ सासु नन्द दोऊ बैत उलाहल, रहव साज पुस गीहं ही । ’ २

सास और नन्द उसे उलाहना देती हैं, किन्तु वह इन सबको बिना मेरी कूटकितियों की घृष्ट के भीतर चुपचाप पी जाती है। वधू स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी प्रियतम से मिल नहीं सकती थी, बात नहीं कर

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३७८

२- भारतीय समाज और संस्कृति - श्री जम्भूरत्न त्रिपाठी पृष्ठ २६०

३- कबीर बीजक पृष्ठ ३०५- १

सकती थी , कबीर की अविद्यवित इस विषय में अप्रतिमहर्ष है।

‘ सास सयानी ननद जेठानी, उन हर हरी प्रिय सार न जानी
री । ” १

सास, ननद , जेठानी का जेल के प्रहरियों के समान कठिन पहरा रहता था ,
जिसके मय से प्रियतम का महत्त्व भी नहीं समझ पाती थी । इसही उचित में
कबीर ने केवल ननद की प्रियतम मिलन में बाधक निरूपित किया है। कथा रूप
से प्रिय से समागम न कर सकने के कारण उसका हृदय और मन व्यथित हो खड़ा
है और वह कह उठती है :

‘ हमारी नंदन गिो दिन बागि । ” २

कबीर की इस प्रकार की उचितया तत्कालीन
संयुक्त परिवार प्रणाली का स्पष्ट निम्न उपस्थित करती है। आज के युग में
भी गाँवों के संयुक्त परिवार में बन्धुत्व के प्रति इसी प्रकार व्यवहार किये जाते
हैं, साथ ही शीटे पर और आवास की कमीभी स्पष्ट होती है। कबीर की एक
अन्य उचित द्वारा यह तथ्य प्रकाशित होता है कि पारिवारिक आदर्श के साथ
में बच्चे के लिए सास, ससुर के अनुशासन में रहना तथा देवर बैठ आदि पारि-
वारिक कर्तों के अनुकूल आचरण करना आवश्यक था । किन्तु वेदना की जिला
शक्ती पर रस्ती की भी सीमा होती है। आसिर कब तक उफ न किया जाय ।
इसलिए उन सबके पैसाफिक आचरण के कारण अब उक्त आदर्श की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा
न रह गई थी तथा वह केवल पति तक ही अपनी सम्बन्ध की सीमित रस्ती लगी
थी -

१- कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ३३४

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० ३३३

“ फस्ती नारि सदाशुलवती, सासु ससुरा मानें ।
 बैर बैठ सबनि की प्यारी, प्रिय की परम न जाने ॥
 जबकि घरनि घरी जा दिन के, पीय से बात बन्धू रे ।
 कहै कबीर भाव बपुरी की, जाइ राम ॥ सुन्दर ॥ १ ॥ ”

इसी आधार पर यह स्पष्ट अनुमान होता है कि संयुक्त पारिवारिक जीवन में बंधू के प्रति स्नेह तथा सद्भावना का नितास्त कभाव था । संयुक्त परिवार में रहने वाली बंधू अपनी वात्सा की कसकस एवं झटपटावट व्यक्त करती है।

“ मैं सासने पीय गँहन जाई ।
 जाई रंगि साध नहीं पुखी, गयी जीवन सुफियाँ की नाई ॥ २ ॥ ”

बंधू कहती है जबसे श्वसुर गृह में नवपरिणीता बंधू के रूप में आई तब से कभी भी अपनी प्रियतम से आधात्कार नहीं हुआ , सावन भावों की नदों के समान भरा जीवन स्वप्न के समान व्यतीत हो गया । इन उक्तियों से मात्र प्रियतम की ही हो जाना सहज और स्वाभाविक महसूस होता है। सम्मिश्रित परिवारों में आज भी प्रायः दृष्टिगत होने वाला यह तथ्य कि मान्य सम्बन्धियों में से बंधू का किसी के लिए प्रिय एवं किसी के लिए अप्रिय होना भी प्रकाश में आता है -

“ सासु की दुःखी ससुर की प्यारी,
 बैठ के तरसि डरौ रे । ” ३

यह उत्प्रेक्षणीय है कि पारिवारिक सम्बन्धों में उपर्युक्त विकृति की प्रतिक्रिया

-
- १- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २२६
 २- .. पृष्ठ २२६
 ३- .. पृष्ठ २२६

यदि उस युग की वधू वैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि केवल पति तक ही अपने अपने सम्बन्धों को सीमित कर लेती ही तो हमें वास्तव्य की बात नहीं है, फिर भी परिवार के मध्य रहकर मर्यादा और अनुशासन में उसे बाध रहना पड़ता था और इसके विपरीत व्यवहार वांछनीय नहीं माना जाता है। उदाहरण स्वरूप उद्धरण द्रष्टव्य है :

“ गृह सीमा बाँके रे नाहि ।
बाधत पहिया छूँये जाहि ॥ ” १

समकालीन पारिवारिक जीवन की उपर्युक्त स्थिति के बतिरहित उसकी कतिपय नैतिक विकृतियों के भीक्षित कबीर की रचनाओं से प्राप्त होते हैं।

संत कबीर के एक पद में “ देवर ” के विरह में जलती हुई कृतबधू की चर्चा है :

“ देवर के विरह जहाँ ही दयाल । ” २

यद्यपि यह चर्चा साधनात्मक वर्गों में आयी है, तथापि उसे कथं सम्बन्धी की समकालीन विकृति का भी परिचायक कहा जा सकता है। जहाँ तक उसके स्तुतिजन्य वादों की बात है, या अप्रति निर्विष्ट किया जा चुका है कि उसे अपनी प्रिय पात्रा होना आवश्यक था । किन्तु देवर तथा भाभी के सम्बन्धों के तत्कालीन उपर निर्विष्ट स्वरूप की प्रकाशित करते हुए डा० राम तिलाकन पाण्डेय का मत है कि “ कथं संकट की विपत्ति के कारण

१- कबीर ग्रन्थावली पद ६६

२- “ पद २३०

द्विरागमन के पश्चात् ही युवक परदेश चले जाते और कुछ कमा कर लाने की जिम्मा करते थे। परदेश में रहते समय अन्य स्त्रियाँ से सम्बन्ध हो जाता और पत्नियों के मानसिक क्लेश का कारण बन जाता, छ्दर परिवार में देवर से हंस बोल करने की स्वतन्त्रता के कारण देवर भावज में मधुर भाव जागना स्वाभाविक था। युवक और रहस्य देवर भागिनियों के स्नेह कर्ज की कष्टा कम नहीं करते एवं उसकी परम परिणति बंधन यौन सम्बन्ध में होती।

पारिवारिक जीवन के बीच ननद तथा नववधू के कटु सम्बन्धों की कर्वाँ ऊपर की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त कबीर के एक पद में ननद के अपमानपूर्ण व्यवहार की जो कर्वाँ बायी है उससे प्रकट है कि नववधू के परिवार में प्रवेश के साथ ही उसकी प्रति दुर्व्यवहार का आरम्भ हो जाता था -

“नणद सहेली गरब गहेली।” २

यह उल्लेखनीय है कि जहाँ कहीं भक्ति बधू द्वारा परिवार के वरिष्ठ वर्गों के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार के आदर्श का उल्लेख आया है, वहाँ ननद का नाम निर्देश नहीं आता जिसके आधार पर दो कारणों कीलक्ष्य किया जा सकता है। एक तो बधू तथा ननद के सम्बन्धों में विषमता वा गड़बड़ी तथा दूसरे सम्कासीन परिवार के अन्तर्गत दोनों का स्थान समान सम्पन्न जाता था। इसी प्रकार बधू के सन्दर्भ में पति के ज्येष्ठ बन्धु, जिते बाब भी सामान्य परिवारों में “जेठ” कहा जाता है तथा जिसके प्रति उसके अन्तःकरण में भय रहता है। “जेठ” के प्रति भय का अनुभव सन्त कबीर ने अपनी पद में किया है :

१- सामाजिक पृष्ठभूमि - डा० रामलालावन पाण्डेय पृ० ५०-५१

२- कबीर ग्रन्थावली पद २३०

बैठ के तरसि डरौ १ । १

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट होता है कि सफलतापूर्ण परिवार में नववधू की बहुत ही हीन स्थिति थी।

इसके अतिरिक्त पति पत्नी के सम्बन्धों में उनके पारिवारिक जीवन के बीच महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए हैं : सास, बहुवाँ, ननद-भाभियाँ में झोटी झोटी बातों को लेकर झगड़े होते हैं। स्त्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध कटु हो जाते हैं। प्रायः परिवार में कसब रहता है, जो सच्चा अन्तिम परिणाम यह होता है कि स्त्रियाँ अपने पतियों को परिवार से दूर करने के लिए विवश करती हैं। पुरुष भी अहर्निश के झगड़े से बचने के लिए दूधू होकर रहने का निर्णय कर लेते हैं। विचित्र परिस्थितियों में ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इसके अतिरिक्त उससे यह भी प्रकट होता है कि पति पत्नी पारस्परिक भुकाव इतनी अधिक मात्रा में हो चुका था कि अन्तर्दृष्टि के आधार पर इन सम्बन्धों की असत्यता प्रमाणित करने की आवश्यकता का अनुभव कबीर जैसे लोक कल्याण का द्रव लेनेवाले सन्त साधक को पड़ी -

‘कौन पुरुष को काकी नारी, अभिगतिरि तुम्ह लेह विनारी। २

वर्षों कि पुरुष की स्थिति यहाँ तक जा गई थी कि पत्नी का मुँह देखने में ही सुख का अनुभव करता था :

‘तिरिया का बदन देखि सुख पावै ।

साधु की संगति कबहुँ न आवै ॥ ३

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २३०

२- “ पृष्ठ ८६

३- उपरिच्युत

इसके साथ ही अन्य उचित्यों से यह भी ज्ञात होता है कि सफ़्तों के कारण नारियाँ द्वारा परपुरुष के वरण का भी जीव मितता है।

कहू कबीर जब लहरी बाधे , बड़ी का पुछाग टरिणी ।
लहरी संग मई जब भरे, नैसी कर घरिणी ॥ १

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाज में पतिव्रता तथा हुसीला नारियाँ का अभाव था । या पारिवारिक जीवन पूर्णतया भ्रष्ट ही हुआ था । पारिवारिक जीवन के बीच ऐसी वादनी नारियाँ थी जिनमें समाज में सफल थी जिनका चित्रण कबीर ने लिखा है :

‘ जो जग ती हम बैगिया, यहु कर नाहीं मुक्त ।
मिस्त न भरे चाहिए, बाक पियारि तुक्त ॥ २

यहाँ पर कबीर ने ऐसी कल कल का चित्रण किया है जो प्रियतम के अभाव में स्वर्ग की भी नरक यातना के समान हो समझती है। वह कहती है यदि मैं नरक यातना में पहुँच जाऊँ तो मुझे प्रियतम मिले तो वह मुझे स्वर्ग ही के समान है। दूसरी उक्ति में कबीर की पतिव्रता का कथन है कि :

‘ उस सम्भ्रम कावास हौं, कहे न होय कलाज ।
पतिव्रता नांगी रहे, तो उसही पुरुष की लाज ॥ ३

इस प्रकार कबीर ने समकालीन पारिवारिक

१- सन्त कबीर पृ० ३२

२- कबीर ग्रन्थावली

३- कबीर ग्रन्थावली

वातावरण एवं प्रणाली का तभी उचितगी द्वारा निर्दिष्ट स्पष्ट किया है जिसके स्पष्ट किये जा सकते हैं :

(क) सम्बन्धित परिवार में शास, मनन का वधुर्वी पर प्रणय प्रकाश ।

(ख) वधुर्वी की हीन एवं दयनीय स्थिति ।

(ग) प्रियतम के परदेश जाने पर नववधुर्वी के विवृत चरित्र ।

(घ) कतिपय पत्नितावर्ग के चरित्र ।

वियोगिनी की स्थिति

कबीर ने तत्कालीन परिवार में प्रिय के वियोग के वाचात से प्रज्वलित विरह की अग्नि में तपती, बाह बाँर बाँधूँ बहाती हुई ऐसी दुःस्तिनी बाँर वियोगिनियों के चित्र स्पष्ट किए हैं, जो हृदय को स्पर्श कर जाती हैं। नारी की अन्तर्व्यथा की अभिव्यक्ति में किता गांधीयें हैं :

“ निज प्रीतम की वास नहीं, नाक कावर पारे । ”

इस नारी की अन्तर्व्यथा से ज्ञात होता है कि उक्त प्रियतम किसी अन्य कामिनी की गल बाँधी कर रहा है, उसे विरहृत कर दिया है। प्रियतम की वास में उल्लेख नेत्रों के लगे ज्वन हुए रहे हैं । कबीर की

इस अभिव्यक्ति से तत्कालीन पुरुषों के चरित्रों पर प्रभु प्रकाश पड़ता है।

नववधूओं के वा जाने पर बढ़ती उम्र में ही मुग्धा नायिकाओं के परिवार में झड़कर कौल ही धन उपायों के लिए प्रियतम परदेश चले जाते थे। प्रियतम के अभाव में न जाने कितनी वियोगिनियाँ जीवन की उदासी लिए स्तब्ध रहती थीं। उनकी अभिव्यक्ति है :

तसकं बिन बासम मोर जिया ।

बिन नहिं बेन रास नहिं निदिया, तसक तसक कर
मोर किया ॥

तन फा मोर (रूठ) कस डौले ,

सुन सैव पर जाम दिया ।

बेन पकित पर पैव न सुफे ,

साहे वेदर की सुधि न किया ॥ १

प्रियतम के प्रेमवत्स के अभाव में तन जर्जरित हो गया है। वह कहती है हृदय की दाह जो धू धू कर जल रही है। वह न मित में बेन लेने देती है और न रात्रि में नींद जाने देती है। कामिनी की कलण पुकार है कि रात्रि भर प्रिय को याद में तसक तसक कभीर कर देतो है। मृत्यु श्रेया में जीवनत्वपूर्ण जीवन व्यतीत हुवा जा रहा है प्रियतम का पय बैस्ते बैस्ते नयनों में धुंध हो गया है। जिसके कारण पय भी नहीं दिलाई देता है, किन्तु उस प्रियतम के वेददीप्त की हद है। बाब तक स्मृति न की। यद्यपि कबीर की यह उक्ति कल्यात्मपुरुष आत्मा और परमात्मा के रूप में हुई है। फिर भी सामान्य नारी की स्थिति का पुरा पुरा बोध कराती है। उस समय

की नारियाँ चाहें जिस परिस्थितिवश पति से पुनः रही हों, उनका संयोग न प्राप्त रहा हो, लेकिन पुनः अवश्य है। इसकी अभिव्यक्ति कबीर साहित्य में प्रहुर पात्रा में उपलब्ध है, विरहिणी की हृदयस्पर्शी वेदना की अभिव्यक्ति है।

‘साँहं किन दख करै होय ।

दिन नहीं चैन रात नहीं निदिया, कासि कहूँ दुःख होय ।

बधि रतियाँ पिश्ले पहरा, साँहं किन तरस रही सोय ॥१

यह कथन व्युत्पन्न नहीं है और न जटिल-
त्पूर्ण है। नारी विरह से विदग्ध है। उसका सत्य स्वाभाविक कथन है कि प्रिय
विना हृदय में दर्द होता है, जिसकी वजह से कितनी वेदना की अनुभूति होती
है जिससे कहूँ और कैसे कहूँ इससे तो और अधिक दुःख होता है। वियोगिनी
बाधों रात और पिश्ले पहर में प्रियतम की मर्मभरी स्मृति करते करते सी जाती
है। कबीर की इस उचितसे स्पष्ट और यथार्थ ज्ञान होता है कि पति विदेश में
रहते हैं। जहाँ न तो विरहिणी ही जा सकती थी और न वह उस से दूर
से कितना कार्य किए जा ही सकता था। यह एक मर्यादा का सुन्दर उदाहरण
है :

‘बाह न सकी तुम पें, छुं न तुम बुलाए ।

जियरा बौं ही लेहुँ, विरह तपाह तपाह ॥’ २

कसमर्थ वियोगिनी नारी कहती है कि हे
प्रियतम ! तुम्हारे पास तक जा नहीं सकती। और न तुम्हें महत्वपूर्ण कार्य
से पुनः कर बुला ही सकती। किन्तु तुम्हारे वियोग की बाधात से उठी ,

१- कबीर - वाचार्थ हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २६६

२- कबीर ग्रन्थावली - की० ३ सा० १०

वर्णन से इसी प्रकार भस्म होती रहूंगी। फिर गृह में रहने वाली कन्या के स्मृति की भी अभिव्यक्ति कबीर ने की है :

‘निस दिन सारै घाव नोद आवै नाहीं ।

पिया मित्त को वास नेहर भावै नाहीं ॥ १

फिर गृह में आवास करने वाली कन्या अपने प्रिय की स्मृति के कारण नोद भर सौ नहीं पाती है। और प्रियतम के सम्पर्क की वासा से उसे मायका जल्हा नहीं लगता है। प्रिय मित्त का पय देल्ले देल्ले वियोगिनी की तल्लों में धुंसाफ झ जाता है। वसि पहरा जाती है, हृदय फुलस जाता है। हजारे प्रार्थनाएँ और सगुन मनाने पर जब उसके प्रियतम जाते हैं तब उसके हृदय की हली की सीमा क्षीम होती है। वह उसे फिर पुनः नहीं होने देना चाहती है। इसकी अभिव्यक्ति कबीर ने कर्त्तव्य मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है :

‘जब जोहि जानि न देखै राय पियारे , ज्यू भावै लूँ हीह हमारे ।

बहुत दिनन के बिहारे हरि पार, भाग बड़े घर बैठे जार ।

चरन लाग करौ बरिवाहं, प्रेम प्रीति रासौ उरफाहं ।

इत म मन्दिर रही नित बीची, कहे कबीर परहु मति धीवै ॥ २

कबीर आत्मा से कहल्ला रहे हैं, किन्तु सामान्य विरहिणी का समस्त प्रकाश परिलक्षित हो रहा है। वह कहती है -
है प्रियतम जब तुम्हें पुनः न होने दूँगी जिस प्रकार भी आप मेरे पास रह सकते हो वैसे ही रहिये, मैं बहुत दिनों तक आपकी वियोग की आघात की पीड़ा सहन की है। अब बहुत दिनों से बिहारे स्वामी की प्राप्ति किया है, मैं अब प्रेम

१- कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २५७

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० ३

बन्धन में बांधी नरणाँ की सेवा करेंगी। वह प्रार्थना करती है : हे स्वामी
बाप मेरे मन मन्दिर में संपूर्ण सुविधाओं सहित रहो। बाप कृपया बाकर धोते
में मत पड़िए, इससे ज्वलित होता है कि नाक परमेश में दूसरी नाकियों के
प्रेमपाश में भी फँस जाते रहे हैं।

उपरोक्त विवेचन से तत्कालीन समाज के दुःस्मिती
नारियों की कठण स्थिति का चित्र और पुरुषों के दुरे बापरणों का चित्र
प्रकाश में आता है। यहाँ पर कुछ पति पत्नी के कटु उचितियों का भी उल्लेख कबीर
ने किया है।

‘नारी पुरुष बसे एक संग, दिन दिन जाह उबोले ।’ १

इस दूसरी अभिव्यक्ति में जीवनसे पदनाती
नारी का चित्र स्पष्ट किया है :

‘जब हम रखी हठिल बीवनी ,

तब पिय मुसा न बीता ॥’ २

माता पिता और पुत्र के सम्बन्ध

संस्कालीन परिवार में बंधु की स्थिति के
बाधार पर उसके जीवन से सम्बन्धित उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त उसके अन्य
तथ्य इतर सम्बन्धों के माध्यम द्वारा लक्ष्य किए जा सकते हैं। माता पिता
तथा पुत्र पुत्री के पारस्परिक सम्बन्ध भारत की धरती में रखी गये परिवार
में अत्यन्त महत्वपूर्ण हुवा करते हैं। जिनमें पिता का स्थान सबसे महत्व का है,

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१६

२- .. पारजाय तिवारी पृष्ठ १६

कबीर की अभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि माता पिता के आधार पर व्यक्ति अपना पुत्र की सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता था । 'गनिका की पुत्र पिता का कासी कहे' । कबीर साहित्य में ऐसे सम्बन्धित समासोक्ति वाक्यों तथा विद्वृति दोनों ही रूपों का चोखन करने वाले उत्कृष्ट कवि हैं :

‘ बेस्वा केरा पुत्र ज्युं, कहैं कौन सेवाप । ’ २

दोनों की अभिव्यक्ति का तात्पर्य एक है ।

इससे साज को विद्वृतियों का पूर्ण आभास होता है । माता के सामाजिक व्यवस्थित्व का निर्धारण कबीर की लोक उक्तियों में हुआ है। जिसे लेकर उन्होंने हरि की जननी तथा स्वयं की बालक कहकर अपने अवगुणों के लिए क्षमा याचना की है :

‘ हरि जननी मैं बालक तेरा, कहि न अवगुण कसई मेरा ।

सुत वपराध करे दिन केते, जननी के भित रहै न तेते ॥

०

०

कहे कबीर एक सुध विनारी, बालक दुःखी दुःखी मजारी ॥३

यहाँ पर कबीर ने प्रभु की माता को समस्त महत्ता सामाजिकता के रूप में प्रकट किया है। वे कहते हैं कि हे प्रभु आप माता हैं, और मैं तुम्हारा वकील बालक हूँ। तुम मेरे अवगुणों एवं पापों की क्षमा करी नही कर देते । बालक दिन में न जाने कितने वपराध करता है किन्तु माता के हृदय में कुछ भी नहीं रहता । माता का हाथ फेड़कर कभी बाल आदि लोच

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२६

२- .. साखी २२

३- .. पृष्ठ १११

कर बाक़ उसे कष्ट पहुँचाता है किन्तु ती भी माता उससे अपनी ममता और स्नेह ड़ाया नहीं छटाती । कबीर दुविष्वक विचार कर एक बात कहता है वह यह कि यदि पुत्र दुःखी रहता है तो माता भी उसके दुःख से व्यथित रहती है। भाव यह है कि प्रभु मैं दुःखी हूँ । आप भी दुःख से व्यथित होकर मेरा दुःख हर लीजिए ? यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उन्होंने सांसारिक सम्बन्धों की ही भाँति माता पिता के सम्बन्ध की भी माया का ही एक रूप माना है :

‘ माया माता माया पिता जति माया बस्तारी सुता । १

तथापि जन्मदात्री तथा स्नेह भरे संस्कारों द्वारा पुत्र के जीवन निर्वाण में महत्वपूर्ण योगदान करनेवाली माँ के सामाजिक महत्व की उपेक्षा भी नहीं कर सके हैं। जहाँ तक परिवार में माँ के मातृत्व की सार्थकता का विषय है, कबीरदास ने सुन्दर अभिव्यक्ति की है :

‘ जिहि कृति पुत्र न ग्यनि विनारी ।

बाकी विधवा कहि भई न मस्तारी ॥ २

जिल्ले अनुसार उसकी सार्थकता ज्ञानमान पुत्र को जन्म देने में ही है। अन्यथा उसका विधवा होना ही श्रेयस्कार है। मातृ हृदय के कष्टपूर्ण स्वर की प्रतिध्वनित करते हुए कबीर एक पद में कहते हैं कि जब बच्चों का भरण पोषण कैसे होगा -

‘ मुधि मुधि रोवे कबीर की माई, ए बरि कहे जीवति सुदाई ॥ ३

यह उल्लेखनीय है कि इस युग के पारिवारिक

१- कबीर बचनावली पद ८४

२- .. पद १२५

३- .. पद १२

जीवन में पुत्र की प्राप्ति का महत्व सर्वाधिक था । यद्यपि हंसवर प्राप्ति के मार्ग में दूसरों को ही नहीं पुत्रों से भी विरक्त होने का उपदेश देते हैं।

‘ सुत वारा का किया पसारा, अंत की धर भर वरपारा ॥ ’ १

दूसरी उक्ति में कबीर कहते हैं कि :

‘ पुत्र कलत्र लक्ष्मी भाइया जनते कहूँ कबने सुसु पाइया ॥ ’ २

संत कबीर पुत्र और लक्ष्मी का आकर्षण व्यर्थ निरूपित करते हैं। उनका मत है कि इनसे कोई भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता है । कबीर ने तत्कालीन पुत्र और पिता के सम्बन्धों को निरूपित करते हुए कहा है कि :

‘ जीवत पियहि पारहि डंगा, मृता पिय ने धालें गंगा ॥

०

०

जीवत पिय हूँ बोसै अपराध, मृता पीकै देहि सराध ।

कहि कबीर मोहि तनिय आवै, कजवा ताह पिय बधु पावै ॥ ३

उस युग के पिनीन समाज का चित्रांकन करते हुए कबीर कहते हैं कि पुत्र पिता के वृद्धत्व प्राप्त होने पर ठण्डा का प्रहार करता था । उदर पूर्ति के लिए पर्याप्तकर्म नहीं देते थे । कर्ण कटु वक्तामयीय बातें कहते थे । पिता के प्रति पुत्र का ऐसा व्यवहार कबीर को आश्चर्य चकित कर देता है निम्न वर्ग के दलित समाज का यह चित्र सही है।

१- कबीर ग्रन्थावली पद १२८

२- संत कबीर - पद ४

३- कबीर ग्रन्थावली पद ३५६

बाब भी किसी किसी परिवार में जो पिता द्रव्य नहीं पैसा कर रहा है, पुत्र पुत्र के लिकार बहुत से पिता बने हुए हैं। कबीर समाज के प्रेरक थे। इस हेतु उन्होंने समाज की इस गहराई से अध्ययन कर सने में समर्थ हुए हैं। कबीर की प्रत्येक उक्ति अद्भुत और अप्रतिम हैं। उन्होंने दूसरी उक्ति में माता पिता और पुत्र के सम्बन्ध की स्वार्थी तत्त्व के रूप में निरूपित किया है :

‘ तात जानि कह पुत्र हमारा, स्वार्थ लागि कीन्ह प्रतिपाला ।१

कबीर यहाँ कहते हैं कि पुत्र की जो माँ बाप जتنا अधिक स्नेह हुनार और आशोर्वाद दे देकर पालन पोषण करते हैं। उसमें उनका स्वार्थ निहित है। इसी प्रकार उन्होंने पति पत्नी के सम्बन्ध को निरूपित किया है :

‘ कामिनी कहै मीर पीउ जै , बाधिन रूप गिरासा चाहै ।।२

जो नारी प्यार में शब्दों में प्रियत्व की अपना कहती है उसे कबीर बाधिन के सदृश कलजा मज्जाण करने वाली बताते हैं ।

उपर्युक्त वर्णन के विवेचन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन युग में माता पिता पुत्र के सम्बन्ध प्रेम स्नेह और श्रद्धा पर नहीं अवलम्बित थे बल्कि वे एक दूसरे के स्वार्थ पर अवलम्बित थे। माता पिता और पुत्र का सम्बन्ध स्वार्थ तक निहित था। इसी जागे वह पशुता का रूप धारण कर लेता था। जब पिता वृद्ध हो जाता था तब पुत्र उसी साथ पशुता का व्यवहार करता था। पारिवारिक जीवन के विवेचन से स्पष्ट है कि तत्कालीन परिवारों

१- कबीर बोझ- रमणी ७

२- ७

में नारी जीवन की स्थिति पुरुषों की कुवर्तिनी के रूप में थी। पारिवारिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से पतिव्रत धर्म का मादर्श उस समय भी प्रतिष्ठित था। तथापि कहीं कहीं उसमें विकृतियाँ भी दृष्टिगोचर होती थीं। सास या ननद के रूप में नते ही उसका पारिवारिक महत्त्व दिसाई पड़ता ही किन्तु अन्य रूपों में उसकी दशा विशेष सन्तोषजनक नहीं दिसाई पड़ती जो कि पुत्र के लिए सन्तोषजनक नहीं दिसाई पड़ती जो कि पुत्र के लिए माँ की उपरिनिर्दिष्ट कल्याण उभितर्या तथा नववधू की पारिवारिक दुर्य्यवस्था के पूर्ववर्ती विवेचन से प्रमाणित है। पति-पत्नी तथा देवर-ससुरा के सम्बन्धित पूर्वनिर्दिष्ट उत्पत्तियों से यह भी प्रकट है कि नारी जीवन एक प्रकार से विलास तथा पारिवारिक कुशासन में देवा करने मात्र का साधन रह गया था। उसकी निजी जाशा वाकांक्षाओं काकोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था। जहाँ तक कबीर के दृष्टिकोण का विषय है। उन्होंने 'कामिनी' रूप की ही निन्दा की है। यदि संपूर्ण नारी समाज के प्रति उनका हीन दृष्टिकोण रहा होता तो वे साधक का वादर्श सती और पतिव्रता के रूप में चित्रित करते -

‘कबीर ऐस स्यदूर की, काजत दिया न जाइ ।

नैँ रमव्या रामि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥’^१

वीर न परमात्मा की सामाशीलता की अभिव्यक्ति जननी के रूप में ही प्रस्तुत करते। अतएव ऐसे उत्पत्तियों द्वारा उनको नारी के प्रति सामान्यतः सम्मान भावना प्रकाश में आती है। अतएव नही, प्रकृत नारी के प्रति उनका एक संतुलित सामाजिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत हुआ है जिसे उन्होंने साधना के क्षेत्र के रूप में भी रखा है- ग्रह, दारा, सुत वीर पितृ के प्रति विरक्त भाव व्यक्त करने वाले

१- कबीर ग्रन्थावली अंग ११ सा० ४

२- ग्रह दारा, सुत वित्त सौ, यह मन मया उदास ।

जन रजब रामहि रह्या, दूटा जगत निवास ॥

सन्त रज्जव समस्त नारी समाज के प्रति मातृ भाव की दृष्टि रखकर विजय वासना से निवृत्त होने के पथ प्रस्तुत करते तथा व्यवस्था के विचार से वस्त्र एवं पुत्री के पवित्र दृष्टिकोण रखते हैं। अतः इन सपका दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के आदर्श के साथ ही पारिवारिक जीवन के परिष्कार का भी प्रति-निधित्व करता है ।

१- नारी भावना

धर्म एवं वैराग्य की नीति पर स्थित संत-सम्प्रदाय में नारी का स्थान कामिनी एवं व्यक्ति की तपस्वी रूप के द्वारा वश में करने वाली स्त्री के रूप में स्थित था । संसार के प्रत्येक राष्ट्र एवं प्रत्येक धर्म में ही नारी की समस्या के मार्ग का अवरोधक एवं बाधक बताया गया है । काव्य कालान्तर से नारी समाज में निम्ननीय एवं पतिता के रूप में ही देखी जाती रही है। यही परम्परा संस्कृत के सभी नीति प्रधान महाकाव्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। जैन एवं नार्थों ने उसे पुरुषों के संसर्ग में रहने पर बाधा एवं योग बाधना को नष्ट करने वाली बताया है। उनका यह दृष्टिकोण समाज में बिखरे हुए उस काव्य के वज्रयानियों की काकुता एवं घोर अहन्धियमरायण का फल था । नारी की उपासना के दुरि प्रभावों के कारण ही गौरव नाथ जो ने यह घोषित किया कि नारी के सम्पर्क में बंधा हुआ पुरुष (उस पुरुष के समान है, जो कि नदी के किनारे सहे जीवन के प्रति अनिश्चय का भाव लिए खड़ा रहता है) इसी के अनुकूल सन्त कवियों ने नारी की वसिषा का प्रति रूप पाया, मोह का आवरण स्विकार करके उसकी निन्दा की । कबीरदास जी ने नारी को नरक का द्वार ही मान लिया । फलतः ने बस्ती वर्ण की वृद्धा-

१- नारी वैरागि पुरुष की, पुरुषा वैरी नारि ।

अन्तकाल दुन्दु पवि मुरा, कइ न जाया साथ ॥ दासुदयाल की बानी पृ०

वस्था में भी कामवासना की शक्ति व्यक्त की। नारी निन्दा की कविता, वितावनी के कवि के अन्तर्गत सन्तों ने पृष्ठ पर पृष्ठ भर डाले हैं। सुन्दरदास ने तो नारी के सम्पूर्ण शरीर को घृणित एवं निन्दनीय बताकर उसके शरीर को भँकेर बन की सजा तक दे डाली है। इन सभी सन्त कवियों ने नारी के वासनात्मक रूप को ही घृणित एवं दुष्कर पतित बताया है। उन्होंने काम मात्र को घृणास्पद बताया एवं नारी पुरुष के अन्य सम्बन्धों को एक दूसरे के प्रति कल्याणकारी बताया है। नारी का सत्य रूप कल्याणकारी कर्त्ता करने योग्य एवं प्रशंसनीय बताया है। पतिव्रता स्त्री को अत्यन्त सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा है एवं भक्ति की पात्रा भी माना है। नारी के ममतामयी रूप के सम्बन्ध में वास्तव्य की निन्दा करने वालों के प्रति तो कबोर जैसे सन्त कवि भी विद्रोहित हो उठे हैं। नारी का सती स्त्री का स्वरूप तो सन्तों को बढानु लगा, उस रूप के प्रति उनके हृदय में भक्ति भावना घर कर गई। सन्त कवियों ने 'सती' के प्रति रूप की तुलना दो अर्थ लेकर ग्रहण की है। १- लौकिक २- पारलौकिक। सन्त कवियों ने नारी को भी ईश्वरीय भक्ति के योग्य समझा। इसके सम्बन्ध में निर्गुण काव्य में स्थिर कवयित्रियों की साधना ब्रह्मा प्रमाण है। सन्त - कवियों ने नारी को माया की प्रतिरूप, काम की कामिनी, वासना से परिपूर्ण शायामात्र माना है। उसकी निन्दा भी सब जोर शोर से की है। परन्तु निर्गुण एवं सगुण दोनों से दूर अपनी प्रियतम (ईश्वर) की असीम सत्ता के प्रति अपनी हृदय की कोमल एवं मृदु भावनाओं को स्वयं नारी के रूप में उतर कर ही अभिव्यक्त किया है, उन्होंने ईश्वर को पति स्वरूप माना है तथा स्वयं को पत्नि कै रूप में स्वीकार करके (एक पत्नी की भाँति एक निष्ठ होकर कुरागमयी दृष्टि एवं शुद्ध हृदय होकर उस पुरुष की वाराधना की है) ईश्वर की प्राप्ति का एक मात्र साधन इन सन्तों ने प्रेम की स्वीकारा है। आत्मा एवं परमात्मा का सम्बन्ध अन्य जन्मान्तर का रहा है (आत्मा ऊपर एवं वर

है) कल्पः वात्मा , अपनी प्रिय से कलम होकर व्याकुल हो उठती है। उसका वर्णन कबीर, दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि सभी सन्त कवियों में देखने की मिलता है।

इस विरह की तुलना उस नारी से की गई है। जो कि पति के गृह में जायी हुई है तथा अपनी प्रियतम के विनाय में विनार मग्न अवस्था में है।

इन सन्तों ने नारी की प्रतिमूर्ति बनाकर उस कविनाशी प्रियतम के साथ फाग लेता एवं विभिन्न क्रीड़ाएं भी कीं। इन सब सन्तों का अन्तिम लक्ष्य स्वयं की ब्रह्म में लीन करने का हो रहा है। अन्तकाल तक प्रतीक्षा करती रहने पर साधना की चरम सीमा पर पहुँच कर वह उस विरह स्थायी तत्त्व (ब्रह्म) में लीन हो जाती है।

इस प्रेमपूर्ण बन्धन की ही सन्त कवियों ने व्यापारिक विवाह को संज्ञा प्रदान की है। भक्त कवि कपो दुल्हनियाँ अपनी प्रेम की दर्शाने के लिए विभिन्न सामग्री स्फुटित करती है। जैसे- नय, सँकोच , लज्जा आदि ।

नारी का असत् रूप

त्याग एवं वैराग्य पूर्ण साधना करने वाला

१- नैहरवा हफ्की नहिं भावै, साहिं की नगरी परम अति सुन्दर बहाँ ।

कोह बाह न लावै, नादि सुरज जँह पवन न पानी की सैल पहँचावै ॥

दरस यह साहिं की सुनावै ॥ कबीर साहि की शब्दावली भाग १ पृ० ७२

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० ८७ पद १

एवं विशुद्ध हृदय व्यक्ति ही ईश्वर भक्ति का अधिकारी हो सकता है। विश्व मोक्षिनी (माया) अपने भिन्न भिन्न रूप दर्शाकर मनुष्य के हृदय को पथ प्रष्ट करना चाहती है। कामिनी (नारी) उसी इस कार्य में परम सहायिका सिद्ध होती है। उसका आकर्षण का केन्द्र बड़ा ही दुर्लभ है उससे जब पाना कठिन कार्य प्रतीत होता है। माया मोह से कृतकारा पाना दुर्लभ है, वह मनुष्य को सत्य मार्ग से पथ प्रष्ट करके असत्य मार्ग पर चलने की शिक्षा प्रदान करने में तूफानी नहीं है। इसलिए सन्त कवियों ने अपनी काव्य में कामिनी (नारी) का सदैव ही त्याग (वर्जना) अनिवार्य किया है।

कबीरदास जी ने नारी की संगति को अत्यन्त दुष्प्रिय, भयंकर एवं अकल्याणकारी दर्शाते हुए यह भी कहा है कि नारी की झड़झड़ा पात्र से बिजल से भरा हुआ सर्पराज भी जन्मा हो जाता है। उन व्यक्तियों की बया हीन दशा होती होगी जो कि दिन रात नारी के सहपात्र में रहते हैं^१। कामिनी नारी अपनी साँझ से सँसार में केवल गुरु हो रखा कर सकता है^२। वह नारी वास्तविक रूप में नित नूतन नवनि जूँगल के द्वारा संपूर्ण विश्व को ही अपनी अन्तराल (उदर) में स्थिर कराता चाहती है^३। वह नारी सोने के द्वारा निर्मित सुगन्धि से युक्त अपनी पक्तापत्तियों में ही बसो न हो - उससे समीप भी निवास करने के लिए कबीर विरोध स्थापित करते हैं^४। जिस पुरुष के सम्पर्क में नारी विद्यमान रहती है उस पुरुष के तीन गुणों को नष्ट करने में वह सक्षम सिद्ध होती है। वह व्यक्ति भक्ति एवं प्रेम के मार्ग को ओर वृत्त हो नहीं होता है^५। इस सँसाररूपी सागर (समुद्र) की पार

१- कबीर प्रवचनसंग्रह सन्त वाणी संग्रह , प्रथम भाग पृ० ५८

२- उपरिष्ठ ३

३- उपरिष्ठ ४

४- उपरिष्ठ ७

५- उपरिष्ठ ८

करने के लिए मार्ग में कल्लि घाटियाँ विद्यमान रहती हैं। एक तो कनक (सोना) दूसरी कामिनी (नारी) त्याग की पुर्ति पत्नी के रूप में नीरवान्वित सिद्ध करती हुए कबीरदास जी उसे इस संसार की 'बूझ' बताकर श्रेष्ठ मनुष्यों को उसके अलग ही रहने का निर्देश देते हैं।^१ नारी का कामिनी रूप ही वह प्रवृत्त एवं निम्ननीय प्रतीत होता है। स्त्री के सम्पर्क में जाने का बाह्य रूप उल्लेखनीय मोहकारी है किन्तु उसके भीतर का परिणाम भयंकर एवं नर की नष्ट करने वाला सिद्ध होता है।^२ कामिनी सभी काली सर्पिणी के गहरे प्रभाव से केवल यह संसार ही नहीं बल्कि तमो लोको ही प्रभावित होती हैं। केवल ईश्वर के भक्त अपनी भक्ति के प्रभाव के कारण उसमें लिप्त न होकर मुक्त रह सके।^३

प्रतीति रूप में नारी

सन्त कवियों की उपासना का माध्यम निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म हो है जो कि वाकार विहीन है, निराकार है, भक्ति-साधना जब परम सीमा पर पहुँच जाती है। उस स्वरूप के साथ संसार में स्थित प्रेम सम्बन्ध स्थापित किए, जिस गुरु विषय श्रेष्ठ भक्ति एवं गुरु विश्वास के साथ उसमें लीन होना समर्पण करना वह अपनी उपास्य के प्रति ही व्यक्त करना चाहते थे। ऐसा केवल दाम्पत्य भाव में ही संभव हो सकता है। इस प्रकार ही नारी की अस्तित्व एवं माया का प्रतिरूप मानकर भी उसी के हृदय की पुण्य से भी कोमल सम्पूर्ण भावों की एकत्रित कही स्वयं प्रभु की बहुरिया बनकर के सन्तों

१- कबीर उक्त वाणी संग्रह साही १

२- उपरिखत् ४

३- कबीर ग्रन्थावली पृ० ३६

४- उपरिखत् ३६

ने ईश्वर के प्रति प्रणय सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से ही अभिव्यक्त किया। प्रत्येक देश के ईश्वरीय सम्बन्धों के विषय में सम्पूर्ण इतिहास में वास्तव्य भाव के प्रतीक को ही ईश्वर के प्रति प्रेम को अभिव्यक्त करने का साधन मात्र माना है। मध्य-कालीन ईसाई यौगो पुरुष ईश्वर के साथ इस संयोग को ही कथात्म-विवाह की संज्ञा देते हैं। सुफी काव्य में भी इसी रूप की वाच्य मिला है। हिन्दु धर्म के अन्तर्गत पुरुष एवं प्रकृति में विस्तृत समस्त श्रद्धा का प्रतिरूप पुरुष एवं स्त्री को ही माना है। निर्गुण धारा के सन्तों ने काव्य से सम्बन्धित रूप सन्त कवियों से प्राप्त किए परन्तु भारतीय रीति के अनुसार उन्होंने ईश्वर को 'पुरुष' रूप में ही उसकी उपासना प्रस्तुत की है। इन सभी भक्त कवियों के अनुसार ईश्वर ही केवल एक ईश्वर पुरुष है अन्यथा सभी भक्त उसकी पत्नी स्वरूप हैं। दादू, कबीर आदि के कथन इसी प्रकार से हैं।

सन्त कवियों ने स्वकीया के त्याग एवं वादश को ही पवित्र एवं ईश्वर स्वीकारा है। उन्होंने सभी स्त्री एवं पत्नी रूप का ही स्वयं पर आरोप किया है। प्रेम की दोनों दिशाओं (संयोग वियोग) का नाम सन्त कवियों ने अपने काल में विरह एवं मिलन रखा है। सन्तों के मित्तन में पूर्ण रूप से प्रेमी-प्रेमिका उपासक उपास्य का तादात्म्य स्थापित ही जाता है। सन्त कवियों ने मित्तन का सुफियों के समान चित्रण नहीं किया। परन्तु मित्तन से पत्नी के विरह का एवं संयोग काल की उत्सुकता, मित्तन से पूर्व की लज्जा, स्नेह आदि का वर्णन सन्त काव्य में बड़ा ही मार्मिक एवं सटीक प्रस्तुत किया गया है।

१- हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - पीताम्बर दत्त बङ्गाल ५० ३५४

२- पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु वंग ।

जै जै तेरी ताहिहीं, जीतैं तिसही रंग ॥

- दादू दयाल ५० ३४ सा० ५७

रहस्यवादी कवियों ने विरह की आत्मा की कन्धेरी रात कहा है। हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण सन्त कवि कबीर, दादू, नानक, फ़ख़र, सुरदास, पीरा, रज्जब, रेवास आदि सभी के काव्य में विरहिणी आत्मा की (ब्रत) प्रियतम के प्रति विस्तारित विरह की भावना दृष्टिगोचर होती है। नारी के रूप में साधक (कवि) ईश्वर स्त्री पति की प्राप्ति करने के लिए तपस्या के पथ पर चलती हुई उसके हृदय की वाशा वासि मिलीनी लेखती है, एवं हृदय की वेदना क्रीड़ा कहती होती है। कभी वह निराशा से युक्त कल्पाकार में स्वयं की लीन प्रतीति करता है। इसी निराश की चरम सीमा एवं दुःख के क्षण क्षणों में विरह से युक्त आत्मा की दुर्बल पुकार हिन्दी साहित्य में कमर हो गई है। उस कदुरस्य प्रियतम की प्रतीक्षा करने का दीर्घ समय एवं उससे उत्पन्न विरह भी चरम स्थिति पर पहुँच कर हृदय की कल्पित व्याकूल करता है। उसकी प्रतीक्षा करते करते बपस्क नेत्रों से बहती हुर । नेत्रों में आँसू पड़ जाती है, एवं उसके नाम मात्र की स्मरण करने से जीन पर आँसू पड़ कर है, परन्तु फिर भी वह कठोर हृदय प्रियतम दर्शन नहीं खोजता । विरह स्त्री सपने के डसने से व्याकूल हुई विरहिणी (स्त्री) के हृदय पर किसी भी तन्त्र एवं मन्त्र का प्रभाव नहीं हो रहा है। सन्त कवियों का यह विरह विस्तारित होकर पुरानी एवं वाकाल दोनों की ही भस्म कर देता है। उस कदुरस्य कल्पित ईश्वर के विरह में व्याकूल उसके दर्शन की लालसा लिए हुए आत्मा के लिए विरह, संकट, दुःख संताप ,

१- लीसिया तो आँसू परी पथ निहार निहार । ।

- कबीर उक्त वाणी पृ० १५

२- विरह भुवनम तन ठखा मँड न लागे काये ।।

- कबीर प्रीतवाणी पृ० १५

३- कबीर चिनगी विरह की तन पड़ी लड़ाय ।।

- कबीर उक्त पृ० १५ पृ० ३४

हो उसके साथी है।^१ नारी का जीवन क्षुब्ध त्याग एवं बलिदान का इतिहास हो होता है। सन्त कवियों के हृदय में विद्यमान विरहिणी वात्मा अपनी प्रिय-तम के दर्शन के लिए उसके सम्मान में दीपक की जारती बनाकर अपनी शरीर रूपी दीपक की ज्योति बनाकर एवं उसमें प्राण रूपी बत्ती डालकर, स्वतः रूपी तेल से प्रेमदान करती हुई मित्तन समय की एक निश्चिन्ता छोड़ कर मत्प्रीता करती है। वात्मा एवं परमात्मा की यह वियोग स्थिति कही सम्भी होती है। रात भर वियोगि-नि में जलकर लकड़ी अपनी प्रियतम से प्रातःकाल मित्त ही होती है परन्तु राम से बिछुड़ी वात्मा, दिन रात के लकड़ में कैसी हुई भी अपनी प्रियतम के दर्शन नहीं कर पाती है। उस कठोर हृदय प्रियतम की अपनी सेवकों (उपासकों) को तहपाने में ही सुख प्राप्त होता है। इन सन्त कवियों के विरह वर्णन में विरहिणी हृदय के समस्त भावों, आज्ञाओं, अनुभवों एवं मानसिक दशा का मनो-वैज्ञानिक रूप से वर्णन हुआ है। विरहिनी की मत्प्रीता की घड़ियाँ जन्म जन्मों तक दीर्घ मत्प्रीत होती हैं। उसका प्रिय उसके सुगंध से लसता है। किन्तु फिर भी विरहिणी (जीवात्मा) अत्यन्त धैर्यान् तपस्वी की तरह विरह की वेदना को सहती रहती है वह उस विरह में जलकर लकड़ी के समान ही गई है।^५ यह विरहिणी (जीवात्मा) पागलों की तरह अपनी प्रिय की लहर उधर दूँडती

१- विरह भयो विधावना जीवन विपत्ति विजोग ॥

- कबीर संत संग्रह पृ० १५ स० ३४

२- यदि तनु---- कब मुक्त देखे पीउ ॥ - कबीर संत संग्रह पृ० १६

३- लकड़ी बिछुड़ी----- राति ॥ कबीर संत वानी संग्रह पृ० ७ दोहा २

४- सुन्दरि विरहिनि लखरी , दुख कहै मुक्त रोह ॥

- सुन्दरदास पृ० ६७३ स० १८

५- पपीहा लूँ विरहिणी कलिन पोष की बात ॥

- दादू की वानी दूसरा भाग १ पृ० ५३१ १५०

हुं प्रेमी फिरो है। कहीं वह दुःखी होकर राहगीर से अपनी प्रियतम के जाने की तिथि एवं उसकी कृपलता पूछती फिरो है। विरहिणी की तपस्या एवं प्रियतम के प्रति अन्तः प्रेमात्मक के समान है। दुःख एवं संताप कष्टना एवं शोक, रोना और आँसुओं की धारा के बीच ही उस अन्तः प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है, हास्य एवं प्रसन्नता के बीच उसे तलाशना व्यर्थ ही है। सुन्दरदास की नारी, वफा नेत्रों से उस कृपम प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है, उदाहरण स्वल्प जीवन रूपों द्वारा किये लड़ी है। वियोगिनी (स्त्री) की जल के बुलबुले के समान क्षण में नष्ट होने वाले जीवन के प्रति व्यर्थता, नश्यता एवं विन्यास है। विरहिणी की पीड़ा एवं संताप का प्रतीक गीली लकड़ी की माना गया है। विरहिणी स्त्री अपनी दुःख एवं संताप के राज्य की स्वयं रानी मानी जाती है। अगर बारिणी से विचार किया जाय तो विरह में ही प्रेम का भीतिरी तत्त्व दिया हुआ है। जिस हृदय में कभी विरहाग्नि में तपकर विरह को अभव नहीं किया वह हृदय शमस्तान के समान ही है। अन्तः साहित्य में जितनी भी कविश्रियाँ हुई हैं, उन्होंने नारी होने के कारण नारी के हृदय के संताप एवं विन्यास की लड़ी बारिणी से अपनी काव्य में पूर्ण रूप से रखा है।

१- पीड़ा बुझ विरहिणी कसिने पीव की बात ॥

२- सुन्दर पिय के कारण तल्ल बारह मास ॥

- सुन्दरदास पृ० ६ वी० २६

३- हंसि हंसि अन्त न पाहर, पिन पाया तिन रीय ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० ६ ७

४- जीवत सेरा जात है ज्यों लँकुरी का नोर ॥

५- विरहा बुरहा जिन कही, विरहा है सुस्तान ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० ६

६- काग उदावत कर फँस, नैन निहारत बाट ॥

प्रेम सिन्धु में परयी मन ना निकसत की घाट ॥

संयोग काल में जब प्रियतम समीप होता है।

उसके सम्पर्क में आये हुए वस्तुएँ जो सुख प्रदान करती हैं, वियोगावस्था में वही वस्तुएँ दुःखप्रयी एवं संयोगकाल की स्मरण कराने वाली होती हैं। विरहावस्था में बन्धन, लज्जामा, नादनी आदि सभी पदार्थ ज्ञान के समान तपन पैदा करने वाले प्रतीत होते हैं। वरणां स्त्रु मेंवापसी की गर्जन भीषण्य में दुःख संताप उत्पन्न करनेवाली प्रतीत होती है। जीव एवं ब्रह्म के मिलन के मूल रूप में प्रेम की उदात्त भावना रहती है। इसी प्रेम की स्पष्ट भावना की सुदृढ़ जानने के लिए आध्यात्मिक विवाह की संज्ञा दी जाती है। विरहिणी नारी विरह-ग्नि में तपकर जो नेत्रों से क्लृधारा बहाती है। उससे उसके हृदय की सम्पूर्ण गन्धगी नष्ट हो जाती है। नारी के प्रतिरूप (साधक) विरह की ज्ञान में तपकर सारा हो जाता है। यही स्थिति आत्मा-परमात्मा का मिलन कहने में सहायक होती है। प्रेमरूपी वपुः के इस स्त्री को ब्रह्म के हाथों से जीवात्मा रूपी (नारी) लेकर धन्य हो जाती है। युगीं युगीं तक जमर रहती है। वियोगिनी नारी के हृदय में प्रियतम के दर्शन करने की उत्कृष्ट साक्ष्या उत्पन्न हो रही है। उसकी एक ही इच्छा है कि अपनी आराध्यदेव के दर्शन हो जायें। नारी प्रियतम से मिलने के पूर्व सोलह शृंगार एवं वस्त्रों की सजावट करती है, परन्तु जब उसे अन्त में निराशा हो प्राप्त होती है तो दुःख एवं संताप के अधिक बढ़ जाने से उसकी अन्तर आत्मा चीस उठती है। विरहिणी नारी उस अन्त प्रियतम के अन्तजार में इतनी व्यस्त हो जाती है कि उसे अपनी भूख प्यास, नींद, किसी की भी चिन्ता नहीं रहती है। जब उसे अपनी श्रु समान हो प्रतीत होती है। उसे जागते हुए ही युग बीत गया है। दुबारा से

१- मास कथाद् रवि धरणि बरावे ।

जस्त जस्त जस्त आह हुकाने ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० २३४

२- हृदय में स्पष्ट भावी ----- प्रेम के इस संयोग की आध्यात्मिक विवाह कहते हैं ।

प्रियतम से मिलने की इच्छा के कारण वह सर्वप्रथम स्वयं ही इस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करती है। परन्तु मन के लोभ के कारण उसके पैर भारी प्रतीत होते हैं। उसकी बात भी कुछ बस्त व्यस्त हो जाती है। बार बार हुबारा बढ़ बढ़ कर वह उस ऊँचे नीचे मार्ग पर गिर पड़ती है। तपस्वी के हृदय स्त्री नारी कात कालान्तर के प्रियतम (ब्रह्म) का हस्तधार करती है। हर एक उसे परमात्मा की ही स्त्री बताता है जबकि उसकी प्रियतम से कभी तक भेंट नहीं हुई है, प्रेम पूर्ण एवं मरीसेमन्द कीर्ति वाश्वासन भी नहीं प्राप्त हुआ है। उसके मन में संदेह उत्पन्न हो रहा है। दुनिया की बातों में वह उस परमात्मा की स्त्री कहलाती है। वह इस झूठी महत्वाकांक्षा के बोझ को कब तक स्वीकारेगी ? भक्त स्त्री (स्त्री) स्वयं ही नायक के समीप जाकर उसे वामंत्रित करती है उसने मिलन से पूर्व की समस्त तैयारी कर ली है। लम्पे की फटकर फलंग के समान वह भूमि रही है और मधुरवाणी उसकी कंठ से ज्वलित हो रही है। उसने फूलों की सेज सजा रखी है। प्रियतम के बिना वह कृच्छ्रा रही है, अपने प्रियतम को बेतावनी देते हुए कहती है कि धीरे से फलंग पर पैर रखी । नन्द एवं बैठानी जाग रही हैं। प्रेम की कत्यधिक उत्तेजना के कारण ही उसने लोक लाव की भी त्याग दिया है। बहुत समय की प्रतीक्षा के पश्चात् तत्त में तपस्वी की तपस्या सकल होती है, और (राधा राम भरतार) विवाह करने स्वयं जा जाते हैं। प्रसन्नतापूर्वक भजन होकर बहु स्वयं ही फलंगीत गाने

१- तसके बिनु बातम पीर बिया, पिया मिलन की वास रही कब ली लरी ।

फिरि फिरि बढ़हुं सम्हरि बरन जागे धई ॥

- कबीर वचनावली पृ० १०६

२- बातहा जाव हमारे गैह रे ॥

- कबीर वचनावली पृ० १६० पद ३०७

३- ये ललियाँ कलघानी पिय हो सेज बली ॥ -कबीर वचना० पृ० १६६ पद १७३

“ कबीर दास के प्रेम के वादर्स सती और शूर हैं। भक्त का संग्राम शूर के संग्राम से भी ब.कर है, सती के आत्म- बलि-दान से भी श्रेष्ठ है, परन्तु फिर भी यदि भक्त के आत्म बलिदान की भास कहीं दिस सकती है तो वह सती और शूर में ही दिसती है। ”

“ कबीर भक्त और पतिव्रता की एक कोटि में रखते हैं। दोनों का धर्म कठोर है। दोनों की प्रवृत्ति कीमत् है। दोनों के सामने प्रलोभन का दुस्तर जंघाल है, दोनों ही कठिन धर्मी हैं--- बाहर से पुरु नीतिर से पराजय सबकी सेवा में व्यस्त पर एक ही बाराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकते हैं। ”

नारी के ममत्व, कामाशीसिता, वात्सल्यपूर्ण रूप की सन्त कवियों ने देखा तथा नारी के इस रूप की इति उनके सन्तःस्थ में समा गई। इसीलिए कबीरदास जी ने परमात्मा की ही अपनी माता स्वीकारा एवं स्वयं उनके बालक बन गये। पुत्र कितना भी बड़ा अपराध करे परन्तु माता उस पर कुछ पाण ही विचार करे उसे अपने चित्त से साफ कर देती। माता अपने पुत्र के दुःख में दुःखी एवं उसकी सुख में सुखी होती है, इसी हरि रूपी जननी से कबीर अपने अपराधों की क्षमा याचना करते हुए उपर्युक्त माता के ममतापूर्ण व्यवहार का वर्णन अपने काव्य में करते हैं।

सन्त कवि केवल कबीर कवि ही नहीं थे वरन् उनमें कुछ कवि महान् विद्वान् एवं काव्य संसार में अपनी तृतीय स्थान रखते हैं। जैसे सुन्दरदास जी ने अपने काव्य में नारी शब्द में स्तेज का अपकार

१- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी - कबीर पृ० १६४

२- उपरिषत् पृ० १६१

३- हरि जननी में बालक तीरा ।।

- दादू दयाल पृ० ७५ पृ १७

लगती है। यही युगों से चली आ रही एवं चरमोत्कर्ष प्राप्त आध्यात्मिक विवाह की क्रिया है। पतिव्रता स्त्री एवं परब्रह्म से एकचित्त होकर प्रेम करने वाले उपासक दोनों की एक ही मानकर सन्त कवियों ने पतिव्रता स्त्री की महानता को ही अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। पतिव्रता स्त्री वाले देवी भी कृष्ण क्यों न हो, परन्तु उनके उसी कृष्ण पर सैकड़ों रूपान कूल्हाएँ भी बारी जा सकती हैं। पतिव्रता स्त्री अपनी सखियों में ऐसी प्रीति होती है जैसे- सूर्य एवं चन्द्रमा का प्रकाश ज्यों विमान होता है। उस अनन्त प्रियतम का निष्कासन कहे अन्य देवी-देवताओं की उपासना करने वाले भक्त की दुराचारी माना है। दुराचारी नारी समाज में निन्दित होती है। पतिव्रता नारी अपार सुख प्राप्त करती है। दुराचारिणी सदैव ही दुःखी रहती है। इन सभी भक्त कवियों के प्रेम का रूप आदर्शमयी एवं सती स्त्री है। सन्त कवि भक्त एवं सती स्त्री की तुलना इसलिए करते हैं कि सती स्त्री एवं भक्त के गुण एक दूसरे से परस्पर मिलते हैं। दोनों का मार्ग ही कठोर तप का मार्ग है। भक्त तो अपने आराध्यदेव के प्रति एकचित्तता का भाव रखता है। दूसरी तरफ सती नारी पति की ही परमेश्वर मानती है। दोनों ही संसार में एक ही के होकर रहते हैं। पतिव्रता स्त्री एवं भक्त। इसलिए सन्त कवियों ने दोनों की ही तुलनीय दृष्टि से परसा एवं अपने काव्य में विपुलिखित किया है।

१- कुलसि नाबहु फलवार ।

हमारे घर जाये राजा राम भरतार ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० ८७ पं १

२- पतिव्रता मैली नली, काली कृत्ति कृष्ण ॥

- कबीर संत बानी पृ० ४०

३- पतिव्रता की व्रत नहीं विभिचारि नैक शर ॥

- चरनदास की बानी पृ० ६१

दर्शाते हुए काव्य की रचना की है। स्वयं तो उन्होंने साधारण नारी का वर्णन किया है। दूसरी ओर मनुष्य की प्रेरणादायिनी नारी के रूप की दर्शाया है। नारी के परिवार के प्रति व्यवहार एवं कर्म का भी वर्णन किया है कि उसे पुरुषांगी एवं कोमल हृदय होना चाहिए। उसे सम्पूर्ण एवं योग्य गृहिणी होना आवश्यक है। उसी ऊपर ही घर का सुख एवं शान्ति निर्भर रहती है। ऐसी नारी की निन्दा की है जो कि गली गली में घूमती फिरती है। घर की देखभाल नहीं करती है उन्होंने नारी के सुगृहिणी के रूप की ही दर्शाया है।

सन्त कवि भक्त एवं तपस्वी थे, त्याग की प्रतिपुष्टि थे। उसी विचारधारा के अरूप सन्तों ने नारी के कामिनी रूप की निन्दा की है एवं उसे घृणास्पद बताया है। संयम एवं हन्मिद्वयनिग्रह की श्रेष्ठ समझने वाले सन्त कवियों ने कामी स्त्री एवं पुरुष दोनों ही असत्य का प्रतिरूप माना, क्योंकि उनकी विचारधारा ही भिन्न थी। कामिनी का वृत्त एवं अधिक महत्त्व प्रदान करने वाला पुरुष भी उनकी दृष्टि में सपने के समान है। यह समस्त सन्त कवि काम वासना की मणित का सबसे बड़ा शत्रु मानते थे।^१ आकर्षित करने वाली नारी इसीलिए उन्हें हन्मिद्वय प्रतीत नहीं होती थी, वह उसी निन्दा करते थे परन्तु नारी के प्रेममयी, त्यागमयी, ममतामयी, एवं सती स्त्री के सतीत्व की वे भर्त्सना न कर सके। नारी हृदय

१- बिनी कर्म की कंठली पहिर हुआ नर भाग ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४१ दोहा २१

२- जब लग नाता जगत का सब लग मणित न होय ।

नासा तोड़े हरि भजे, भक्त कहावे सोय ॥

- कबीर वचनावली - हरिवोध पृ० ६ सांखी ८५

के निष्कप्ट प्रेम एवं समर्पण की भावनाओं के साथ स्वयं ही उनका हृदय सम-
र्पित हो गया। उसमें स्वीकृत हो गया वह स्वयं की। नारी एवं (पद्म) की पुरुष की संज्ञा प्रदान करने लगे। जिससे तपस्या के बीज से त्यागी गई नारी को फिर से सन्त कवियों ने अपनी काव्य में स्थान दिया एवं उसे नवित के योग्य स्वरूप दिया। सन्त कवियों ने नारी के वात्सल्यमयी एवं प्रतीक रूप, पतिव्रता रूप के प्रति तो मोह रहा तथा उसका वर्णन अपनी काव्य में बढ़ा बढ़ा कर किया। उसे सम्मानपूर्ण दृष्टि से देता, परन्तु उस समय के समाज में नारी की आर्थिक सामाजिक अवस्था बुरी थी। उसका वर्णन नाम मात्र के लिए भी अपनी काव्य में नहीं किया। उन अधिकारों के प्रति वह उदासीन रहे।

(४) हिन्दू सुस्तिम सम्बन्ध

हमारी मध्यकालीन राज्य संस्था मुख्यतः एक लीक सिस्था थी। राज बल का आधार इस्लाम धर्म न था। फारसी परम्परा थी। दिल्ली के सुल्तान बादशाह सदा अपनी व्यक्तिगत धर्म की राज कर्म से भिन्न जानते रहे। वे अपनी सारी प्रजा के भूपाल थे। एक मात्र मुसलमानों के नहीं, इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि एक ओर तो यह मध्यकाल की विचित्र जातीयता का और राजनीति की पूर्ण लीकता का निदर्शन करती है। दूसरी ओर यह प्रकट करती है कि दिल्ली साम्राज्य की समस्त प्रजा और केवल प्रजा ही धार्मिक पीढ़न से मुक्त थी। सुल्तान बादशाहों और हिन्दुओं के बीच का बन्धन धर्म का बन्धन नहीं था। यह राजा प्रजा का बन्धन था। और इस सम्बन्ध की वास्तविकता दोनों पक्ष अन्की प्रकार समझता था। अपनी हिन्दुप्रजा को आध्यात्मिक सुखित का उत्तरदायित्व

बादशाह के ऊपर नहीं था, यह उसके निर्णय करने का प्रश्न न था। जब तक कि वह लोग उसकी आज्ञा का उचित पालन करते रहते। तब तक वह संतुष्ट रहता था। और हिन्दू लोग, राजनीतिक विचारों में तो बादशाह के बल का समर्थन करते परन्तु धार्मिक बातों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन न करते। ज्यों ही तुर्की आक्रमण और विजय की सहर लगी। साम्राज्य के भीतर रहने वाले बादशाह की समस्त प्रजा की धार्मिक स्वतन्त्रता से देना ही राष्ट्र की एक नीति संभव मानी गई। दिल्ली के विस्तृत साम्राज्य के भीतर सर्वत्र हिन्दू मंदिर यथावत् शोध दिये गए। दफन के तीन चार उदाहरण जो हमारे इतिहास-कार उपस्थित करते हैं। वे इस साधारण स्थिति का प्रतिपादन न करते उसकी पुष्टि ही करते हैं। जहाँ तक हिन्दुओं के पीढ़े की सवारी करने से रोके जाने का, तीर न चलाने की आज्ञा का और उसी प्रकार उनके जुद्धों के रोकने का और नित्य कर्म और पूजा पाठ में व्यक्तियों का प्रश्न है। यह सब ऐसे किस्से हैं जो मौलिक ग्रंथों के प्रमात्मक पाठ से उठ लड़े हुए हैं। मध्ययुग में दफन के जो उदाहरण माने जाते हैं। वे कृतियों पर गिने जा सकते हैं और उन पर ध्यानपूर्वक विचार करने से इस बात का पता चलेगा कि वे अविनाशित स्मारक के उदाहरण हैं। धार्मिक पीढ़े के नहीं, यह आश्चर्य की बात है कि मध्ययुग के राजनीतिक अथवा धार्मिक साहित्य में कहीं इस बात का संकेत नहीं किया गया है कि मुसलमानों का हिन्दुओं ने जातिगत विरोध किया ही यह बात नहीं कि हिन्दू लोग अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने में असमर्थ या उसके लिए हतबल न रहे हों। वह तो लड़ाई होने के लिए बबनाम रहे हैं, परन्तु मध्ययुग में जो बहुत सी लड़ाइयाँ हुई हैं। उनमें से किसी में भी ऐसा नहीं हुआ है कि एक ओर केवल हिन्दू हैं तो दूसरी ओर केवल मुसलमान एक सन्धो हिन्दू मुस्लिम लड़ाई बायें तक नहीं लड़ी गई। यदि हम मध्यकाल के इतिहास की ठीक प्रकार समझना चाहते हैं तो विदेशी विजेताओं के एक शांतिप्रिय और दीन जनता पर

कानाबार शासक का मुलतापूर्ण तथा कल्पव चित्र वफा पस्तिर्की से हमें निकास
 डालना चाहिए । मौलिक बाधारी में इस फल की पुष्टि के लिए कोई भी प्रमाण
 न मिलेगा । हाँ मुस्लिम राजे हिन्दू राजाओं से सड़ते थे, परन्तु उसके बधि
 से अन्य मुस्लिम शासकों से सड़ते थे । इसी प्रकार दिल्ली सुल्तान से लड़ाई कर
 मरने वाले एक राजपूत के पीछे सौ ऐसे बलि जिन्होंने वफा ही जातिवालों से
 सड़कर प्राण दिये हैं। हिन्दू धर्म मली भाँति संगठित था और मध्यकालीन राज-
 सत्ता की उत्साही और योद्धा जाति वालों में विभक्त थी । अगर बादशाह
 मुसलमान था तो उसका कारण यह था कि हिन्दू जाति और वर्ण के फण्डों
 में फड़कर वापस में विभक्त थे और मुस्लिम योद्धा संस्था में होते हुए भी सबसे
 बधि संगठित थे । मध्ययुग के मुस्लिम बराबरी और सामाजिक साम्य के विचारों
 से भरे हुए थे । यदि इन्होंने भावों से हिन्दू भी प्रेरित होते तो कल्याण ही दूसरी
 होती । लेकिन सुल्तान बादशाहों की सैन्यशक्ति साम्राज्य के अन्तर्गत रही वाले
 हिन्दुओं तक परिमित थी । जबकि काला उनकी कोई साम्राज्य की सीमा से
 बाहर हुई । वहाँ सैन्यशक्ति क्या भलमसी और मृत्युका की भी तिलांजलि दे
 दी जाती थी । धर्मान्धता के भाव, जो कि विवश होकर साम्राज्य के भीतर
 दबाये रक्ते पड़ते थे । बाहर अंतिकारी रूप में फूट होते थे । मध्ययुग के प्रायः
 सभी वाङ्मयों में साधारण ग्रामीण और नागरिक शांतिपूर्ण रक्ते दिये जाते
 थे । वाङ्मयकारियों की दृष्टि मन्दिरों केव्याह धन पर रक्ता करती थी ।
 वह मुख्यतः वार्षिक लोन से प्रेरित होते थे । धर्मान्धता से नहीं, यदि मुसलमानों
 की मस्जिदों की भाँति हिन्दू मंदिर भी सारे और निरालार होते तो महमूद
 गजनवी की सेना ने भारत पर वाङ्मय न किया होता और न क्ताउद्दीन खिलजी
 दक्षिण में लुटमार के लिए वफा बादमियों की मेजता । इस समय की भाँति
 बधिर्वाश मुसलमान उस समय भी मध्यम श्रेणी के अन्तःस्थल में थे । सुफियों के
 मलजुजातों का साधारण ज्ञान भी हमें यह बख्तावेगा कि वफा जाति के शासकों

के जहीभाग्य का उन्हें गुमान नहीं था। वीर ने अपना जीवन धीरे-धीरे दक्षिण में व्यतीत करते थे। तिर के ऊपर सदा झूल न होती थी, फट भर पीजन भी उदा न मिलता था। जो थोड़ी बहुत सफसता इस्लाम की हिन्दुस्तान में प्राप्त हुई। वह उनके राजाजी और राजनीतिजी के कारण नहीं वरन् उनके संतों के कारण प्राप्त हुई, कोई नया धर्म लोगों के सम्मुख किस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है। इसका बड़ा कसर पड़ता है। यदि हिन्दुस्तान के निवासी उसे गजनी के विजयकारी विजय के रूप में अनुभव करते तो जिन थोड़े लोगों को इस्लाम ग्रहण किया वे भी उसे न ग्रहण करते, परन्तु इस्लाम के महत्तर वीर अधिक उनके प्रतिनिधि भी उपस्थित थे जो राज दरबार वीर शायदियों के वातावरण से दूर रहकर फाम्बर की हुम्मत का अनुकरण, करते हुए अपनी दक्षिणवस्था में भी गर्व करते थे वीर उदार हिन्दू धर्म ने मुस्लिम सुफियों को कणि तुल्य जानकर अपनाया। घनिष्ठता उत्पन्न हुई और दोनों धर्म वाले एक दूसरे के संतों को मानने लगे। यही बात तेरहवीं सदी में भी। यही अब भी चल रही है। ऐसे समाज में जहाँ वर्णों और उप-वर्णों की कमी न थी। वहाँ केवल यह हुआ कि मुसलमानों को एक और नई जाति हो गई। भारतीय राष्ट्रियता के अन्तर्गत यह नया मत भी समा गया और एक मुसलमान के लिए यह बात सम्भव हो गई कि वह राजनीति में नेतृत्व प्राप्त कर सके। यह नया धर्म भी पुराने धर्म के ढर्रे पर चलने लगा। अधिकतर मुसलमान ऐसे थे, जिन्होंने हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान धर्म ग्रहण किया था। उन्होंने मंदिरों को छोड़कर मस्जिदों को मान लिया। परन्तु अपनी परम्परागत रीति पर अटल रहे। हिन्दुस्तानी मुसलमानों के बीच में वार्यावत्स के प्राचीन रिवाजों का ताज भी पाया जाना एक सुनी हुई बात है। हिन्दुस्थानियों के एक वंश का दूसरे वंश पर हस्त करना कोई विचित्र बात न थी जो फर पक्षि राजपूतों की प्राप्त था

वही अब मुसलमानों को प्राप्त हो गया । यदि एक मुस्लिम राजा वफी शासन द्वारा वफी संगठन शक्ति द्वारा यह सिद्ध करता था कि वह जनता के लिए उपयोगी है, तो उसकी वाधीनता स्वीकार करने में किसी को कृत्यधिक बाधित नहीं थी ।

महान् वाद्वीर से सम्बन्धित सुधारों में प्रमुख और उत्तरी भारत के प्रसिद्ध सन्त कबीर ने हिन्दू मुस्लिम एकता के लक्ष्य के लिए प्रयास किये, सूफी मत से प्रभावित कबीर ने राम और रहीम के एकत्व पर जोर दिया । वफी कलह बाणों में हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से उनकी कटुताओं के लिए फटकारा । कबीर ने प्रेम के धर्म का उपदेश दिया जिसका उद्देश्य समस्त वर्गों और सम्प्रदायों में एकता का विकास करना था । उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की लड़ाई लार्ह मरने तथा उनमें सहयोग और सामंजस्य की भावना उत्पन्न करने का सकल प्रयास किया । उन्होंने दोनों ही धर्मों के वाक्य भेदों रुढ़ियों और वाडम्बरों का सफ़ेद करते हुए उनकी वास्तविक एकता पर बल दिया । महात्मा कबीर ने मुर्तिपूजा और कर्मकाण्ड की निन्दा की । जातिभेद को व्यर्थ बताया । मानव समानता पर बल दिया और स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि ईश्वर के सामने सब छोटे बड़े ऊँच नीचे हिन्दू मुसलमान वादि सभी समान हैं और विभिन्न धार्मिक मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। वास्तव में इसमें कोई संशय नहीं कि कबीर एक निर्मल पवित्र के स्वप्न-द्रष्टा थे , जिसमें असत्य और असमानता तथा वाडम्बर और कलह का सर्वथा अभाव था । वे समाज के दुःख स्रोतक, निर्भय , वातुल्य हिन्दू मुस्लिम समन्वय के प्रथम प्रयासक, मध्यमवर्ग के प्रणीता, मार्ग दर्शक, हिन्दू मुस्लिम एकता के महान् वरुद्ध और विशुद्ध मानव धर्म की प्रसारित के प्रचारक तथा महान् धार्मिक क्रान्तिकारी थे । कबीर अनाध भक्ति और ईश्वर के भजन की ही मीमांसा का साधन मानते थे ।

निष्कर्ष

साहित्य पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। कारण है कि कवि का देहमात्र से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसकी लेखनी देह काल से निर्दिष्ट होकर साहित्य छूट नहीं कर सकती है। देह काल और कवि एक दूसरे को बहुत प्रभावित करते हैं। निर्गुण सन्तों के साहित्य में भी उस युग की प्रवृत्तियों का समावेश है, जिसे उन सन्त कवियों ने देहात् सर्व छुटा था। सन्त कवियों को भी अपनी विचारों की व्यक्तिगत के लिए समाज की आवश्यकता हुई। समाज व्यक्ति की वह समष्टि है, जिसमें उसके हित विन्तन दुःख सुख एवं जीवन के व्यवहार समाहित एवं सम्बद्ध रहते हैं। समाज एक विशाल जलधि के समान है जिसमें विभिन्न प्रकार की जल वाली समस्त सरिताएँ अन्तर्हित हो जाती हैं, फिर भी वे अपना अस्तित्व उसी बृहत जल राशि में रखती हैं। मानव समाज का प्रत्येक प्राणी जब धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों को एक दूसरे से सम्बद्ध रखता है। तब ऐसी ही सजातीय भावना वाले व्यक्तियों का एकिकरण समाज के नाम से अभिहित होता है। जहाँ मनुष्य अपनी भावनाओं के विकास के माध्यम से आदान प्रदान करता है, जहाँ उसका जीवन, गतिशेष धारा के प्रवाह से सम्पन्न हो जाता है, जहाँ उसकी जिज्ञासा शक्ति एवं प्रवृत्ति को प्रत्येक प्रोत्साहन और साधन प्राप्त होते हैं। जहाँ स्वार्थ साधनाओं की बलि देकर दूसरों का हित सम्पन्न करने में तत्पर हो जाता है। वही समाज की स्थापना हमें दृष्टिगत होने लगती है। समाज स्थापना को फलही सोढ़ी सहानुभूति है। कहा जाता है कि (मनुष्य के अन्दर एक विचारों का समाज होता है, और बाह्य समाज उसी का क्रियात्मक रूप होता है। मानव अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर जीव तथा जगत् के विविध विचारों के सम्बन्ध में कितनी ही बातों की विचार-

रता है, तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वर्तमान मानव की चिन्ता से प्राप्त है, उसका उपयोग भी वह चिन्ता से करता वा रहा है। प्रेम, दया, करुणा, दान, पुण्य तथा शोध आदि मानसिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति तो मानव समाज अत्यन्त प्राचीन काल से करता चला वा रहा है। साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से उद्भूत वफे मा-
 विकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के सम्बन्ध में वफे अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का सन्तोष तृप्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिए दूसरे के सहयोग का सदैव आकांक्षी बना रहता है। जब उसे वफे भावनाओं की अभिव्यक्त करने के उपयुक्त व्यक्ति मिल जाता है तो वह उससे वफा सम्पर्क स्थापित करने लगता है। व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होते ही उसके जीवन में चेतना, जाग्रति और व्यापकता का समावेश होता है। उसी स्थल पर जाकर उसे बृहत्तर समाज में व्यापक अनुभूति और प्रतिष्ठा उप-
 लब्ध होती है। मानव को यह सहज प्रकृति है कि वह सदैव विस्तीर्णता से संस्ति-
 ञ्ण की ओर अग्रसर रहता है। इस संस्तिष्णतात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति ही समाज है। जिसके माध्यम से उसका व्यक्तिगत आन्तरिक आर्ति एवं राज-
 नीतिक जीवन जनहित का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मानव का समष्टि रूप उसे उदार, व्यापक, बुद्धिमाला, बना देता है तथा उसकी प्रवृत्तियों की परिष्कृत बना देता है क्योंकि एककी जीवन न त्याग का संदेश ही दे सकता है और न सद्भावना एवं सहानुभूति का बीजारीपण ही कर सकता है। समाज में रहकर ही मानव सहिष्णुता की वर्तमान स्वरूप प्राप्त करता है। एककी जीवन के फलस्वरूप जो संकीर्णता की भावनाएं मानव में जाग्रत हो जाती हैं, उन्हें व्यापक एवं परिष्कृत बनाने का यैय समाज की ही है। मानव द्वारा वर्जित प्रत्येक समाज का वेग बन जाती है। इसी कारण तो मानव एवं समाज का कट्ट सम्बन्ध है। समाज मानव जाति के लिए जिस वस्तु या तत्त्व की कल्याणकारी मानता है,

उसे ही प्रलय देता है, तथा कल्याणकारी तत्त्वों की वीर मनुष्य जाति को प्रेरित करता है। समाज के नियमों का उत्सर्जन करने वाला व्यक्ति समाज से बहिष्कृत सम्पन्न जाता है। इस सामान्य नियम का प्रयत्न सभी देशों एवं सभी कालों में होता आ रहा है। यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में रह कर मानव को उसके नियमों का पालन करना ही पड़ता है। समाज खूब वादों व्यक्तियों की व्यवस्था करने में प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि उसका यह प्रयत्न समय के साथ नवीन रूप धारण करता रहता है। उसी के साथ साथ नई व्यवस्थाएँ उपस्थित होती हैं। समाजशास्त्र के विद्वानों एवं विद्वानों का कथन है कि समाज साधक, साधन और साध्य का संगठन है। इसमें परिवर्तन होते रहते हैं परिवर्तन का सम्बन्ध साधारणतया कतिपय से ही होता है। कतिपय की व्यवस्था में क्वाटर आना ही परिवर्तन है। यह परिवर्तन समाज के रूप के साधनों से होता है। चाहे उन्नति की वीर ही चाहे क्वाटर की वीर। यद्यपि क्वाटर क्वाटर से नहीं होती पर अज्ञानवश ही जाती है, साधक साधन या साध्य इन तीन शक्तियों में से किसी एक में भी परिवर्तन होने पर समाज में परिवर्तन आ जाता है, साथ ही संस्कृति परिवर्तन भी होता गया, जिसने नवीन व्यवस्थाएँ उपस्थित कीं। इतिहास हमें यह बताता है कि समाज की उदार, उज्ज्वल और उन्नत चरित्रवाले व्यक्तियों का संगठन करना चाहिए। यदि किसी एक व्यक्ति का आचरण सुदृढ़ न होगा तो समाज उन्नतिशील नहीं बन सकेगा। कारण है कि उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। संकीर्णता, प्रष्टाचार, अज्ञान, स्वार्थ आदि दुष्प्रवृत्तियों का प्रभाव उस युग में ही नहीं बल्कि भविष्य में बाने वाली पीढ़ी को भी लौकिकी कर देगा।

मानव समाज की बहुमुख्य निधि चरित्र बल है जो उसे सुदृढ़ स्थिति प्रदान करता है। वहाँ उसका चारित्रिक बल दुर्बल पड़ जाता है। वहाँ मानव होकर भी वह मानव का रूप धारण कर लेता है, यदि मनुष्य अपने चारित्रिक बल से ऊपर उठ जाता है तो वह महापुरुष हो जाता

है, प्रसाद जी के शब्दों में " अनुप्यत्व का पूर्णत्व ही देवत्व है। " उदार व्यक्तियों के लिए समस्त वसुधा-कूटम्ब के रूप में होती है। उसी चरित्र की विशेषता स्वार्थ का त्याग तथा परदुःख से दुःखित होना होती है, जिसके आधार पर उसे मानव जाति की प्रवीण करने का अवसर प्राप्त होता है, समाज का उद्धारण वाला व्यक्ति समाज के नव-निर्माण के लिए केहरा करता है, जिससे वास्तविक सुख का अनुभव मानव अपनी जीवन में कर ले। भारत के अधि-सुनियों ने कल्याण की ओर झुककर अपनी वर्णों की तपस्या और अनुभवों के पश्चात् कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्धारित किये जिन्हें अपनाकर कोई भी मानव कल्याण की ओर बढ़ सकता है। समाज के लिए ऐसे उन्नत आदर्श पुरुषों ने रख दिए हैं जिनकी उपयोगिता आज भी हमारे लिए है। वेदों के रचना काल से लेकर हिन्दी साहित्य के अभिवृद्धि तक भारतीय दर्शन तथा विचारधारा का मुख्य केन्द्र आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की जानना एवं उससे सच्चे आनन्द की अनुभूति प्राप्त करना ही रहा है। संत कबीरदास एवं उनकी परम्परा में अवलम्बित होने वाले सन्तों ने वेदों एवं उपनिषदों की इस विचारधारा की व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उन्होंने कर्मों एवं कर्तों का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया। इन सन्तों ने अपनी सामाजिक नीति को रचना व्याख्यात्मक विचारधारा पर की। भारतीय दर्शन की यह परम्परा स्तम्भद्वियों से निराली नहीं जा रही है। निर्गुण सन्त कवियों ने अपनी धार्मिक चिन्तन की सामाजिक दृष्टि से परिष्कृत एवं चरितार्थ किया।

मध्ययुग (१३००-१८०० तक) में भारत की दशा कितनी हीन, दयनीय और विषम थी, इन पाँच सौ वर्षों में उत्तर पश्चिम से इतने आक्रमण हुए कि यहाँ का सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन निरन्तर अस्थिर बना रहा, जीवन और समाज

के प्रत्येक वर्ग एवं प्रत्येक पक्ष पर इतने भीषण प्रहार हुए कि यहाँ का जीवन पाँच सौ वर्षों तक निरन्तर सूक्ष्म और तस्थिर बना रहा। वाङ्मयकारियों ने यहाँ के जीवन समाज एवं धर्म पर इतने भीषण वाङ्मय किए कि भारतीय जनता के जीवन पर प्रत्येक किन्तु लग गया था। परन्तु धर्म और साहस ने विपत्तियों की फौजों तक की विनष्ट करके उसे वांछा की ज्योति के दर्शन कराये। इन परिस्थितियों में भारतीय जनता का हृदय और मस्तिष्क कैसे स्थिर रह सकता था। इस अनिश्चित स्थिति और अज्ञेय विपत्तियों का भारतीय जनता पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। इन पाँच सौ वर्षों में भारतीय समाज, कानून, प्रथा, दुराचार, अंध विश्वास और निराशाजनित भावनाओं का केन्द्र बन गया था।

फ़यज़ुल्लाह भारत पराधीनता के पाल में बाक़द हो चुका था। मुसलमानों का राज्य स्थापित होने से हिन्दू जनता के मन में स्वाभिमान एवं उत्साह के भाव विलीन हो गए थे। विलासिता की वृद्धि के साथ ही हिन्दू एवं मुसलमान दोनों की नैतिक दृष्टि से अधःपतन की ओर अग्रसर हो रहे थे। मदिरा का प्रचार व्यापक रूप में हो रहा था। यद्यपि बल्लब एवं अलाउद्दीन आदि शासकों ने सुधार करने की चेष्टा की, परन्तु वेध में संलग्न रहने के कारण एक ओर तो मुसलमानों की उस ओर ध्यान देने का अवसर ही न मिला। दूसरी ओर उस वृद्धि के साथ धार्मिक शिक्षिता भी जा गई। समाज में अनेक प्रकार के अंध विश्वास प्रचलित थे। हिन्दू तो पराधीन होकर फलसे ही गौरवहीन हो गए थे। जब विलास में डूबकर उन्हें पूरी पूरी वात्स विस्मृति हो गई। उनके सामने उनके देव मन्दिर नष्ट किये जाते। मूर्तियाँ लुप्त की जातीं एवं निरपराध हिन्दुओं के रुधिर की सरिताएँ प्रवाहित की जा रही थीं। अनेक अनेक मुस्लिम साम्राज्य सम्पूर्ण भारत में स्थापित हो गया था और हिन्दू जाति परिस्थितियों से हतोत्साहित होकर केवल हँसने के सहारे

हो रह गई थी। इस प्रकार भक्ति की ओर जनता का रुचि बढ़ा। फलस्वरूप
 में हिन्दुओं का जीवन बड़ा अस्थिर और डरावना था। जीवन के समस्त माफसण्ड
 उत्थान के सभी साधन और धार्मिकता के सभी आधार विनष्ट हो रहे थे।
 इन परिस्थितियों में निराशा, व्यथता, हताशा, उच्छ्वस्तता के समस्त उनके प्रिय
 भगवान की मूर्तियाँ जल रही थीं। महामुल गजपती के खल भीषण
 आक्रमणों से हिन्दु जनता का हृदय बल्ल उठा। मुसलमानों के प्रसार से विनष्ट
 होती हुई मूर्तियों को देखकर हिन्दु जनता को आस्था और विश्वास मूर्ति पूजा
 से सन्तः सन्तः डिंग चला था। बाप भावना को निःसारा पिराहित और
 पंडितों के पातण्डों, बाह्याचारों को प्रधानता आदि ने हिन्दु जनता के हृदय
 में हिन्दु धर्म की प्राचीन मान्यताओं के प्रति भीषण आघात और विद्रोह की
 भावना को जन्म दिया। इसी समय रामानन्द, कबीर, रैदास जैसे उदार नेता
 मनिस्वर्यों ने मानवता की व्यापक भावनाओं से पूर्ण और उदारता से युक्त एक
 नवीन धर्म का रूप प्रदर्शित किया जिसमें न जातीयता के आधार पर भीषण
 सम्भव था, न असमानता के कारण घृणा की भावना को प्रधानता न फल
 की मूर्ति के भगवान के कैद होने को मान्यता स्थापित की। यह था निर्गुण
 मत। इन्हीं कारणों से सन्तों की साधना अन्तर्मुखी हो गई और उन्होंने अन्तः
 साधना पर जोर दिया। फलः धर्म का स्वरूप भी परिवर्तित हो चला था और
 निर्गुण फल का सौत्र निर्मित हुआ जिसे व्यवस्थित रूप से संलातित करने का प्रिय
 संत कबीर की प्राप्त है, उन्होंने बाह्य विधानों को त्यागकर आत्म-साधना
 पर जोर दिया। कबीर स्पष्ट करते हैं कि 'लोक जाति ना भूली भाई'।

कुठे सुत की सुत कहे,

मानत है मन मोद ।

जगत मैना कात का

कुइ सुत में कुइ गीय ॥

इस कारण इस संसार के प्राणी मात्र में उसी ब्रह्म के दर्शन करना चाहिए :

‘कहे कबीर मैं पुरा पाया,

सब घट साहब दीब ॥

तत्कालीन सन्तों ने इसी बात का प्रतिपादन कबीर के स्वर में स्वर मिलाकर किया। उनकी साक्षियाँ देखाए हैं कि राम और संसार पूर्ण नहीं है। कारण कि जब एक ही ब्रह्म ने समस्त संसार की रचना की है, तो रचनाओं में भेद कहाँ। एक ही चिन्तार द्वारा विव्रित समस्त चिन्तों में उसी की ही कला तो विद्यमान है। तुलिका के रंगों ने उसके बाह्य रूप में परिवर्तन अवश्य कर दिया है। मानव ने वर्णों सुविधा के कारण सांसारिक विभिन्न वस्तुओं को पूर्ण सत्ता दे दी है। इस विश्व में न कोई कृत्स्न है, न कोई क्लृप्त मिट्टी मिट्टी ही है। नाहै उसकी कोई भी रूप प्रदान कर दिया जाय, समस्त रूपों में ब्रह्म की ही सत्ता है, वह विभाज्य नहीं है। इसी आधार पर सन्तों ने वस्तुश्रुता बान्धोत्तन प्रारम्भ किया और जनता का ध्यान वास्तविकता की ओर आकर्षित किया। इन धार्मिक तत्त्वों में संत-कवियों की सामाजिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टि सम्मिश्रित है। इन संत कवियों ने सामाजिक धार्मिक एवं जाति वर्ण भेदों को हटाकर कर्म की ओर संकेत किया। धनी, विधन, राजा है, ब्राह्मण शुद्ध हिन्दू मुसलमान में कौन सा भेद है ? धन निःसार वस्तु है। वह स्थायी भी नहीं है जनता को चेताने देते हुए कबीर ने लिखा है :

फलों लेतो देति करि, गर्व कहा किसान ।

कबहुँ फोला बहुत है, पर आवे तब जान ॥

सामाजिक सुविधाएँ एवं परिस्थितियों में मानव

के पास धन, संभय कर देती है, परन्तु उस धन का कर्ब न करना चाहिए। उसे केवल एक दास के रूप में ही सम्भालना चाहिए। स्वयं धन का दास नहीं होना चाहिए। यदि स्वयं धन के दास हो गए तो धन की वृद्धि कभी भी नहीं हुआ सकती है :

हमारे राम रहीम करीम केशी कहत राम सति सोई ।

बिसमित पैटि बिसपर स्कें, और न दूजा कोई ॥

कबीर ने राम एवं रहीम की एक ही माना है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू मुसलमानों में भी एकता समुत्पन्न कराने का प्रयत्न किया है। कबीर पंथ में भी हिन्दू मुसलमान दोनों ही शिष्य थे। कबीर के मत से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है :

बो माहं दोह कहाँ सी मोहि बतावौ ।

कि बिहि परम का भेद लगावौ ।

बोनि उपाह रही है धरौ, दोन एक बीज महं करौ ।

राम रहीम जपति सुधि गई, उन पासा उन तख्ती लई ।

कहै कबीर चेत रे नौदु बीलनि हारा तरुफ न हिन्दू ॥

इस प्रकार की क्रान्तिकारी विचारधारा का समाज विकास के लिए बड़ा महत्व है। यदि समाज में भेद भाव मिट जाय तो संघर्ष एवं प्रतिशोध की भावना भी धीरे धीरे दूर हो जाय। अहित, दुःख एवं समृद्धि का विकास वहीं पर हो सकता है। जहाँ समान सुविधाएँ सबकी प्राप्त हों। कबीर की इस समता भावना से प्रेरित होकर अनेक सन्तों ने भी समाज में समता की भावना का बीजारोपण किया और समाज की तत्त्व -

निष्पन्न की ओर प्रेरित किया। सभी का जीवन समान है। अतः लोभ, लालच, ईर्ष्या, विनाश आदि की भावना को त्यागकर मानवता की ओर ध्यान देना चाहिए। इस ओर प्रत्येक निर्गुण सन्त कवियों ने ज्ञेय किया। उन्होंने कहा कि नाय चाहे जिस रंग की हो उसका दुग्ध सफेद हो होता है। उसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान, निर्धन, धनवान् सभी का स्वतः तात्त्विक होता है। हिन्दु मुसलमानों के उस संघर्ष युग में इस प्रकार के उपदेशों ने समाज में धर्म, मानवता की गरिमा की अदृष्टता को दूर करने का प्रयत्न किया। ये तर्क समाज में विच्छेद, विभेद आदि भावनाओं को कम करने के लिए बड़े समर्थ थे। इस प्रकार निर्गुण सन्त कवियों ने समाज में व्याप्त लोभ, ईर्ष्या तथा विनाशकारी तत्त्वों को छोड़कर ब्रह्मस्वरूप मानव समाज स्थापित करने का प्रयत्न किया। मुसलमानों की अहिष्णुता के कारण ही इन सन्त कवियों ने एक ईश्वर की भावना का उपदेश दिया है।

हिन्दुओं के लिए यद्यपि यह नवीन बात न थी, फिर भी वे उस युग में उसे भूल चुके थे। इन सन्त कवियों ने फिर से स्मरण करा दिया -

कहे कबीर एक राम जगह रे
हिन्दू तुल न कोहें।

दोनों ही हिन्दू व मुसलमान का कर्ता एक ही है :

हिन्दू मुसलमान का कर्ता एकै ।
ताकी मति लसा न जाई ॥

सन्तों ने न केवल सामाजिक स्वतन्त्रता की ओर ध्यान दिया वरन् उन्होंने ब्रह्म की अविभक्त अद्वितीय सत्ता की ओर भी भारतीय जनता का ध्यान आकर्षित किया इसके लिए यह लाभ हुआ कि हिन्दू और मुसलमानों

के मध्य में विद्यमान ब्रह्म विनाशक भावना की व्यापक एवं घातक बुद्धिसृष्टि किन्हीं कृतों में समाप्त हो गई। इस वीर प्रायः समस्त कृतों ने सारास्त्रीय प्रयत्न किये। कबीर ने एक ही ब्रह्म को घट घट वासी तथा उसमें संसार व्याप्त एवं संसार को उसमें व्याप्तमाना है :

‘ लोका जानि न भूलो भाई ।
 तासि सत्क सत्क मैं तासि, सब घट रूखी समाई ।
 कता एक नूर उप्पामा, ताकी कैसी निन्दा ।
 ता नूर के सब जग कीया, कौन भला कौन गैदा ।
 ता कता की गति नहीं जानी, गुरि गुरु दीया भीठा ।
 कहे कबीर मैं गुरा पाया, सब धटि साहिब दोठा ॥

हिन्दू मुसलमानों का यह ब्रह्म स्वरूप तथा गुणों से कृति है, वह वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। वह अनिर्वचनीय है और यदि अभिव्यक्ति की जाय तो कौन ‘पतियायना’ वह न भारी है न हल्का है :

‘ भारी कहाँ तबहु डरी, हल्का कहूँ तो झूठ ।
 मैं का जाणौँ राम कूं, नैरुँ कबहुँ न दोठ ।
 दोठ है तो कस कहूँ, कह्यो न की पतियाह ।
 हरि जेस है तेसा रही, तूं हरिणि हरिणि गुण गाह ॥

समस्त सृष्टि में वही एक ब्रह्म व्याप्त है :

जहँ वैसी तहँ एक ही साहिब का दोवार ।

कबीर के शब्दों में ऐसा ब्रह्म सूधा एवं तृष्णा

से रक्षित तथा घट घट वासी है। वह 'जपपुण्य' स्थूल सूक्ष्म से परे है, वह ज्ञान स्व ज्ञान से ऊँची है। वेद भी उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं है। प्रतीक के समस्त तत्त्वों से भिन्न यह अनुभव तत्त्व है :

राम के नाम निधान बाणा ताका भ्रम न जाने कोई ।

भूत वृथा गुण बाँके नहीं, घट घट कीति सी है ।

वेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पापहृ पुन्य ।

ग्यान विवर्जित ज्ञान विवर्जित विवर्जित स्थूल सूक्ष्म ।

०

०

कहैं कबीर तिहूँ लोक विवर्जित, ऐसा तत् अनुपम ॥

कबीर तथा उनके अनुयायी संत कवियों ने हिन्दू मुसलमान के लिए जिस ब्रह्म की कल्पना की वह अवतार की सीमा तथा भावना से परे है। वह अवतार के बंधन से परे है वह अनादि, अन्त और अ-संछिन्न है। उसका कोई स्वरूप नहीं है, वह स्वयं अपने में पूर्ण तथा कर्ता है।

इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य अस्तित्व धार्मिकता हो रही है। धर्म ने वर्ग, धर्म, जाति, संघर्ष की समुत्पत्ति वही मानव की उदार वृत्तियों को संदेह के लिए संकीर्ण बना डाला । धर्म के नाम पर स्वतंत्र की चरितार्थ बहाल गह । मन्दिर मस्जिद के भीतर एक ही परमात्मा का अस्तित्व माना गया और इन मंदिर एवं मस्जिदों की दीवारों ने संकीर्णता का संजन किया । यह अभिशाप आज भी किसी न किसी दशा में विद्यमान है।

एक ही ब्रह्म सारभूमि है, फिर मन्दिर तथा मस्जिद की सीमाओं के अन्तर्गत सीमित कर देना उचित नहीं है, जहाँ मन्दिर

एवं मस्विद नहीं है, क्या वहाँ ब्रह्म का निवास नहीं है। इन सन्तों ने सामाजिक जीवन की सरल, सुखमय एवं उदार बनाने हेतु इस प्रकार के उपदेश बारम्बार दिए हैं। निर्गुण सन्तों ने आत्म संतोष की भावना को जाग्रत किया, क्योंकि समाज की सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए सन्तोष की भावना बहुत ही आवश्यक है। यह भावना सभी जाग्रत हो सकती है, जब मानव केवल अपना कर्म करे, न उसमें वासवत हो और न उसके फल की ही चिन्ता करे। गीता में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

साथ ही तृष्णा का दमन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। संतोष की भावना का विकास होते ही हीनता एवं दीनता की समस्त प्रवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। तृष्णा की जग्न में पूर्ण संसार भस्म होता जा रहा है। परन्तु तृष्णा दुःखा के समान अपने रूप को नित्य ही विस्तार देती जा रही है। बाजार एवं बाजारदार मानव-हृदय की हर समय घेर रखती है। सभी सन्त कवियों ने तृष्णा की जालीबना की है। कबीर के मतानुसार तृष्णा हा किनी है, काल है, प्रलयान्नि है, इतने दूर, नर, सुनि, सभी की सा डाला है।

सन्तों की दृष्टि में दीनता की भावना संतोष को जाग्रत करने वाली होती है। क्योंकि दीनता की भावना से ही प्रेम, त्याग, आत्म निर्भरता एवं संतोष वृत्ति का जन्म होता है। इन्हीं वृत्तियों के द्वारा मानव सामाजिक जीवन में उदारता का व्यवहार कर सकता है। दीनता की भावना से ईर्ष्या, काम, क्रोध, परहताप आदि रूपांग और दीनमयी भावनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। कबीर ने कहा है कि दीन मुख्य देवता बन जाता है, क्योंकि वह जो सकल मुक्त देखता है, परन्तु उसको कोई नहीं देखता।

‘ दीन लई मुस सवन की, दीन हिं ललहि ना कीय ।
मली बिबारी दीनता, मरहु देवता होय ॥

कबीर ने दीनता की उपमा दियोया के चन्द्रमा से दी है :

सब से लघुताई मली, लघुता से सब कीय ।
जस दृतिग की चन्द्रमा, सीस नई सब कीय ॥

दीन व्यक्ति अपनी की ही सबसे हीन समझता
है। कबीर कहते हैं कि :

‘ बुरा जो देख मैं मला,
बुरा न मिलिया कीय ।
जो दिल् लीजो जाफा,
मुझसा बुरा न होय ॥

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर
कालीन समाज में कितनी दुर्बलताई थी, उनकी समाप्त करने का कबीर ने भरसक
प्रयत्न किया था ।

...

चतुर्थ कथ...

कबीर की वाणियाँ व धार्मिक चेतना

- १- धर्म का तात्त्विक अर्थ
- २- धर्म शब्द का अभिप्राय
- ३- धर्म का स्वरूप
- ४- कबीर एवं विभिन्न धार्मिक मत
- ५- बाहुबलेश्वर कीमता पर बल

१- पूजा

२- स्नान

३- व्रत

- ६- धार्मिक श्रुतियों की मान्यताएँ
- ७- वाति पाति का लक्षण
- ८- सम्भारुण
- ९- मानवीय गुणों पर बल
- १०- कबीर के धार्मिक विचार

धर्म का साधुविक कर्म

धर्म का प्रयोग वही ही व्यापक कर्म में हुआ है, एक वीर धर्म का कर्म निश्चित नियम, बाधरूप वीर व्यवस्था है। दूसरी वीर धर्म मनुष्य की सी निकी वीर कती निकी उपलब्धियों का साधन है। मनु वीर याज्ञवल्क्य वीरों ने ही धर्म के अन्तर्गत उल्लेख वीरों पता की समाहित करने की चेष्टा की है :

वेदः स्मृतिः वार्ताचार स्वस्व च त्रिविधात्मकः ।

स्तम्बसुर्विधं प्राहुः वार्ताद् धर्मस्य सप्तमम् ॥

धर्मशास्त्रों में धर्म के दूसरे पक्ष का भी विवे-
चन हुआ है जो सामान्य धर्म है तथा जिसका बाधरूप मानवमात्र के लिए उप-
योगी है। मनुस्मृति वीर याज्ञवल्क्य स्मृति वीरों ही में सामान्य धर्म का विवे-
चन हुआ है :

‘वर्हिषा सत्यमस्तेयं शीघ्रमिन्द्रियनिग्रहः ।

एवं सामाजिकं धर्मं चातुर्वर्ण्यं ब्रवीन्मनुः ॥’ १

‘वर्हिषा सत्यमस्तेयं शीघ्रमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया शान्तिः सर्वेषां धर्मं साधनम् ॥’ २

सामान्य धर्म का पालन करने से भी कर्म, काम
वीर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। सामान्य धर्म के अन्तर्गत वार्ता की ही प्रमा-
नता है वीर वार्ता की ही परम धर्म माना गया है- ‘वार्ताः परमधर्मः ।’

१- मनु० १०।६३

२- याज्ञ० ५।१२२

‘चतुराणामपि वर्णानामाचारी धर्मपातकः’ इत्यादि वाक्य उस विद्वान्त की दृष्टि करते हैं।

धर्म सङ्घ से अपिप्राप्त

धर्म- अमृतमय और निरोग्य का साधनभूत देव
विहित कर्म - वेद - यज्ञ ।

- एक प्रकार का कृष्ट विषये स्वर्ग की
प्राप्ति होती है।

- लौकिक, सामाजिक कर्तव्य, वह कर्म विवे
वर्ण, वाक्त्रय , वादि वादि की दृष्टि से करना आवश्यक है।

- महाभारतकाल व्यास ने सामाजिक व्यवस्था
स्थापित करने वाले समस्त तत्त्वों को धर्म कहा है। इसके पक्ष में किए जा
सकते हैं : वर्ण- धर्म , वाक्त्रय धर्म , वर्णमय धर्म, गौण धर्म और नैमि-
त्तिक धर्म ।

धर्म का स्वरूप

महात्मा कबीर के धार्मिक विचारों की विवे-
चना करने से प्रथम हम धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहते हैं ।
धर्म की कौन-कौन सी परिभाषाएं प्रसिद्ध हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

१- वाक्त्रय प्रभवी धर्मः ।

२- नीयना तत्तणायी धर्मः ।

३- धारणादर्ममित्याहुः धर्मा धारयते प्रजाः ।

यत्स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥१

४- कौटिल्य निमित्त सिद्धिः च धर्मः ।

इसमें से प्रथम परिभाषा स्मृतिगर्ही की है ।

ये लोक कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमों के पास तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुसार धर्म मानते रहे हैं। उनकी निम्नलिखित उक्तियों से कबी बात का समर्थन होता है :

‘वर्णिषा सत्यमस्तेषां शौचमिन्द्रिय निग्रहा ॥ १

दूसरी परिभाषा भीमार्थकी की है इसमें

धर्म की प्रेरणा प्रधान माना गया है, इसके अनुसार धर्म विविध प्रवृत्तियों पर उचित कर्तव्य देनेवाला सत्य सिद्ध होता है।

तीसरी परिभाषा महाभारत से ली गई

है। इसका अर्थ है ‘धर्म’ शब्द ‘धृ’ धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बंधी हुई है, इस परिभाषा में व्यास जी ने समाज की व्यवस्था करने वाले समस्त तत्त्वों को धर्म कहा है। ये तत्त्व कौन से हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। साधारणतया इसके अन्तर्गत उन समस्त नैतिक बातों और सामाजिक व्यवस्थाओं को लेना चाहिए, जिनसे समाज की स्थिति बनी रहती है।

चौथी परिभाषा महर्षि कणाद की है ।

यह अधिक स्पष्ट और धारणित मान्य होती है। इसके अनुसार धर्म शौचिक एवं पारसीक समृद्धि एवं शान्ति का विधान करने वाली साधना कहल है। ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की सभी परिभाषाएँ एकान्वी एवं

संपूर्ण ही है, जहाँ केवल कजाव की परिभाषा कुछ अधिक व्यवस्थित मान्य
 पड़ती है। किन्तु धर्म का निश्चित रूप उसमें भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। धर्म
 की सभी परिभाषाओं पर विचार करने पर हमें उसी की स्मृति वला दिताई
 देते हैं। उन्हें हम धर्म के साधारण और विशेष स्वरूप कह सकते हैं। उनका
 विशेष स्वरूप व्यक्त, वेत और कात की सीमाओं से बंधा रहता है। यही
 कारण है कि विविध देशों के धर्मों में हमें परिवार जैसे विभिन्न दिताई पड़ते हैं।
 धर्म का साधारण स्वरूप वेत, कात और व्यक्त की सीमाओं के पर रहता है
 और प्रायः सभी देशों के धर्मों में समान रूप से परिग्राह्य है। हमें मानव मात्र
 के मौलिक नियमों की प्रतिष्ठा रहती है। धर्म का यह स्वरूप ही मानव धर्म
 के नाम से प्रसिद्ध है, विश्व के धर्म संस्थापकों ने प्रायः अपने धर्म में धर्म के दोनों
 पक्षों की प्रतिष्ठा की है। किन्तु धर्म संस्थापकों के उठते ही धर्म के ठीकार धर्म
 के विशेष स्वरूप की लेकर सदैव धर्म का जन्य करते रहे हैं। यही कारण है कि
 किसी भी धर्म का स्वरूप विकृत हुए बिना न रहा, किन्तु यह विकृत स्वरूप
 और स्थायी कभी नहीं रहता। समय के प्रवाह में सदैव उसकी प्रतिक्रिया उदय
 होती है। धर्मों का इतिहास वास्तव में इसी क्रिया और प्रतिक्रिया का इतिहास
 है। जब जब समाज में धर्म के विशेष रूप की अधिक कटुता देकर उसे विकृत किया,
 तब तब धर्म के साधारण स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा की गई है। प्रतिक्रिया रूप
 में उद्भूत धर्म के इन साधारण स्वरूपों में सहजाकरण, सहज साधना और सहजी-
 भासना विविध पर सदैव संज्ञा समय समय पर दो गई है, वेदों के (ब्राह्मण)
 इसी सहज पंथ के प्रवर्तक माने जाते हैं, यीशु के सहजयान और बाउल सम्प्रदाय
 सहज सम्प्रदाय आदि सभी मत और पंथ, धर्म के साधारण और सहज रूप से
 ही सम्बन्धित हैं। ये सभी धर्म के विशेष स्वरूप के विकृत हो जाने पर ही उसकी
 प्रतिक्रिया रूप में ही उदय होती रहे हैं। इन सबमें मानव धर्म की पुनः प्रतिष्ठा

करने का प्रयत्न किया गया है। कबीर की धार्मिक विचारधारा का उद्भव भी हिन्दू और इस्लाम धर्म के पातझण्डपूर्ण एवं विकृत रूप की प्रतिक्रिया के रूप में समझना चाहिए। यही कारण है कि इसे विधि विधान प्रधान हिन्दू और इस्लाम धर्म के विरुद्ध सख्त धर्म कहा गया है, कुछ लोग इसे मानव धर्म, निष धर्म या हित धर्म भी कहते हैं।

कबीर बाबू बादि संतों के इस सख्त-साधना के सख्त धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बाबाय्य भित्तिमोहन सेन ने इस प्रकार लिखा है, "कबीर बाबू बादि के मत से साधना सख्त होनी चाहिए। प्रतिपिन के जीवन के साथ चरम साधना का कोई विरोध नहीं होना चाहिए। बाप की वैज्ञानिक भाषा में अगर कहना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं : "पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है, और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर वृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग में अग्रसर कर देती है, उसी प्रकार साधना भी जीवन को सख्त ही अग्रसर करती है।

दैनिक गति से सूर्य की शाश्वत गति का जो योग है, उसी की सन्त सख्त पंक्त कहते हैं। नदी के भीतर दोनों जीवन का पूर्ण सामंजस्य है। नदी प्रतिपक्ष अपने दोनों किनारों पर कण्ठित कार्य करती चलती है और साथ साथ अपने की तलीम समुद्र में प्रवाहित भी कर रही है। उसका बण्ड पथ गत जीवन उसके शाश्वत जीवन के साथ सख्त योग से युक्त है। इसमें से एक की शोड़ी से दूसरा निराश हो जाता है। इसलिए भक्त कबीर ने कहा है, "संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़कर साधना नहीं हो सकती।" साधना में नित्य और दैनिक लक्ष्य में कोई विरोध नहीं। कबीर ने इस सत्य को हम समझाया था।

यही कारण है कि वे संन्यासियों के शिरोमणि होकर गुरुत्व थे, कबीर की वाणी में सख्य धर्म के सम्बन्ध में जो बातें मरी गयी हैं। उपर्युक्त अवधारण के कबीर के धर्म की आधारभूमि तो स्पष्ट हो गई हम उनके सख्य धर्म के लोगों का संश्लेषण करके ।

कबीर का सारा जीवन कल्यात्म साधना

ई ही बीता था । उनकी वह साधना कृपुति के आधार पर ही टिकी हुई थी । वाक्यात्मिक सत्य की उपलब्धि यदि ही एकही है तो कृपुति के सहारे ही ही सकती है। कबीर का सख्य धर्म कल्यात्म का पुट लिए हुए था । उसकी उत्पत्ति कृपुति के ही सचि में उत्पन्न हुई थी । कबीर का सारा जीवन सत्य के प्रयोगों में बीता था वे सब प्रयोग स्वानुभूति के सहारे हुआ करते थे । उन प्रयोगों से जो सत्य सण्ड निकलते थे, वे ही महात्मा कबीर की मान्य होती थे । इनमें भी उन्होंने बलिष्ठतर उन्हीं की महत्त्व दिया है, जिसका स्वयम् उन्हें सख्य एवं सरलतम प्रतीति होता था । कबीर का सख्य धर्म ऐसे ही सरलतम सत्य सण्डों से बना हुआ है। कबीर के सख्य धर्म में दर्शन का जो तैल है। वह भी सरलतम ही है। उसमें तर्क बात नहीं मिलता, दर्शन में वे तर्क की पूर्ण अप्रतिष्ठा समझते थे । उन्होंने स्पष्ट कहा है 'कहत कबीर तत्तु दुह साधि, सिनकी मति के पीटो ।' कबीर का यह कृपुतिवृत्त सारा दर्शन व्यक्तवादी है । उन्हें ब्रह्माण्ड के बणू उणू में ब्रह्म के दर्शन होते थे , उन्होंने पूर्ण रूप से अनुभव कर लिया था । जैसे- 'जानें हम जोई हमही में नोर मिले बल एक हुवा ।' यही कबीर का जीववाद है। यही उनके सख्य धर्म का आधार है। इसी से वह पूर्ण वास्तविक है किन्तु इस वास्तविकता का आधार भी सख्य तत्त्व है । वह तत्त्व न हिन्दुओं के खिन्न से मिलता है, और न मुसलमानों के वस्ताह से । यो गियों के गौरव से उसकी कोई समता नहीं हो सकती । वह सख्य घट- घट

व्याधी भी है। उन्होंने मोक्ष स्वरूप भी पूर्ण कहीती माना है- 'सकल हि समाय न कहूँ वाचै न जाय' ^१ । यही सत्य कबीर के सत्यवाद का प्राण है। इसी के चारों ओर उनकी सारी साधना केन्द्रित है। कबीर के सत्य धर्म में स्वानुभूति के साथ साथ बुद्धिवादिता का भी पुरा स्थान है। जिस प्रकार उनके सत्य धर्म का वर्तन कृत्युति पर टिका हुआ है। उसी प्रकार उनके विश्वास, बुद्धिवादिता पर टिके हुए हैं। यहात्मा कबीर वर्तन जीव में तर्क विरोधी होते हुए भी जीवन में बुद्धिवादिता के समर्क थे उनका सत्य धर्म धर्माचार्यों की प्रति-क्रिया के रूप में उदय हुआ था, ये सब धर्माचार्य बाह्य जाचारी थे परिपूर्ण और निष्ठाठम्परों थे भी हुए थे। कबीर के शब्दों में -

‘सक न मुता दीव न भूता भूता सब संसार ।’ ^२

कबीर का सत्य इसी धार्मिक भ्रष्टों का सुधार करना था, उनका बुद्ध विश्वास था कि -

‘कूड़ी कही राम न पावे ,

सजि टिके निज रूप दितानि ॥’ ^३

कबीर के जितने भी धार्मिक विश्वास हैं वे सत्य पर ही आधारित हैं, उन्हें कन्ध विश्वास से बेहद घृणा थी। लोक और वेद का कन्धानुकरण उन्हें बिल्कुल पसन्द न था। क्योंकि उन्होंने के कन्धानुकरण के फलस्वरूप लोक में होने कन्ध-विश्वाचों की उत्पत्ति हुई थी। ^४

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २००

२- .. पृ० १५५

३- .. पृ० १५७

४- .. पृ० २ सारणी ११

५- .. पृ० २०७

महात्मा कबीर के विश्वासी की प्रथम भूमिका अविभाज्य है। उन्होंने सभी धर्मों के सभी अन्ध विश्वासी, पातण्डों एवं बाह्या-
ठण्डों का बहुत विरोध किया था। किन्तु ये विरोध बहुत प्रबल नहीं पूर्ण
बुद्धिवादी है। हुआकूत पर तर्क उपस्थित करते हुए वे उनके छेददार पण्डितों से ही
प्रश्न करते हैं कि हे पांडे, तुम्हीं बतलाओ कौन सा स्थान पवित्र है, जहाँ बैठ
कर भोजन किया जाय, संसार में वास्तव में कोई वस्तु कर्म और स्वतः ऐसा नहीं
हो पवित्र हो। इसी प्रकार पण्डितों के सम्बन्ध, तपस्या, षट् कर्म आदि
कर्मकाण्डों को वे बहिष्कारीक बतलाते हैं। पण्डित लोग इन कर्मकाण्ड में
लगकर बसती तत्त्व को भूल जाते हैं। ततः कबीर इन कर्मकार प्रबल कर्मकाण्डों
में वास्तव नहीं रखते थे। वे सत्य धर्म में व्यर्थ के बल ब्रतादि भी नहीं पसन्द
करते थे। स्वर्ग नरक में ही उन्हें विश्वास न था। भगवान् के भजन का परि-
त्याग कर तहाँसे का व्रत करने वालों स्त्री को वे गदही कहने में नहीं हिचकते।
उनका दृढ़ विश्वास था कि "तोरण व्रत नेम किए ते सब रसातल जाहि।"^१

संक्षेप में कबीर के सत्य धर्म में किसी प्रकार
के बाह्याचारों का स्थान नहीं है, उनका सत्य धर्म, हृदय की निष्कण्टता,
चरित्र की आचार प्रणता और मन की शुद्धता पर आधारित है। निश्चय
ही महात्मा कबीर का सत्य धर्म आन्तरिक शुद्धता पर आधारित है। यदि
मन शुद्ध है, हृदय निष्कण्ट है विचार पवित्र है और आचरण सात्विक है तो
धार्मिक कहलाने में बाधा नहीं पड़ सकती। कबीर ने धर्म में मन की शुद्धता पर

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १७३ पद २५१

२- .. पृ० ४४

३- .. पृ० २६२ सांख्य १७१

४- .. पृ० २५६

५- .. पृ० ४६

बहुत जोर दिया है, मन मुद होने पर सब ज्ञान बिना भी ही प्राप्ति हो जाता है। इसी प्रकार उनका विश्वास है मगवान् की प्राप्ति को प्रत्येक धर्म का लक्ष्य है, बिना कृप्य की मुदता के नहीं हो सकती। कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है -

“ हरि न मिलि किन दिखे मुख ”

मन पवित्र हो, कृप्य मुद हो, साध ही साध विचार की सात्त्विक हो, सभी मनुष्य धार्मिक कहता करता है, विचारों का सम्बन्ध जोर पवित्र होना भी निरान्वय आवश्यक है, क्योंकि धर्म के प्रधान तीन नीतिसास्त्र और कल्याणसास्त्र के प्राण तत्त्व यह विचार ही होते हैं। यदि विचार मुद जोर पवित्र नहीं है तो धर्म भी मुद जोर पवित्र नहीं हो सकता, यही कारण है कि जब धर्म में विचार की सत्कता और पवित्रता समाप्त हो जाती है सभी में विकृत हो जाते हैं। प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक तत्त्व को विचार के साथ में छाँटकर पवित्र कर ले। वास्तव में धर्म की प्रतिष्ठा करने वाले वेद, सास्त्र, भिक्षु तत्त्व का प्रचार नहीं करते, बिलकुल सम्भानुसरण करने वाले। इसीलिए कबीर ने सब धर्म की प्रधान विशेषता विचारात्मक मानी है, विचारों की मुदता बहुत कुछ बाजारों की सात्त्विकता और मुदता पर आधारित रहती है। सभी ती धर्मों को बाजार प्रभाव कहा गया है। सम्भवतः यही कारण है कि प्रत्येक धर्म में बाजारों के विस्तृत विधि निषेध मिलते हैं। यहाँ तक बाजारों का सम्बन्ध है कबीर ने उन पर विशेष जोर दिया है, किन्तु उनके बाह्यात्मक रूप से उन्हें विशेष प्रणाम भी, वे उसका नैतिक और मानसिक रूप ही समझ करते थे। यही कबीर की अपनी विशेषता थी। कितने भी नैतिक बाजारों का सम्बन्ध विश्व धर्म से है, उन्हें कबीर ने अपनी सब धर्म में पूरा

१- वेद कहेव कही मत झुठा झुठा हो जो न विचारि ॥

- कबीर प्रभावती पृ० १०७

स्थान दिया है। वास्तव में कबीर का सत्य धर्म 'मानव धर्म' ही है। जिसकी स्थिति स्थितान्त की भूमिका पर है। क्योंकि उच्च स्थिति धर्म की कहा जाता है। सच्चा मानव धर्म या विश्व धर्म सबैक ही उन नैतिक वाचरणों पर आधारित रहता है जिनसे मनुष्य की धारणा होती है और जो समाज स्थिति का कारण होते हैं। इन नैतिक वाचरणों में कुछ विधि रूप में होते हैं और कुछ निषेध रूप में। कबीर में दोनों स्वस्वी का निर्विकल मिलता है। विधि रूप में पाये जाने वाले नैतिक वाचरणों में सत्वाचरण, साक्षात्पिता, समदर्शिता, सीस, जामा, बजा, बान, धीरज, सम्पत्ति, परीकार, बलिवा बापि प्रसूत हैं। निषिद्ध वाचरणों में मय, मांस, का, क्रोध, कबीर के सत्य धर्म के 'रक्षणी' स्वरूप में मध्य मार्गानुसरण का भी जैसा स्थान है। मध्यमार्ग सबैक ही नियन्त्र होता है सभी ती बाईने ने उसके अनुसरण पर और दिया है। उन्होंने अपनी धार्मिक साधना में उसको बहुत महत्व दिया है। महात्मा कबीर पर इन दोनों की शाय फही थी। वह मार्ग उन्हें सुदिवादी प्रतीति हुआ था, सम्भवतः क्योंकि- तिर उन्होंने अपनी सत्य धर्म में उसकी भी स्थान दिया है। विशेषकर तत्त्व- निरूपण में ही उन्होंने इसके बहुत अधिक सहायता की है। उन्होंने मध्य मार्गानुसरण पर विशेष और दिया है, उनके स्तव सम्बन्धी विचार 'मझिनी की' शीर्षक कीन में विशेष रूप से व्यक्त हुए हैं। उसीकी एक उक्ति है -देतिर-

‘कबीर मझि कीन करो रहे, ती तिरत न ताने बार।

सुहु सुहु कीन सी तानि करि, हुक्त है संसार ॥’ १

कबीर ने अपनी सत्य धर्म में 'समरसता' की विशेष महत्व दिया है। कबीर संसार के महान् श्रान्तिकारी होने के साथ साथ अपने साम्यवादी भी थे। वे जीवन में समाज में, धर्म में, साधना में, सर्वत्र एक

समरसता चाहते थे। जीवन में वे सुख, दुःख, मान-अपमान, निम्बा-स्तुति, की सम कर देना चाहते थे। समाज में वासि भेद के ऊपर लान्छन डालने की सम-भूमि के रूप में बसल देना उनका लक्ष्य था, वे साधना में कभी स्वयं लौट करती थीं। उनको उचित लौट सम महत्त्व देना अत्यन्त आवश्यक समझते थे। धर्म में कुराण लौट विराण की भी उन्होंने समभूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। कल्ला न होना कबीर की कृति मानना लही समरसता की लकर लाने लही थी। कबीर का लारा जीवन ली विविध विषयमताओं की समरूप देने में ली लला रहा। प्रत्येक धर्म का लपना साधना मार्ग ललन लीला है, कबीर के ललन धर्म साधना मार्ग भी ललन ली है। लली प्राणभूत उपादान ललन लान, ललन वैराण्य ललन लीन लीर ललनलललललल ल। ललन वैराण्य लीर ललन लान ललन साधना के प्रारम्भिक लीलान हैं, वैराण्य ललन का प्रयोग कबीर ने प्रललल लय में नली किया, वेनललल ललन ललनकर ललन में ललल लाने की वैराण्य नली लानती ल। उनकी वैराण्य धारणा में ललललललल की विशेष लललल दिया गया है। ललललल में वैराण्य के ललल लल का ललललललल लीला लललल ललल लललल ल। ललल ललललल नली। कबीर ने लललल लला है कि 'ललल ललल का कीलल ली लल नली लल ललल'। लल ललल लल का लीलन ली ललल वैराण्य है। कबीर लली ली वैराणी ल। लली ललन धर्म में उन्होंने लली ली वैराण्य की प्रलललल की है। ललन लीन उन्होंने ललन धर्म के ललल की ललल करती लल ललल है ली ललन में ली लललल लललल ललल देला है। लली लललललललल लला लल लललल है। लललललली धीर धीर ललन ललन ल लल ललललल ललललल ल उलललीन लली ली ललन में लीन ली ललल है। कबीर के ललन धर्म में केवल वैराण्य की ली लललल नली दिया गया है।

१- लीला लीन लल लललल ली ललल ललललल । - कबीर प्रणालली पृ० १५०

लल लल लली लल लल लली लल ललल ।।

..

२६४

२-ललन ललन लल लील लली ।। कबीर प्रणालली पृ० ४१

३- ललली ललली--- कबीर लल ।।

..

४२

ज्ञान के साथ कर्म योग भी अनिवार्य माना गया है। यहाँ तक कि कबीर कहते हैं 'जहाँ ज्ञान तब धर्म है' ^१ जिसने अपनी जीवन में ज्ञान का चिन्तन नहीं किया उसका बन्धन बन्धन ही समझना चाहिए ^२। कबीर ने साधना के मार्ग में बिचार पर सवार होकर सहज ज्ञान के पवित्र पार पेर रत्नी का आवेष्टन दिया है ^३ जब प्रश्न यह है कि ज्ञान है क्या ? इसके उत्तर में कबीर कहते हैं 'राधा राम पीरि ब्रह्म ज्ञान' ^४। जो इस राम नाम के ज्ञान को जान लेते हैं वे निर्मल हो जाते हैं ^५। इसी ज्ञान की बाधी के सामने समस्त भ्रम टूटिजा उड़ जाती है। सहज धर्म की साधना में कर्म को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि कबीर उसके विरोधी थे। व्यवहितगत साधना के पीछे भी वे चाहें कर्म को विशेष महत्त्व न देते हों, किन्तु समाज में कर्म करना वे आवश्यक समझते थे। उन्होंने इसीलिए घोषित किया है 'जो बैसा कर्म करेगा, उसे उसी के अनुरूप फल मिलेगा। यहाँ तक साधना का सम्बन्ध है कबीर ने रत्नी के साथ कर्त्तों की आवश्यक ठहराया है। हाँ जتنا अवश्य है कि उनकी कर्त्तों का स्वरूप हठयोगियों का था नहीं था। साधना के प्रारम्भ में उसका स्वरूप चाहे जो कुछ रहा हो किन्तु उनका अन्तिम मान्यरूप सहज योग ही था।

१- कबीर प्रवचनावली पृ० २६२

२- बाबरी तैं ज्ञान बिचारे ॥ कबीर प्रवचनावली पृ० २६५

३- कबीर प्रवचनावली पृ० २६६

४- ,, ,, पृ० ३२७

५- निर्मल ते थे रामहि जान ॥

- कबीर प्रवचनावली पृ० २१५

६- सर्वे उद्धानी ----- रहे न नाया बाधी ॥

- कबीर प्रवचनावली पृ० २६६

उन्होंने सदैव सठवीन के बटिश स्वरूप की उपेक्षा की है। कबीर के सहज योग की हम मानसिक साधना कह सकते हैं। मानसिक साधना में लिंगा मुद्रा और कथारी आदि धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। उसमें धौली, नीली, फुमासुन, आदि कुतियों का भी स्थान नहीं है। उसमें सहज भक्ति की ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है। भक्ति में भी नाम, स्मरण, क्यपावप स्व प्रपत्ति की ही प्रधानता दी गई है। कबीर की कीर्ति बहुत पसन्द था। वह ती साधना का सरलतम रूप है। उनका विश्वास था कि 'गुण नार गुणनाम करे' कर्पात् भगवान् के गुणों का कीर्ति करने से कर्म बन्धन कट जाते हैं। कीर्ति के समान ही नाम स्मरण की भी साधना में परमावश्यक मानते थे वे उसे सार रूप समझते हैं -

‘कबीर सुमित्त सार है बीर कस्त बजात’ । १

यह स्मरण यप क्यपावप का रूप धारण कर लेता है तो 'राम रत्न' की प्राप्ति बहुत ही सहज रूप ही जाती है। प्रपत्ति का कर्म है शरणामति। प्रपत्ति की हिन्दू भक्ति मार्ग में प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। हस्ताम का ती यह प्राण है। 'हस्ताम' शब्द का कर्म ही प्रपत्ति है।

डा० भण्डारकर जैसे विद्वान् का ती यहाँ तक कहना है कि प्रपत्ति की भावना हिन्दू धर्म में हस्ताम से ही बाई है। किन्तु यह धारणा बतिष्कानापूर्ण है।

भागवत पुराण की यदि हम एक दृष्टि से देखें कि उसकी रत्ना मुक्तमानों के भारत में जाने के बाद हुई थी प्रमाण न

१- कबीर ब्रम्हावली पृ० ५

२- पंजरी पिन पिन करे, हण की सुमिरे का ।

बाई सुति कबीर की, पावा राम रत्न ॥

- कबीर ब्रम्हावली पृ० ५

भी मानें, तो भी हम मन्मदुर्गता के शासन की नहीं ठुकरा सकते । नीला में तो प्रवर्तित की अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जो कुछ भी ही कबीर ने अपनी सहज धर्म में प्रवर्तितभाव की विशेष महत्त्व दिया है। उनकी रचनाओं में मनवान की शरण में जाने के उपदेश भरे पड़े हैं। नीला के अज्ञान एक स्थल पर वे भी कहते हैं - “ मनुष्यों के मन से समस्त प्रमाँ को त्यागकर केवल राम की शरण में जाओ और उसी का भज करो । ”

कबीर की सहज धर्म की साधना का यही सार है। जिस प्रकार कबीर की धर्म साधना मानसिक है। उसी प्रकार उनकी उपासना और वर्णन विधि भी भावात्मक एवं मानसिक है। उनका बहुत विश्वास था -

“ भाव भगति हूँ हरि न बराधा, काम मल की मिट्टी न साधा । ” २

कबीर ने वर्णन और उपासना के लिए किसी प्रकार के बाहुयाचारों का आदेश नहीं दिया है। अगर पूजा की चीज़ी देना है तो वह अपने सीते की ही चाहिए । इसी प्रकार भावात्मक वास्तो का भी विधान किया है। इसी प्रकार मुक्तमानों की भी सम्झनाया है :

१- कहत कबीर धुनहु रे प्रानी । बाहुहु मन के भरना ।

केवल नाम बपहु रे प्रानी, परहु लु की सता ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० २६२

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० २४४

३- सीत सीत का चीका कीये ।

भाव भगति की सेवा कीये ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० २७५

४- सेत कबीर राम विभाधु आसी ।

- कबीर ग्रन्थावली पृ० २४६

‘सैल सङ्गरी बाहिरा मया ह्व कावे बाह ।

जाका दित साक्त नही ताकी कहा सुदाह ॥’ १

इस प्रकार कबीर के सत्य धर्म का स्वरूप सब प्रकार से सात्विक, सरल, सत्य, भावात्मक और बोद्धिक है। उनका ज्येष्ठ दर्शन कुपुत्रि पर आधारित है। उनके धार्मिक विश्वास और रीतियाँ, सुदिवादिता, पर लड़ी हुई हैं। उनकी नैतिकता, सात्विकता, सरलता और मानवधर्म से कु-भाजित है। उनकी साधना मनोबन्ध और मवित सर्व प्रेम से प्रणीत है। उनकी उनकी कर्म और उपासना विविधपूर्ण भावात्मक और मानसिक है। संक्षेप में कबीर कबीर के सत्य धर्म का स्वरूप है।

कबीर एवं विभिन्न धार्मिक मत

कबीर साहब का वाणिर्भाव क्रि.म की १५ वीं शताब्दी में हुआ था। उस समय भारत में लोक मत पदान्तर प्रचलित थे और विभिन्न सम्प्रदायों के जटिल विधानों तथा उनके अनुयायियों के परस्पर विरोधी वाचरणों की बन्धाधुन्य में वास्तविक धर्म का रहस्य जानना कठिन हो रहा था, सभी अपनी अपनी देह बावत कीलकड़ी क्लेश क्लेश फाना चाहते थे, अपनी साम्प्रदायिक नियमों के सामने दूसरों की और दुष्टिवात तक नहीं करते थे। बन्ध, पातण्ड और जलकार का प्रायः सर्वत्र बीतनासा था और धर्म वस्तुतः व्यक्तिगत वाच्यार्थिक कल्याण का एक कुल साधन होने के स्थान पर एक प्रवृत्ति तथा सामाजिक विभूतता का एक बहुत बड़ा कारण बन गया था, कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत स्थापन स्थलों पर हिन्दू धर्म एवं इस्लाम की कुछ बातों में अन्तर दिखलाया है, और कहा है कि वे न तो मौलिक हैं, और न किन्हीं

व्यापक विद्वान्ताँ पर ही वाशित है, किन्तु उन्हीं बाह्य भेदों के कारण दोनों अनुयायियों में वैमनस्य दिताई पड़ता है। यदि हिन्दू धर्म के अनुयायी देवी तथा दिवों की पूजा करते हैं, पूर्ण दिता को महत्त्व देते हैं। नंगा स्नान करते हैं। और स्थावरी का व्रत रखते हैं तो इस्लाम धर्म वाले इसके विरीत काबी, मुस्ला, पीर और बैगम्बर को मानते हैं, रीजा रखते हैं और पश्चिम की ओर मुँह करके नमाज पढ़ा करते हैं, सभी प्रकार यदि हिन्दुओं की उपासना के लिए कोई मंदिर पवित्र स्थान माना जाता है तो मुस्लिम अपनी मस्जिदों में जाकर उपासना करते हैं। कबीर के समय में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कीक प्रकार की साधनाई दिताई पड़ती थी जिन्हें प्रयोग में लाने वाले अपनी अपनी धून में ही मस्त जान पड़ते थे। कबीर साहब ने कई एक का परिचय दिया है। उनके विभिन्न वाचरणों तथा उपासनाओं का उत्सैत किया है :

“ एक ब्रह्म एक कटाधार ,
 एक ब्रह्म विभूति करे वपार ।
 एक मुनियर एक मन हूँ तन,
 हेतु हीत हीत बन जात छीन ॥

कहि काहि एक पीबहि दूध ॥ १

कबीर उन सास्त्र विहित नियमों की भी बालीबना करते हैं जिनके अनुसार वस्तुशुद्धता तथा अवविग्रता के भाव वाग्रत होते हैं, उनका कहना है कि यदि ब्रह्म में ब्रह्म है, स्थल में ब्रह्म है, जन्म में ब्रह्म है, मरण में ब्रह्म है तो फिर पवित्रता कहाँ रह जाती है ? कबीर साहब ने सभी प्रकार

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २३८

२- गुरुग्रन्थ साहिब पृ० १९

हिन्दुओं के, उपास करने के उद्देश्य से जन्म हो देने की 'पातण्ड' की संज्ञा दी है। कबीर साहब ने कितने विस्तार के साथ हिन्दुओं के सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों की चर्चा की है, उतने विस्तार से इस्लाम धर्म की नहीं, उन्होंने धर्म तत्त्व के भूत की और सच्चा ध्यान वाक्य कहना चाहा तथा उसके बादशा-नुसार बाधरण करने का भी सक्ती उपदेश दिया। वे विभिन्न धर्मों का क्या मतों से पूर्णतः प्रभावित भी वे उनकी वास्तव कर्मवाद जन्म जन्मान्तर में स्पष्ट दीक्षा पकड़ी है, और वे कभी कभी मान्यवादी जैसी भी बातें कर जाते हैं। वे रामायण एवं महाभारत की कई कथाओं से भी परिचित बान पड़ते हैं। वेष्णवों की तो वे स्वयं अपने राम की भाँति अपना संगी बख्ताते हैं।

कबीर साहब की रचनाओं से प्रष्ट होता है कि इस विषय में उन्होंने सत्य के वास्तविक रूप की समझने और समझाने की चेष्टा की थी और उन्हें विश्वास था कि उनके द्वारा वे सारे धार्मिक मतों की सरलता से दूर कर सकेंगे।

बाहुयाठम्बर होनेवा पर कत

‘पाये तिलहु हथि माला बाना ।

लोगन राम सितीना बाना ॥’

कबीर ने तत्कालीन समाज के धार्मिक लोगों में पीची धारी पण्डे, पुराणवादी, वैदिक, माला बन्धि ब्राह्मण, तिलकधारी ब्राह्मण, वेद वादी विद्वान्, भूत रमाये योगी, गुरुद बन्धि संन्यासी, गीताद, धीसिवाय तादिक, कपटी पुजारी, बगि बैदि मुस्ता, कुरान की वाक्यों

पड़े मौलवी, मुर्गी मारती काबी, इन से भी लौटकर पाप करते काबी को देता
 था । उसकी प्रतीत्य कल्पः बन्धुर्वा ने समाज के रूप को ठीक से कल्पना था ।
 उसी कारण निठर होकर के उन्होंने आत्मा को पुकार को सत्य की ऐसी कधीटी
 बनाया, जिस पर समाज के इन इन धर्म के ठेकेदारों को परता जा सके, उसने हाथ
 में डाक्टर का नश्वर लिया जिससे वह देह के नले सड़े भाग को काटता गया और
 स्वयं ही परम पट्टी भी करता गया ताकि समाज की देह नष्ट न होकर स्वस्थ
 व दृष्ट पुष्ट हो जाये । क्योंकि उसने जिस पथ को फटकारा उसे अपनी और
 कुरुक्षेत्र भी किया जिस पथ को फटकारा उसे नया पाठ भी पढ़ाया जिस
 प्राधन को दूर दुराया उसे निर्मल भी कर दिया । जिस वेदवादी को लताड़ा उसे
 ऊपर की उठाया , जिस पुजारी को धिक्कारा उसे धन्य भी कर दिया , जिस
 योगी को पुकारा उसे पुकारा भी , जिस तीर्थ यात्री को पुकारा, उसे
 ठहराया भी, जिस मुस्ता को डाँटा , उसे नया नूर भी दिखाया , जिस मौलवी
 को डकटा उसे नया सफा भी दिखाया , जिस काबी को धुंका उसकी जल दुरस्त
 कर दी । जिस हाथी को फिटका उसकी सीधा रास्ता दिखाया । इस प्रकार
 वह प्रष्ट जन-साधारण को सुषम पर चलाया और समाज द्वारा ठहराये हरि-
 काँ की नले लगाया । इन कार्यों से ही कबीरा कबीर महान् हो गया । कतः
 उसकी व्यक्तित्व के निर्माण में वहाँ इन बाध्याचारों के विरोध का विशेष
 महत्व है। वहाँ वेद की तत्कालीन, धार्मिक, सामाजिक, एवं राजनैतिक विच-
 मताओं से टक्कर लेकर अप्रम्य उत्साह एवं साहस से उसका विरोध करते हुए नवीन
 समाज के निर्माण का बीड़ा भी उसी को प्राप्त है। उसने बलती हवा के सम्युक्त
 सीमा करते न केवल उसके वेग को ही सहा था बल्कि उस दिशा में जागे भी कहा
 था । महापुरुष का यही लक्षण है कि वह स्वतः परिस्थितियों के अनुकूल न
 बल्कि परिस्थितियों को अपने अनुकूल ढालता जैसे वीर कबीर ने यही किया भी ।

१- पूजा

कबीर ने पत्थर पूजा का विरोध किया है, क्योंकि उससे तत्कालीन समाज विकृत हो रहा था, बन्ध विस्वास है, ऐसा कबीर ने कहा है :

‘ जो पत्थर को कहते देव ।
ताकि विरथा होवे देव ॥ ’ १

० ०

तो रह न पावो पूज्य न देना । २

क्योंकि उसने स्वतः भी तो ‘ तीस बरस कहु देव न पूजा ’ और पूज्यता भी क्यों ?
‘ पाखान नदि के मूरति कीन्हीं ये के जावो पाउ ’ फिर भी उसकी प्रति मजा कैसे बाकी रह जावो, और यदि ‘ ये रह मूरति साखी है ’ तो गढ़न जारी लाउ ‘
और उसने कहा था , ‘ न पायल नोले न कहू देह ’ इसलिए उसकी पूजा बेकार है। पूजा के लिए ‘ भूली मातली ’ फलें तोड़नी हैं, उसे कहा है कि फलें तो केतन के पीध के बीज हैं, पर जिसकी पूजा के लिए तुम इन्हें तोड़ रही हो ‘ सो पाखन निरबीउ ’ । वह ब्रह्म जिसकी पूजा के लिए यह सब बाढम्बर है, सर्वत्र ही विद्यमान और ‘ रूप रंग रस ’ रहित है। लेकिन संसार ने तो ‘ पाखन परमेश्वर ’ कीजा ‘ और उसी को ‘ पुने समु संसार । यदि परमेश्वर कहीं न मिले तो पूजा-रियों के लिए उसे प्राप्त करना भी फट्टा काखन है और भगवानों के यहाँ तो भगवानों के ही डेर लग जायें क्योंकि वह तो ‘ ठाकूर पूजहि मोलि से ’ किन्ना सस्ता है भगवान् । लेकिन कबीर कन भगवान् तो कसि भी सस्ता है उसके लिए तो

१- कबीर ग्रन्थावली

२- कबीर ग्रन्थावली

‘ ब्रह्म पाती विष्णु डारी कुल सँकर देउ ।

तीनि देव प्रसति तीरहि करहि किसी छेउ । ’

हे बौद्ध संसार के सभी देव तो सर्वत्र विद्यमान हैं । मात्र उनकी परमाने के लिए प्रज्ञाबद्ध अपेक्षित है, इस प्रकार पंचर पुत्र तथा मुक्ति पुत्र के साथ साथ बहुदेवीपूजा का भी विरोध करते हुए बौद्ध को संतुष्ट किया है कि ‘ तु कहीं व्यर्थ ही ‘ देवी देवा पूजहि डौलहि ‘ लेकिन प्रमण शीत बौद्ध का ‘ मन बडस रे ‘ जो ‘ पुन कउ बहु देव ‘ अन्यान्य तीर्थ स्थानों में उसे प्रमाणी किया जाता है। जब कबीर पर कोई विश्वास नहीं करता तब वह पुनरी वासी को कह देता है, ‘ ब्रह्म प्रवि प्रवि हिन्दु मुर ‘ लेकिन उसके हाथ कुछ न लगा । इसलिए उसने तो एक मात्र ‘ निर्लेखारी निरखानी ‘ ब्रह्म की उपासना का संकेत दिया क्योंकि :

‘ जो हरि सा हीरा झंझि के, करहि जान की जास ।

ते नर दीक्ष जाहिगे, सति माते रविदास । ’

२- स्नान

‘ संधिवा प्रात स्नानु कराही ।

बिउ मर बाहुर पानी माही ॥

सामान्य स्नान की ती बात ही झींझें यदि ‘ कंठरि पैसु ‘ है तब तो पैसु के समान, बाहे ‘ वीर्य नावै तिसु कैकुण्ठ न जाना ‘ न केवल ‘ बहु तीर्य प्रमता ‘ व्यर्थ है, बल्कि जो ‘ छठ तीर्य जाहि ‘ वह सब बाहुवाचार भी कैकुण्ठ नहीं पहुँचा सकते, तीर्थ यात्रा, तीर्थ निवास, तीर्थ स्थान और तीर्थ भरण यदि केवल न होत तो काशी निवासी पण्डितों का विरोध करने के लिए कबीर काशी छोड़कर बाहर क्यों जाते ? उन्होंने यह

उन्हेस ही नहीं दिया बपि । 'कलकलानु सिमपुरी' 'नवाने बासा कुसाहा
 कलमुन ही नरती बार' 'मलहरि उठि बाबा' 'बा' । यदि कम भी कबीर
 के धर्म की मरुध धर्म न कहा जाये तो मया कहा जाये, उन्हेनि स्वतः कहा
 है :

'बहुत बरस तपु कीबा कासी ।
 मरु मरु मलहर की बासी ।
 कासी मलहर कम बीनारी ।
 बीही मनसि कंठे उतरहि बारी ॥

यह कासी और मलहर नहीं है जो मरुध की स्वर्ग जगहा मरुध योनि देते हैं,
 यह तो मरुध ही है। यदि मनसि बीही होगी, तो वह मरुध पार नहीं पहुँचा
 सकते ।

२- व्रत

मरि, मरुती ताने वाले यदि व्रत रखर केहुण्ड
 बाना चाहें तो वह केहुण्ड न बाकर 'रघातल बाहि' 'क्योंकि कलकलानु सिमपुरी
 दिलावटी बप, तप के साथ' 'किवा वरु किवा हस्तानु' 'स्वका भी कीर्त
 मुल्य नहीं । ब्राह्मणों के नीबीस उपवास और बाबियों के महीने भर के रीति
 क्या उन्हें मरुध पार पहुँचा सकते हैं कभी भी नहीं । उन्हेनि न केवल व्रत, उपवास
 व रीति का विरोध किया है, बपि मुक्त पिण्ड वीर बाद की तो सविस्तार
 हुंति बलाति हुए कहा है-

'जीवत फिर न माने कीउ ।
 मुर कराम कराहि ॥

तथा कुछ भीषण विषे उनके लिए क्लृप्त है डाह देते हैं उसे 'कउवा कूकर लाही' करना ही नहीं बल्कि मिट्टी के देवी देवता के सम्मुख 'जीउ देही' 'बीनों की भी बलि चढ़ा देते हैं। इस प्रकार उन्होंने गुरु सन्तों में ब्रत, उपवास, तीखा, भाद, फुल, विष्णु तथा बलि चढ़ाने का विरोध किया है और मानव की आन्तरिक दृष्टि से सदाचारी होने का सम्बोध किया है :

‘बप्पी कास की बिवा दिलावहि लोह’

न केवल कास की माला का बप्पु पाये तिलहूँ का भी उन्होंने विरोध किया है क्योंकि :

‘ठण्डा , सुंदरा सिवा बाधारी ।

‘अम के भाइ नवै भेल धारी ॥’

धूस रमाये हुए साधुओं के हाथा, तिलहूँ , त्रिपुण्ड्र , कण्ठमाला, ठण्डा, फुला, सुंदरी सभी बाह्य भेषों का उन्होंने विरोध किया है, क्योंकि 'गुरु सवि का सण्ड बाहर' ऐसे पापी साधुओं ने 'कबहुँ बिकार न होइ' क्योंकि उनका 'फुल मया' है। क्योंकि तो चाहें उन्होंने जटा नस्न सेफ किया और 'गुफा मलि बाहु किया' लेकिन यह सब केकार हैं, बाधकारी होने के कारण उन्होंने बप्पा नाम 'अम के फटे तिलाववा' क्योंकि जब तक 'भगति नारदी रिये न बाई' तब तक वह सब पहरावा और बाह्यावरण व्यर्थ है। कबीर के तिलमिला देने वाले व्यंग्य , जब लौकिक जीवन से ग्रहण किये गए हैं तब बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए हैं :

‘सुंड सुंडार नो सिद्धि पाई ।

‘सुकुति भेद न गइवा काइ ॥’

नमि रहने से ही यदि मोक्ष मिलता है तो सभी पशु उसके अवश्य अधिकारी हैं।

सारौहिक कष्ट साध्य साधनार्थ से कच्चा तन्त्र मन्त्र से मन को बस करने वाली का भी उन्होंने विरोध किया है, स्मरण का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा, 'सिद्ध के जाने तन्त्रु न भन्तु' इस प्रकार घिर मुँदाकर कच्चा पटा रत्नर नमि रत्नर या बधिक वस्त्र फल कर, भस्म लगाकर या धूसर रमाकर हाथा हाकर या तिलक धारणकर कण्ठमाता फल कर या माला फेर कर बस सब से शरीर को कटा कर या कठोर कर, कम्बजुत लाकर कच्चा उपवास कर बिन्दु रसा कर, या वायव्य कर, गुफा को घर बनाकर या वाजपेय स्थल सम्पन्नकर मृगवर्षों को छापी बनाकर कच्चा पशु पात्र सम्पन्नकर मन की ही वायास बनाकर या साधना स्थल सम्पन्नकर किन साधुओं की ओर योगियों ने मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न किया था। उन्हें कबीर ने सतर्क किया :

‘भावे साम्ये कैसे कर, भावे धरारि मुँडाव ।’

स्तना ही नहीं - ‘कबीर पशु पृथिया नहीं, कैसे मुँडारा काहें ।

बो किहु किया जो मन किया, मुँडा मुँसु क्वाय ॥

और ऐसे ही बाह्याढम्बरियों के किया कलापों को देखकर कबीर की वात्सा की जो ठेस पहुँची थी, उसी का शब्दन इस पद में देखने की मिलता है :

‘वासन भाँवि चरावहि अपरि काढ़ि डीक बलावहि ।’

स्तनी पवित्रता में मोक्ष बनाने वाली ‘सारे मानस लावहि’ मनुष्य की ही ला जाती हैं। यह देखकर ही कबीर ने उन्हें ‘हरि के सन्त न कत्कर’ बना रखी के ठग कहा है। इसके अतिरिक्त उसने बनारस में ‘मूँह पत्तीसि कमर बधि पीयो’ ऐसे ब्राह्मण भी देखे थे ।

सदीपः उसने बाढम्बर का रेशा विरीध

किया था जिससे कोई बाढम्बरी न बन सका । वहाँ ' कुत मुनि पुन हिन्दु
 मुर ' वहाँ तुलु मुरु धिर नाह ' बडा धारि धारि बीनी मुर तथा
 ' वेव पदे पदि पण्डित भुर , लेकिन ' तेरी गति लहि न पाई ' मुत बात
 यही है कि जब तक ' मिलिबा ते होइ उवास ' बीन ने अपना मन निर्यस्त
 नहीं कर लिया तब तक इन बाढारों और बाढम्बरों का कोई प्रत्य नहीं, उसने
 अपने गुण के प्रकाश के लो साधन को भी खर्च किया था क्योंकि पवित्र के बिना
 ' साकत कारी कामरी धीरे होइ न संतु ' कबीर ने केवल हिन्दुओं के बाढम्बरों
 का ही विरीध किया ही ऐसी बात नहीं, निर्यक्ति उसने मुसलमानों को बाढे हाथों
 लिया था । क्योंकि नका सम्बन्ध किसी मत सम्प्रदाय , धर्म या जाति सीमाओं
 में बद्ध न था । वह तो मानव मात्र के लिए दिव्य सम्बन्ध था :

' कबीर भुलाई सुनारे किया बहहि सार्ह न बहरा होइ ।

जा कारनि तु बागि देखि मिलि ही भीतरि जाइ ॥

बागि देने वाले मुस्ला को बताया कि उसका सुना न तो बहरा है और न दूर
 ही है। नमाज पढ़ते जाते हुए ' किया उलु पाकु कोबा मुह धीरगा । ' बागि को
 सुनकर ' वसु ' (नमाज से पड़ित हाथ मुँह आदि धोना) करे तुम अपने
 को पवित्र समझते हो लेकिन तब तक ' दित्त महि कष्ट निवाज गुजारे ' तब
 तक बहिस्त नहीं पहुँच सकते । इस बात को न भूलो । तखवीह (माता) तथा
 इबादत प्रार्थना के लक्ष्य में पड़े हुए मौतबी को भी भ्रमकारा है क्योंकि यहाँ
 तो पवित्र भावनाओं का ही महत्व है, और फिर ' काजी महरम बाना '
 कछेर रमजान के महीने में ' रोजा रखे का भी विरीध किया है ' क्योंकि
 वह ' रोजा धरे मारवे अलहु सुनायति बीन संधारे । क्योंकि उसके ' दित्त महि

कष्ट है ' खीतिर तो रोना रली बाह्या वह स्वाय के तिर जीव का संसार कर लेता है, हुता की सर्वव्यापक सम्पत्ति वाले मुस्ता से कबीर ने यह भी पूछा है, ' किउ मुरली मारे ' लेकिन इस ' हसाहु ' का उसके पास कोई उत्तर नहीं। ' पक्षिनि बहल मुकामा ' सम्भार कर हम पर जाने वाले काबी की भी उसने बताया है कि ' दित मंहि लीयि रहि छर मुकामा ' और खीतिर उसने घोषणा की है :

‘ मरु करि मरु भिक्का करि देखि ।
 बीसन हात परम दुरु देखी ।
 कहू रे मुस्ता बनि निमाय ।
 एक मसीहि दसे दखाय ॥ ’

मन की मक्का बनाकर देह की परित्यक्त विज्ञा बनायी और तब देह खी मस्जिद के दर्शों दारों से बाग़ देकर नमाज खी तबक कहीं उसे दित में पा छीनि । उसने कुरान की भी तब तक केहर बताया है जब तक उसकी ' दित मंहि तबदि न होइ ' इस प्रकार वहाँ कबीर ने नमाज कखाने वाले मुस्ता की बाग़, बजु, नमाज तथा मस्जिद की सम्पत्ति से परिचित कखाया । वहाँ तबक दित धार्मिक मांसवी की कुरान की वायतों पर विचार करने के तिर प्रेरित भी किया । जतना ही नहीं धर्माधिकारी शैल की तबकीह और ख्यायत का महत्त्व सम्भगते हुए हम के कसली रूप में दर्शन कखा दे, रीयि के बाद कुरबानी से फेट मरने वाले मुर्गी मार न्यायाधिकारी काबी की न्याय का सबक दित्ताया तथा कप्त में हम से लीटते हुए निरास हावी की सम्बी हजु की सम्बी हजु का राह दित्ताया । इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान का भेद- भाव मिटाते हुए दोनों के लीकले बाह्या- मारों और आहम्परी से उन्हें परिचित कखाया ।

सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने हुजूम का विरोध कर मानवीय धरातल पर रूढ़ि स्थापित करने का प्रयत्न किया था, धर्म, जाति लिंग और देश के आधार पर मानवीय विभाजन को क्षुब्ध बताया था, क्योंकि

‘ गरमनाथ नहीं कुछ नहीं जाती ।

ब्रह्म हिन्दू से अनु उतपाती ॥ ’

न माने जाते मुस्ता को फटकाते हुए उसने पूछा था कि यदि तुम न सुनो तुम बनाया है तो तुम क्यों बलपूर्वक सुन्नत करता है। वह कार्य भी वह स्वतः ही करेगा, मुस्ता की भुकी हुई गर्दन देखकर कबीर ने फुटकी ली - कबीर का तर्क ज्ञान का तर्क नहीं था वह तो क्षुब्ध का सत्य था । इस प्रकार सामाजिक विभक्तता को दूर करने के लिए ब्रह्मवाद, जाति पात तथा कर्म व्यवसाय के सभी भेदों को दूर कर भगवान् के दरबार में प्रत्येक मानव की एक ही जाति का संदेश दिया । एक ही धर्म मानव धर्म का प्रसार किया । एक ही ब्रह्म एक मात्र पूर्ण सत्य ब्रह्म का बोध कराया । एक ही मार्ग अनवरत , अन्य तत्त्वीयता का भवित मार्ग सुझाया ।

कबीर की मूर्तता में जितनी प्रगल्भता है, उतनी डाँट में जितनी तीव्रता है, उसी व्यंग्य में जितनी प्रस्फुराहट है, उसी वर्णन में जितनी सजीवता है उसी कल्प में जितनी सादगी है, उसी संदेश में जितनी गहराई है उसी शब्दों में जितनी मर्म स्पर्शिता है, उसी काव्य में जितना रस है उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति में क्षुब्धता है। यही कारण है कि बाह्य रूप से सम्पूर्ण जगत् के विरोधी कबीर का विरोध करने भी कुछ न कर सके । हिन्दू तथा मुसलमान उसे बप्ता कहकर भी बप्ता न सके । संभवतः प्रत्येक दिव्यात्मा का ऐसा हीन अन्त होता है। और कबीर भी उसी बप्ताव न थे ।

जिस समय कबीर का आविर्भाव हुआ था ,

उन दिनों हिन्दुओं में पौराणिक मत ही प्रबल था । परन्तु यह साधारण
गृहस्थों का धर्म था, जिस में बीर की नाना भाँति की साधनाएँ प्रचलित थी ।
उन सकल स्पष्ट उत्तरे कबीर ने विवरण सहित किया है :

ऐसी देखि कहितु मत मोह्यो बीर ।

वाचै निशि बाहुरि गुन रम्यो बीर ।

हुरा नरण धै मर धीर, राम कृपा भई कहि कबीर । १

कबीर के परिचित्य में कितने धर्मों का प्रबल

किस बाजार विचार में था, उसका विग्रह कबीर ने स्पष्ट किया है कि कोई
कसाठी था, कोई उवासी, कोई ऐसा था जो इंसान का फिर रहा था, तो
कोई बान पुण्य में ही व्यस्त था, कोई मदिरा के छैन को ही ब्रह्म साधना
की मानता था तो कोई तन्त्र, मन्त्र बीजधादि की करामात से ही छिद बना
फिरा था, कोई छिद था, तो कोई तीर्थ, ब्रवी, तो कोई धूपपान से शरीर
को कासा बना रहा था, सब से पर राम नाम लीन कोई नहीं था । कबीर के
जब फ से फ में प्रश्न उठा है, उपर्युक्त धर्म साधनाओं में क्या बाहुबाहम्बर
या दिलावा मात्र लीया, कबीर ने इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" में दिया है,
बीर उसे कुछ तर्कों से छिद किया है । कबीर के हाँ के उत्तर का विश्लेषण
इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि कबीर के हृदय में समाज के विसाग के
उफार की भावना थी । पतित को उठाना और प्रगति की गति देना उनकी
साधना का प्रधान लक्ष्य था, समय उस साधना और लक्ष्य की जाँच कर रहा
था । समाज इदियों में फुट रहा था और धार्मिक साधनाओं और मान्यताओं

१- बाबाजी हजारी प्रकाश दिल्ली - कबीर पृ० १२

२- कबीर ग्रन्थावली पद ३०६

३- कबीर एक विवेचन - डा० सनाम सिंह बरहण पृ० ३३५-३६

यै दम्भ और कन्ध विस्वास का लीलाफन निहित था, कबीर कन्दर और बाहर का धार्यवस्य चाहते थे, वे नहीं चाहते थे कि लोग करें कुछ और कहें कुछ स्वीकृत उन्हें समेत करना पड़ा :

‘कबीर काबी स्वादि बसि, ब्रह्म हतं तब रोइ
बदि मसीति ऐकि कहे, हरि बरुं बाबा होइ ॥ १

कबीर की कितनी स्पष्ट और वैज्ञानिक सोचणा थी कि कोई धर्म झूठ बोलना नहीं सिखाता है और जो झूठ बोलना सिखाता है वह धर्म नहीं है, धर्म का वाचरण से सम्बन्ध अवश्य है किन्तु जिसमें वाचरण का समकौता नहीं वह कैसा धर्म, जो प्रार्थना सत्य को झूठ के गर्त में धकेलती है वह कैसी प्रार्थना ? इसलिए कबीर का ध्येय है

‘साधि धारे झूठ बदि, काजो करे क्हाब ।
यह सब झूठो बंदिनी, बरियो पै निबाज ॥ २

कबीर ने उन वाचर्यों की निन्दा की जिनमें धर्म का कोई मूल तत्त्व विद्यमान नहीं है और जहाँ प्रार्थना की ही धर्म मान लिया गया है।

‘करवा दीसि कीरतन, जिला करि करि मुँह ।
पायीं ब्रूने कुछ नहीं, यो ही आधा मुँह ॥ ३

जो लोग वर्ण और वाक्प के बाहु्यान्तर या वेश को महत्वदेकर उनकी प्रवृत्ति भूल बैठे हैं, उनकी कबीर ने समझाया जो मुँह मुड़ाकर संन्यासी बने थे -

१- कबीर ग्रन्थावली संग २२ साखी ६

२- .. संग २२ साखी ५

३- .. संग १८ साखी ५

कहाँ कहा बिना दिया, वे मुँह सी बार ।

मन की कहे न मुँहिए, वामे बिनी बिकार ॥ १

इसी प्रकार बहुत से लोग भक्ति पूजा की ही धर्म मान बैठे थे वे नहीं समझ पा रहे थे । उनका मन व्यर्थ हो रहा था । कबीर का इस विषय में स्पष्ट मत था मन की प्राप्ति के निवारण से ही शीतलता जाती है। शास्त्रिणों की सेवा से शक्ति नहीं मिलती, इसमें न तो सहानुभूति है और न कोई शक्ति ही-

‘सबै साक्षिराम हूँ, मन की प्राप्ति न जाइ ।

शीतलता छुपी नहीं, दिन दिन कभी लाइ ॥ २

इसी समय कबीर के सामने एक और भी प्रश्न था और वह यह कि कथं विश्वाशियों ने ईश्वर की सत्ता केवल मन्दिर मस्जिदों में ही मान रखी थी, वे समझती हूँ कि कबीर को यह मानने में कोई आपत्ति न होती कि परमात्मा मन्दिर मस्जिद में भी है, किन्तु वे यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं कि वह केवल मन्दिर मस्जिद में ही है-

‘कबीरा दुनियाँ देहरी, सीधे नवाबिजा जाइ ।

दिरघा भीतरि हरि बसै, दूँ ताही सौँ ल्याँ लाइ ॥ ३

धेव, पाठ, तीर्थ स्नान, ब्रतोंप्यायन, पुजाभूत, जलतरोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विपदा में कबीर ने कहा है । बाबाय्ये हवारी प्रभाव शिष्यों का मत है कि ‘‘ इनको गुरु व्याख्यानों की या इनकी पुस्तकभूमि के तत्त्ववाद को उत्तेजित योग्य नहीं समझता । वस्तुतः सारा हिन्दू धर्म उनकी दृष्टि में एक बाह्याचार बहुत

१- कबीर ग्रन्थावली अंग २३ पाली ३

२- .. पाली ६

३- .. पाली ११

३- " पृ १२६

‘इह दर्शन ---- फाही फन न समाना ।’ १

कबीर ने पातण्डी पण्डितों के विषय में बहुत बुराई लिखी है। उनके लिए उन्होंने तीसरे व्यंग्य की सम्पादनी का प्रयोग किया है :

‘‘ बाहि कौन कृपति लोहि लानी ,
तु राम न जपहि क्कानी ।
बैद पुरान पढ़त सब बाहि,
तर चम्पन बैसि नारा ।

० ०

बैद पढ़ाई का यह फल बाहि ,
सब बाटि बैसि रामी ॥’ २

कबीर कहते हैं कि हे पाहि जो। चाप किस दुर्बुद्धि के फेर में पड़कर विविध पातण्ड कर्मों का जंजाल फैलाते हो। हे पाण्ड-वान् राम नाम क्यों नहीं जपता ? अर्थ में वैद और पुराण पढ़ने से क्या लाभ ? वास्तविक ज्ञान तो प्रभु शक्ति है, यह पुस्तकीय ज्ञान तो रेशा ही है जैसे गधे पर चम्पन लदा हुआ हो और वह उसका कुछ भी लाभ न उठा सके , अर्थकारों मानवों से कबीर कहते हैं कि वैद, पुराण, स्मृति आदि धर्म ग्रंथ पढ़कर उस ईश्वर का रहस्य नहीं जाना जा सकता -

‘फा रे सूर्यी न लकी काजा,
लोपे नज्जी न जगपति राजा ॥

०

०

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३४

२- .. पृष्ठ १६

ईश्या नाकली वरु पट करमा,

सिन वै डुरि बतावा ॥ १

कबीर कहते हैं , हे मन तुमसे प्रभु तबित की साधना न हो सकी , तुने बीमार में वाकर बीर कुछ ही किया ही नहीं ईश्वर की भी नहीं मया , वेद पुराण स्मृति आदि धर्म ग्रन्थ पढ़ कर उस ईश्वर का रहस्य नहीं जाना जा सकता । ईश्या , नाकली मन बीर वैसी नबित के ग्रन्थ कर्मा से वह प्रभु दूर ही रहा ।

कबीर उस परम प्रभु की प्राप्ति का उपाय सखन, हृदय, सखन मन बताते हैं, वेद धुने वीर पढ़ने से कुछ नहीं होता जब तक हृदय कसुणित है तब तक वह नहीं प्राप्त हो सकते हैं :

का पढ़िये का गुनिए, का वेद पुराणा संनिए ।

पदे गुनै पति होई , मै बहवै पाया सोई ॥ २

कबीर कहते हैं कि मैं परम प्रेमी परमात्मा को प्रेम बीर नबित से प्राप्त कर लिया है। वेद पुराण आदि शास्त्र ग्रंथ जिस परम पुरुष की साखी देते हैं वह प्राप्त हो गया -

वेद पुराण कहत जाकी साखी ,

वीर्य ब्रति न हूटै मन की पसी ॥ ३

जागे वे कहते हैं कि उसकी नबित से ही सब कुछ सम्भव है। वीर्य ब्रत आदि व्यर्थ-हम्बरों से वो मृत्यु बन्धन से मुक्त नहीं हुआ जा सकता । काजो वीर मुत्ताजी

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २६४

२- .. २६२

३- .. २८३

की धूर्तता पर व्यंग्यीकृत एवं कटु चित्र करते हुए कबीर उनके बन्ध प्रदा का परिज्ञान कराकर स्वभाव राम की भक्ति करने के लिए उपदेश देते हैं :

काजी कान कतेब बताने।

पलतपलत कैते दिन बीते, गति सँ नहीं जानें ॥ १

वे कहते हैं कि हे काजी । वहाँ व्यर्थ कुरान के पाठ के चक्कर में पड़े हुए हो । इसका पाठ करते करते तुम्हें न जाने कितना समय बीत गया किन्तु तुम अब भी म्रु महिमा से परिचित नहीं हो सके उनको फिर उनकी कबोधता की ओर दृष्टि ले जाते हैं और कहते हैं :

‘कहि कतेब राम कहि काजी , झग करत हौ भारी ।

फरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे जस मारी ॥ २

हे मुस्ला तुम कुरान का दि धर्म ग्रन्थों को झीड़ राम नाम का जप करी, इससे व्यर्थता करने पर तुम भारी व्यथाय कर रहे हो, कबीर कहते हैं कि मैं तो भक्ति का दृढ़ सम्बल प्राप्त कर लिया है। तत्कालीन समाज में बन्ध प्रदा का स्वरूप इतना प्रसार पा चुका था कि उसके विरुद्ध वावाज उठाना या उन्हें हट् उपदेश ही देना सामान्य आवसी की शक्ति के बाहर की बात थी । वे तो फक्कड़ कबीर ही ऐसे थे जो उनके बन्ध विश्वास के काय के मरस पर व्यंग्य के कीकड़ फेंक सकते थे। बन्ध कीड़ नहीं -

‘कहे तब बिमी कहे तसमाना ,

कहे तब वेद कितेब कुराना ॥

१- कबीर ग्रन्थावली पृ ५६

२- .. ५६

बिबि दुनियां कई रसि सबीदा, भूण रीजा भूण ह्या ।

सोना एक बस्ताह की नामा , जाकी नम नम करहु सतामा ॥ १

कबीर ने सम्प्रयात्फ रूप से काजी और पण्डित पर व्यंग्य किया है। उनका कथन है कि ब्राह्मण यदि पाप और नीच कर्म करता है, तो वह अवश्य पुणित और पापी है- चाहे भले ही सपस्त जन्म-मुखाय उसके मुल से गायत्री वेद का प्रवण कर इस संसार से मुक्त हो जाय -

“ वा मुल वेद गायत्री उचरे, जाके कलन संसार तरै ।

जाके पाप जगत उठि लागे, सो ब्राह्मण जीव बह करै ॥

बपी ऊँच नीच घर भीजन, बीन कर्म दठि उवर भरे ।

ग्रहण बनावस ठकि दूकि भागे, कर दीफ लिय कृप परै ॥ २

अन्त में कबीर कहते हैं कि :

“ वेद कतेब काहि वेहु पाहि, संख मन के मरमा ।

कहिहिं कबीर सुनहु हो पाहि, हं सब तीहरे करमा ॥ ३

वे कहते हैं कि हे पण्डित । वेद वापि ग्रन्थों की त्याग दो, उसके ऊपर कल की डाल पर बपी बाफी पण्डित मत सम्झी ? विचार शुन्य बातें सब वे तुम्हारे मन के भ्रमरूप हैं और हे पण्डित धुनी । भ्रम-युक्त मिथ्या व्यवहार हिंसादि सब तुम्हारे ही कर्म हैं। मात्र यह है कि सामान्य विचारादि से भी जो अज्ञित जान पड़े उसे श्रेष्ठ वेद ग्रन्थ की बात कहना उचित नहीं है । कबीर का कथन है कि जिस वेद रूप में विचारों का सामंजस्य नहीं है उस ग्रन्थ को त्याग देने से ही असामान्य का शिवत्व निहित है। उपर्युक्त

१- कबीर बीजक शब्द ५०

२- .. शब्द ५२

३- .. शब्द ५३

विश्लेषणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेद, पुराण, कुरान, आदि ग्रंथों के प्रति सम्फालनीय ज्ञान में कथं बढ़ा भी प्रतिष्ठित थी जिसका उपयोग करते उनके नाम पर पातण्ड और बाहम्बरी का प्रसार हो रहा था ।

पुराणादि के प्रति स्तनी स्तुता थी कि उनकी कथा सुनने मात्र से ही कर्तव्य की इच्छा मानी जाती थी । गंगा - यमुना और गोदावरी आदि पवित्र नदियों को पवित्र मानकर उनके तट में निवास तथा स्नान की मान्यता उस युग में प्रतिष्ठित थी । जो कि कबीर साहित्य में विरोधी स्वर के रूप में प्रतिष्ठित हैं, साधक कबीर कर्मपर विप्रवास करने वाले थे इसलिए वे उद्बोधित करते हैं कि तु प्राणायाम साधना से कृष्ण लीनों को उर्ध्वगामी कर षट् कर्णों का भेदन करता हुआ तीर्थराज प्रयाग (त्रिकूटी) एवं गंगा (ब्रह्मरन्ध्र) तट का वासी हो । उस शून्य मण्डल में सूर्य चन्द्र तारे का प्रकाश अन्तः ज्योतिस्वरूप परमात्मा का वास है । जानार्थ हजारों प्रसाद दिव्योक्ता कथन है कि भगवान् के नाम पर पातण्ड करने वाले को उन्होंने कभी छूट नहीं थी । दूसरों को गुमराह बनाने वालों को उन्होंने छूट देना उचित नहीं समझा , ऐसे अवसरों पर वे उग्र थे , कठोर थे और बाकाफू थे । पर गुमराह लोगों को गलती दिखाने में उन्हें एक तरह का रस मिलता था । व्यंग्य करने में उन्हें जैसे तृप्ति की निम्न लिखित पद में गंगा नहाने वालों की कैसी कसकर खबर ली गई है ? उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरा

१- उलटि मन षट्कर्ण निवासी ।

तीर्थराज गंग तट वासी ॥ - कबीर ग्रन्थावली पद १७१

२- बली है कलबो रनी गंगा नहाय ।

सतुवा करास बहरी मुजास, छुष्ट तौटे फलस जाय ।

गठरी बांधि मोटरी बांधि, लसम के फूँडे दिखि धराय ॥

- कबीर ग्रन्थावली

से मस्तमौला बना हुआ था वह ज्ञान के गुरु से तैयार की गई थी, इसीलिए कम्पन्नता, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उनमें स्कान्तभाव था वे युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युग प्रवर्तन की वृद्धता उनमें वर्तमान थी। इसीलिए वे युग प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व की कथा जा सकता है। 'वे सिर से पैर तक मस्तमौला थे, पैपरबाह, बूढ़, उग्र, कृष्णमादिय कौमल, बज्रादपि कठोर।' तीर्थ स्थानों की यात्रा तथा उनमें निवास संसार के प्रायः सभी धर्मों का प्रसूत कर्म माना जा जाता रहा है।

धर्म प्रधान भारत देश में वृत्ति प्राचीन काल से वाङ्मयात्मिक महत्त्व के स्थानों पर बड़ा भावना प्रतिष्ठित रही है जो कि सांस्कृतिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय सभी पदों की स्पर्श करती है। अतः भावनागत संस्कार की उपयोगिता के दृष्टिकोण से सभी सम्प्रदायों के केन्द्र तथा उनके प्रवर्तकों के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थल तीर्थ स्थान बनते गए। किन्तु सम्प्रदायों के अन्य मान्यताओं की भाँति इस युग में इसमें स्थिरता का समावेश होने के कारण मियाहम्बर, स्वैराचार आदि की स्थान मिल गया जिसके कारण इन साधकों की इस वास्तव पर भी प्रहार करना पड़ा। परमात्मतत्त्व के घट घट व्यापी रूप का दर्शन करने वाले साधक सत कबोर यह बता देना चाहते थे कि संसार की लीज में बाहिरा, काशी, मथुरा, आदि जाना व्यर्थ है।

कबीरदास कहते हैं कि धर उधर तीर्थों में

१- कबीर- हजारों प्रसाद शिरीषों पृ० १६६

२- मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति - डा० मदन मोहन मनु
पृ० २१०

३- कबीर ग्रन्थावली- वंग २३ साली १०

पर विश्वास नहीं करता क्योंकि उस कभीप शक्ति को जो मैं हृदय में हो
पहचान लिया तो हम व्यर्थ के कृत्याँ से क्या प्रयोजन ? वे कहते हैं कि उस
परमात्मा से मन की लगन लग जाने से संसार का भ्रम विदूरित हो गया है,
तोषों और मूर्ति पूजन पर विश्वास करने वाले शक्तों पर वज्राघात करते हुए
कहते हैं कि :

तीर्थ व्रत तप करि करि, बहुत भाँति हरि सोधे ।

शक्ति मुहाण क्यों क्यूँ पावै, अज्ञता कंत विरोधे ॥ १

तीर्थ व्रत तप वादि विधि विधानों से
भ्रु की लीजी का बहुत प्रयत्न किया परन्तु समस्त उपक्रम व्यर्थ गए , इसलिये
कबीर कहते हैं कि शक्त उस कभीप व्रत की किस भाँति प्राप्त कर सकते क्योंकि
वे मूर्तिपूजक हैं और व्रत का इस विधि विधान से विरोध है। इस संसार के
शिवत्व के लिये कबीर ने मात्र राम सेवा और गुरु सेवा का ही महत्त्व निरू-
पित किया है। अन्य सब गिरिया है। इसलिये निराकार की आराधना ही
वैयस्कर है :

“ जल के पीन जो गति होई , पीनानित हो नहारे ।

०

०

पासण्ड करि करि जगत मुलाना, नाहिन राम जमाना ॥ २

तीर्थ स्नान करता है, वह स्वर्ग लाभ नहीं करता, समस्त जगती पासण्ड और
ढोंग कर प्रमित हो रहा है, किन्तु भ्रु जानती नहीं है, उस से कुछ देखता

१- कबीर ग्रन्थावली पृ ३१६

२- वही पृ ३१५

है उसी के चरु के सामने हो तुम समस्त कर्म करते हो, उससे कुछ भी कट्टर नहीं है। यह धार्मिक रुढ़िता विश्वास रूप में बाब की प्रतिष्ठित है जिसके कारण बहुत से लोग जीवन का अन्तिम समय बिताने के लिए काजी और प्रयोग जाते हैं। उस युग में विश्वास इतनी दृढ़ता से जमा हुआ था कि 'विहद' रूप में उसका उत्प्रेषण करते हुए साधक कबीर भी एक सीमा तक उससे प्रभावित हुए दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी उनका स्पष्ट विश्वास था कि यदि कृपय अपवित्र है तो वहाँ मरने से भी व्यक्ति नरकगामी होने से नहीं बच सकता। यही कारण है कि उन्होंने जीवन के अन्तिम पाण काशो शीद कर मगहर में बिताकर अपनी दृढ़ता का परिचय दिया। यथा कि पहले कहा जा चुका है कि बाह्याचार में ही लीनता प्रायः व्यक्ति की आध्यात्मिकता के मूल उद्देश्य से दूर ले जाती है। काजी यदि तीर्था से सम्बन्धित उनकी उक्तियों से ज्ञात होता है कि उनके सम्बन्ध में अन्य प्रवृत्ति प्रतिष्ठित हो चुकी थी जिसे कि प्रकाशित करते हुए कहते हैं कि -

“ वहाँ बड़े बड़े योगी यती और संन्यासी निस्पृह जीवन शीदकर मठों और देव मन्दिरों में रहकर तीन बार गंगा स्नान करते हैं, किन्तु वे परमात्म तत्त्व की उपलब्धि की बात नहीं सोचते थे। कबीर ने यह प्रतिष्ठित किया है कि यथा ? ”

कबीर का कथन है कि यदि काजी में शरीर त्यागने से मुक्ति हो तो कौन फिर राम की स्तुति विभीर भजन कर सकता

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३४५

२- .. पृष्ठ २६०

३- कबीर बीजक अष्टक ४७

है । इसलिए विवेकरहित तुम्हारा पूर्व काम है कि :

भावे देह छुटी जाय , काशी माँहि गंगा तट ।

भावे देह छुटि जाय, लोत्र मगहर में ॥

कबीरदास ने माहर में तरीर त्याग के उद्देश्य को बताते हुए अपने ज्ञान की पूर्ण निष्ठा को दर्शाते हुए प्रस्नोत्तर की कल्पना द्वारा बिजासुर्जी के प्रति उपदेश दिया है कि किसी देश या स्थान विशेष में मरने से न मुक्ति होती है न बन्धन होता है, किन्तु वासवित काम, क्रोध, लोभ , मोहादि को सर्वथा त्यागकर गुरु की शरण में प्राप्ति गुरु उपदेश के श्रवण, विचार, संतर्पण , वात्मानुभव से मुक्ति होती है। कबीर का कथन है कि इसलिए ऐसा यत्न करो कि जिससे अज्ञान को निवृत्ति और तुम्हारा कल्याण हो । अन्त में कबीर कहते हैं कि परम परमात्मा के दर्शन इसे ही हाँगे जो कि वाक्यान्वयित निष्कामी होना ।

धार्मिक लोक विश्वास में आज भी ब्रत का महत्त्व और उसकी मान्यता अवस्थित है। तत्कालीन युग में यह मान्यता बाह्या-चार और पातण्ड में परिवर्तित हो चुकी थी , इसी बाह्याचार और पातण्ड पर कबीर ने अपने व्यंग्य बाण बरसाए हैं । कबीर बिजासुर्जी के प्रति कहते हैं कि हे सती ! बहुत मानव समझदार हैं भी राग- रोगादि बल सदुपदेश को नहीं मानते हैं, क्योंकि विवेकी और विचारशील महात्माओं ने भ्रम में भूल ' हिन्दू गुरु ' के मार्ग के चलने वाले व्यवहार को विचार करते दृष्टिपात किया है तो यह निश्चय सत्प्रायों का अनुभव हुआ है कि ' हिन्दू - गुरु ' कर्मों से ज्ञान ग्रहण कर अपनी प्रवृत्ति नहीं छटाते हैं, उसमें यही कारण है कि उन सभी स्वर्ग, मोहादि से भी वर्तमान काल का स्वास भी अधिक पीठा है, और इन हिंसा आदि दुष्कर्म युक्त राहों को जो चलाया है स्वास ही को पीठा मानकर प्रतिष्ठित किया है।

प्रवृत्ति रूप धर्म में ये लगते हैं, निवृत्ति में नहीं लगते, इसी से हिन्दू लोग स्वादशी व्रत के दिन दूध सिंघाड़ा को हृद फल मानकर उसका आहार करते हैं और उस रोज व्रत को भी अपवित्र समझते हैं, और व्रत रहते हैं। व्रत की समाप्ति पर द्वादशी के दिन मांस भक्षण आदि से धारणा करते हैं। कबीर ने उक्ति एवं सर्वव्याख्यात्मक उपदेश उनके लिए दिया है कि यदि ये लोग उस मांस भक्षण, हिंसा आदि से सदा के लिए मन को छटा लेते तो स्वादश हन्त्रियों का दुष्कर्म से निरीध रूप पीला या स्वादशी सिद्ध हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं करते हैं। यह अवश्य जानते हैं कि मांस की अपेक्षा व्रत अत्यन्त पवित्र है तथा व्रत से भी फल पवित्र है। यदि नहीं जानते होते तो स्वादशी करने वाले स्वादशी के दिन व्रतादि का क्यों त्याग करते ? इससे सिद्ध होता है कि जानकर भी हिन्दू लोग स्वाद विषयक उत्कट राग से निरपराधी प्राणियों की हिंसा, मांस, भक्षण आदि दुष्कर्म करते हैं, इसी प्रकार तुर्क लोग रोजा निषाज गुजार्ते हैं। परन्तु इन्हें भी स्वर्ग किस प्रकार हो सकता है ? रोजा के तीस दिन तक सूर्य के उदय से अस्त काल तक व्रत, जल नहीं पीते पीते हैं। परन्तु सूर्यास्त होते ही संध्याकाल में सुर्गी मारते हैं। इससे ये लोग भी पाप दुष्कर्म से मन को निवृत्त नहीं करते हैं। कबीर कहते हैं कि ये भी अवश्य यह समझते हैं कि किसी प्राणी का वध करना पाप कर्म है, इसी से रोजा के दिन में दिन भर सुर्गी आदि को नहीं मारते हैं और जब बिसमिस्ता हो फुफ्फूरी हैं, तब उसके साथ यह भी कहते हैं कि तुझा दामा करने वाला और मेहरबान (दयालु) है और दयालु तुझा सुर्गी आदि मारने की आज्ञा नहीं दे सकता। उनका कहना है कि स्वाद को पीठा मानने वाले ही सुर्गी आदि मारते हैं, हिन्दुओं ने अपनी हृदय से दया धर्म को निकाल कर बाहर कर दिया और दूर निर्दय हो गए और मुसलमानों ने भी दया रूप अपनी मुख्य धर्म को त्याग दिया। इस प्रकार से कबीर ने हिन्दू मुसलमान के बाह्यान्तर पर हेमिल कर

उन्हें सौष्टता का उपदेश दिया है। इसी प्रकार की बहिष्कृत अन्य स्थान पर की है। जैसे -

हिन्दू स्कादशी करे जीबीसी, रोजा मुसलमान ।

ग्यारह मास कही भिन टारे एके मास न जाना ॥ १

कबीर की उद्बोधक एवं अनुभूत किन्तु सत्य उद्बोधना यह है कि हिन्दू २४ (जीबीसी) स्कादशी करते हैं और मुसलमान ३० रोजा करते हैं, हिन्दू स्कादशी की भजन का दिन होने से परमेश्वर का किता करते हैं, मुसलमान रोजा के दिनों को हुवा का दिन करते हैं, इसी प्रकार कोई अन्य दिवस ईश्वर का विषय नहीं मानते हैं तब कबीर का इस विषय में प्रश्न है कि इनके अनुसार और मत में ईश्वर के दिन ३० ही हुए और अन्य महीना ईश्वर के नहीं हुए , जीबीसी स्कादशी में कल्प न्यून होने से वह भी एक दो महीना हुवा तो फिर ग्यारह मास ईश्वर के नहीं हुए तो उन दिनों हिन्दू मुसलमानों का संरक्षण तथा संसार के व्यवहार कौन करता है। कबीर का इस विषय में स्पष्ट उत्तर है समाज के लिए ईश्वर प्रत्येक दिनों के प्रत्येक क्षण में उसी शक्ति सेवित हैं। उसकी कृपा के बिना संसार के कोई भी कार्य नहीं होते हैं। समाज के कृत्स्न एवं जीभत्स कर्म की दृष्टिपात कर कबीर की आत्मा लुब्ध ही उठती है और वे करते हैं कि -

स्कादशि ब्रतक मर्म न जानी, भूत ब्रत दठि हृदय धर ।

तबि कपूर गाढ़ी बिषा बाधि, जान गपार सुग्ग फिरे ॥ २

१- कबीर बीजक शब्द ५९

२- ५२

कबीर दबुध होती है कि मूर्खों में श्रेष्ठ उपदेश सास्त्रों की सब्जी हरि भक्ति हरि ज्ञानादि के बिना नर्क में जा रहे हैं, और अन्य की भी साथी बना रहे हैं, कबीर के हृदय का भाव यह है कि राम की कृपणता किए बिना श्रेष्ठ प्राप्ति होने से कुछ नहीं होता, वह भी अपनी कृपणता का भोग करण करेगा, अन्त में कबीर इस संसार संसार में सुकृत्य क्या है? किस कर्म से शिवत्व प्राप्त किया जा सकता है, उसकी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि -

जिन दुनियाँ में रहि मखीदा, भूठा रीजा भूठा ह्वे ।
साँचा रू वत्साह की जामा, जाकी नम नम करहु सलामा ॥१

कबीर इस संसार में एक मात्र जगन्निन्यन्ता परम प्रभु के चरणों की सेवा की ही सुकृत्य समझते हैं। अन्य और कुछ नहीं ।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि इस युग के विविध मत मतान्तरों द्वारा प्रवर्तित विविध बाह्याह्वारों के साथ ही लोक धार्मिक रुढ़ियों तथा लोक विश्वास सामान्यतः समस्त धार्मिक जीवन में प्रवर्तित थी, जिनकी रूढ़ता के कारण जनता उन्हें ही जीवन का सर्वस्व मान बैठती थी, ये वास्तवार्थ तथा बाह्याचार अभी मूल रूप की ओरकर साधनागत विकृतियों के साधन बन चुके थे । अतः कबीर ने जो उनका विरोध किया उसमें उनमें उनका युग प्रवर्तक व्यक्तित्व प्रकाश में आता है। इन कारणों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि वे भारत की सांस्कृतिक परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में हमारे सामने आते हैं। धर्म के पवित्र रूप की बाह्यान्तारों

और कृत्य ने एक प्रकार आच्छादित कर दिया । तब कृत्य ही कृत्य के रूप प्रतिनाशित सा प्रतीत होने लगा, अन्ध विश्वासी ने सद्-विश्वासी का स्थान ग्रहण कर लिया, अहिंसा, त्याग और सत्य का स्थान पशु बलि, ना बलि और हिंसा ने ग्रहण कर लिया । साधना के स्थान पर बाह्यान्तरी का ही प्रतिष्ठा थी, कबीर ने इस प्रवृत्ति की कटु आलोचना की, कबीर के समय ब्राह्मण बहु पठित तो थे, पर उन्हीं तत्त्व ज्ञान नहीं था, यौनी - माया में लिप्त तथा भूत साधक, जन, निद्रा, मधुन और नारी में लिप्त थे । मन्त्र देने वाले गुरु कहारी थे, कबीर के समय एक जनता नितान्त पा-प्रष्ट हो चुकी थी, हिन्दू एवं मुसलमान धर्म के वास्तविक रूप की भूल का आ-स्वर में प्रवृत्त थे । हिन्दू पक्षधरों की फसा कर रहे थे और मुसलमान पोर जोलियाँ द्वारा प्रद्विष्ट पक्ष पर अग्रसर थे, साधु लोग बाह्यान्तरी के दास हो हुए धन संचय कर रहे थे । आचार्य हजारो प्रताप विवेदी का एक उद्धरण देना यहाँ समीचीन होगा - " उनका कहना है कि कबीर सर्वत्र एक विभिन्न प्रकार का आचार अनुभव कर रहे थे, सारा संसार अपनी अपनी भाग में चल रहा था, ऐसा कोई नहीं मिलता था, जिससे लगकर वे रह सके, कसाला यह था कि जिसने हृदय की बात कही जाती वही उसे पार देता निर्मम नाद है, निःशब्द और जिस आदमी से दिल की बात कही जा सके, ऐसा कोई मिल नहीं रहा था । "

ऐसा कोई ना मिले जासी रहियो लाग ।

सब धर्म आपसी देखिआ अपनी अपनी भाग ॥ २

यह तो जाहिय खोकार करना पड़ेगा कि कबीर ने पौराणिक हिन्दू धर्म की प्रज्जिया उद्घाटन है, उसी बलि कर है।

१- कबीर हजारो प्रताप विवेदी पृ० १३६

२- कबीर ग्रंथावली संग ४३ लाखी ५

है, किन्तु यह भी वाक्य स्वीकार करना पड़ेगा कि तत्कालीन धार्मिक साधना में कत्यधिक बाह्यम्बर और बाह्यान्तर के उत्पन्न उपाहित थे। लेकिन यह बिल्कुल सत्य है कि उन्होंने देश-काल की दुर्बलताओं की समाज में ताण्डव नृत्य करते देखकर घोर निन्दित किया है, और समाज की दुर्बलताओं की कड़ी हथौड़ा की दृष्टि से देखा है।

डा० सरनाम सिंह का मत है कि दुर्बलताओं की वे बहुत निन्दा और कहीं कहीं तीव्र भर्त्सना भी करते हैं। जहाँ वे निन्दा और कहीं कहीं तीव्र भर्त्सना भी करते हैं। जहाँ वे निन्दा से भर्त्सना पर उतर जाते हैं वहाँ वे बलि उग्र हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस भर्त्सना के पीछे उनका प्रातिमूर्ति दृष्टिकोण भी छिपा हुआ है, फिर भी वे कुछ बाली-नक हैं, बलि उग्र है। इस तथ्य से अहिंसा नहीं मोड़ी जा सकती। कबीर ने सब धर्मों की एक धाराजल पर लाने के लिए ही नहीं बल्कि एक कानो के लिए जो प्रयत्न किए उन सबका सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार मानवमात्र में एकता लाने के उद्देश्य में भी उन्होंने ईश्वर की ही प्रतिष्ठा किया है। कबीर ने दुन्दर मानव जीवन की कल्पना की है। अतः सन्देह नहीं कि वे जान-बूझ कर ही महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु इसी में सन्देह नहीं कि मानव जीवन की भी संतुष्टि नहीं प्रदान करते हैं।

मुर्खी प्रभाती भक्त की भण्डान् के अन्तर्गत रूप से दूर रहती ही है। पर समाज में प्राप्तित लोक श्रमार्थ के बाह्यान्तर भी भक्त के लिए उत्पन्न बन कर रह जाते हैं, यदि पथिक पदार्थ की ही भण्डान् समझ कर रहना रह जाय तो वह सन्तुष्ट तक पहुँच कैसे सकेगा, इस प्रकार के बाह्य आन्तरों में व्रत, रीति, नमाज और शीश्यान् प्रभृति की निन्दा या

क़ता है। ब्रत, शारीरिक श्रुति के लिए किसी सोमा तक संवतः टोके हैं
पर ब्रतों के द्वारा शरीर को कृश बना देना ही जिसकी दृष्टि में ताराव्य
देव को प्रसन्न करने का उपाय है इसे व्यक्तियों की इन निर्गुणियों ने जादे
साधों लिया है। शरीर की कृशता को व्यर्थ समझकर ही भगवान् बुद्ध ने उसका
परित्याग कर सुजाता को शरीर को ग्रहण किया था। दिन भर ज्वन रहना,
और फिर पेट की कीठी के समान भर लेना जप्ते की प्रेम में रहना है। सुख-
मार्ग का रीजा भी इसी कारण इन कवियों की प्रसन्न नहीं आया। उनका
दिन भर ज्वन जल के बिना रहना और रात्रि में गाय की मार कर बल्गाड की
हुआ रहने या करने की भावना उपहासास्पद हो है। कबीर ने इसीलिए उन्हें
फटकारते हुए लिखा है :

‘ दिन भर रीजा रहत है, रात झनत है गाय ।

कैसा झन यह बन्दगी, कैसी कुसी हुजाय ॥

इसी प्रकार मस्जिद में बैठकर मुस्लिम का जोर
जोर से बाँग देना और बुद्ध को प्रसन्न करने का कार्य इन साधकों की कनो
नहीं आता, उन्हें तो यह ही होगा ही स्मृत हुआ :

‘ कैर फ़ैर जोरि, मस्जिद लई हुनाय ।

ता लदि मुस्लिम बाँग दे, क्या बहिरा हुग हुनाय ॥

इन कवियों की दृष्टि में जोर जोर से बाँग
देने का अर्थ बुद्ध की बहिरा समझना है, जो घर घर में व्याप्त है, वा क्या
नहीं हुनाय ? रीजा नमाज और जलसा, इनसे ताराव्यदेव को प्रसन्न नहीं

१- कबीर प्रस्तावना

दिया जा सका -

“रौजा धरे निवासु गुजारे, कलमा भिस्त न हीरे ।

पानिहुँ मुसि मुस्ता विधाये, तब ती दीन पशने ॥ १

इसी प्रकार तीर्थाटन गंगा स्नान नेद मन्त्रों का पाठ, केवों का काटना, इन सब बातों से दृष्टदेव के समोप की प्राप्ति की बात सोचना मुस्त हो है, यदि तीर्थयात्रा से मुक्ति हो जाती, भगवान् के दर्शन मिल जाते, तो वहाँ रहने वाले सभी भगवान् के प्रिय हो जाते । गंगा स्नान ही यदि भगवत् प्राप्ति में सहायक होता तो वहाँ की महत्त्वों को भगवान् में मिल जाती । केवों की कटवाने से यदि भगवान् प्राप्त हो जाते तो भगवत् प्राप्ति का मार्ग बहुत आसान हो जाता । कबीर का रोग का पारणन मन की पुनः रने का है :

“केस कहा गिरियो, जो मूँही ली बार ।

मन की ज्यों नहो मूँहिये, जामें बिसै किकार ॥ २

बहुत से व्यक्ति नागों के तख्त नही पहिने करते हैं और बहुत से सिर मुँहा के हैं ऐसे व्यक्तियों को समझाते हुए कबीर ने कहा है कि यदि ऐसा कही से मुक्ति मिल जाया वही तो मन के पूरा और नेद मनो के मुक्त हो लें होते :

“नाथे किरि जोग जो हीरे मन का मुन मुक्ति ग्या कीरे ।

मुँह ह्दाये जो सिधि हीरे, स्वर्ग ही नेद न पहुँचो कीरे ॥ ३

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ३३३

२- .. पृ० १३०

३- .. पृ० ५६

यों तो कबीर स्वतन्त्र विचारूँगे, फिर भी वैष्णव धर्म की ओर उनका काफी झुकाव था। इन वैष्णवों में भी जहाँ जहाँ उन्हें आकर्षण दीया गया है उन्होंने उसका उल्लेख किया है, जैसे और तिलक की सब कुछ मानने वालों के लिए उन्होंने कहा है :

‘वैष्णवों मया जो बया मया, हुकूम नहीं सिद्ध ।

हाथ तिलक बनाइ करि, दाइया लोक लोक ॥ १

उन्होंने यह भी कहा है कि यदि केवल ज्ञान से ही निरंतर प्राप्ति हो जाय कहें, सिद्धि मिल जाती, तो सबसे पहले मछलियों की सिद्धि मिलनी चाहिये थी :

‘जल के मंजु जो गति हों, मीमा तिनही न्याये ।

जैसा मीन तैसा नरा, फिरि फिरि जोगी जाये ॥ २

जो कारण कबीर ने इसे ही उदाहरण के रूप में छंद की शक्ति पर बल दिया है, फिर बाहे केरा रही या न रही -

‘‘साँ पेड़ो जान बन, जौरीं जो हुन नाच ।

नाचै लखे केस कर, नाचै पुरहि पुताव ॥ ३

०

०

उरि न मिले मि दिखे धुध ॥

(६) जाति धर्म का उल्लेख

जो उचित जगह में ज्ञान की महत्ता बताई-

१- कबीर ब्रह्मचर्यों पृ० १६

२- .. पृ० २०४

परि है, उन्नता और नीचता का साफ यन्त्र जान होने से जन्मगत जाति
पाति का महत्त्व उनके यहां विलुप्त नहीं है, भगवान् सबके प्रिया हैं, फिर
प्रिया की दृष्टि में कौन ब्राह्मण और कौन दूध । भगवान् का जो प्रेम करता
है वही हरि का जन है, जहाँ जाति पाति नहीं पूछी जाती, यदि रूप पूजा
हो है तो जान की पूजा चाहिए ।

जाति न पूछी साधु की, पूछ लो जगै ग्यान ।

मोल करी लखार का, पड़ा रहन दो ग्यान ॥

ब्राह्मण होने से ही कोई ब्राह्मण्य के
प्रिय होता ही और दूध होने से ही अप्रिय, यह बात समझ में नहीं आती,
भगवान् जान के प्राप्त होते हैं और जान किसी वर्ण विशेष की बंधाती नहीं
यदि कबीर सुलादे के घर पैदा हुए थे तो क्या वे उसी कारण पीटे जा लगे ?
काशी के ब्राह्मण की ललकारो हुए थे कछी हैं :

तुं बाम्हन मैं काशी का सुलाहा, हुकहु और गियाना ।

हुय तो पाये सुपति राये हरि की और धियाना ॥ १

जना दूध विवाह से कि हिन्दू और मुसल-
मान तथा ब्राह्मण और दूध का अन्तर वृद्धि है। यह जगत् की बड़ा मानने
वालों का दम है। यदि भगवान् की यह अन्तर कल्प होता तो वे हिन्दू
और मुसलमान में तथा ब्राह्मण और दूध में अपने हाथ के अन्तर कछी नेगी
इसी कारण व्यर्थानिमानों तुं और पण्डित की फटकारो हुए थे कछी हैं :

नरि की ऊँचा नरि की नीचा ।

जाका प्ये ताही का जीना ।

जो तु बाप्स बैनि जावा ।

सो जान बार हीं वहुं नहिं जावा ॥

०

०

सो मधिज जा सुति राम न हीई ॥ १

इसी नाव की दुहराते हुए उन्होंने एक अन्य
स्थान पर मानव यात्र की समता पर बल दिया है :

एक बंद रों मलपुतर, एक चाँम एक बुदा ।

एक जीति ये सब उत्पन्ना को बाक्कन कोन पूदा ॥

०

०

कहे कबार एक राम बपुह रे, हिन्दू तुल न कीई ॥ २

कबीर का यह भी कहना है कि परम्परागत
हिन्दू और मुसलमान धर्मों में जन्म लेने से कोई हिन्दू और मुसलमान नहीं हो
जाता , जिस आत्मो को जीवन बना हुआ है जिसे ब्रह्म की प्रशुति करनी
है, वही आत्मा और काजी कहानों का अद्वितीय है :

सो हिन्दू सो मुसलमान जाका दुहरत रहे ज्ञान ।

सो बाक्कन कथे ब्रह्म गियान, काजी सो जो जान रहि-
माना ॥

मुसलमान समझते हैं कि मुदा परिजत में हो
सकता है और हिन्दू समझते हैं कि उक्ता निवार मुर्ति में हो ही। कबीर का

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १०२

२- .. पृ० १०६

बहना है कि ये दोनों ही भ्रम में हैं दोनों ही तत्त्व जान के शून्य हैं :

‘जो रे सुनाय मसीत बसतु है, कबीर सुकू किहि केरा ।

हिन्दू सुरति नान बिहरी, दुहु मति तन्तु न हीरा ॥

कबीर और तत्कालीन अन्य सन्तों के समय में जान के द्वार सके लिए नहीं हुए थे, कबीर ने समाज के अन्याय की खोज सहा था (शिष्य बनने के लिए सीढ़ियाँ पर सीये थे) मुक्त योगी होने के कारण उन्हें जाति पाँति से मुक्त थी। हिन्दू मुसलमान के कण्ठों ने उनकी दृष्टि में जाति पाँति की व्यर्थता सिद्ध कर दी थी।

(७) अनुकरण

कबीरदास धर्म के किसी भी बाह्यारम्भ को नहीं मानते हैं, उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों का पाठपुस्तक पर हथ फटकारा है। समस्त संसार बुद्धिहीन हो गया। हिन्दू अपना देवता राम मानते हैं और मुसलमान रहीम को उस पर दोनों में वाद विवाद होता है, परन्तु सत्य तत्त्व के रहस्य को कोई नहीं पहचानता है। हिन्दू गुप्तों और पाषाणों की कल्पना करते हैं। माता फल कर तिलकधारी गृह गृह में फेंको-च्चारण करते हैं और मुसलमानों के पीछे- कीनिया कुरान का पाठ करते हैं, हिन्दू कृत शास्त्र को मानते हैं, परन्तु उनका नैतिक पतन हुआ है, पीछे पीछे उपदेश देते फिरते हैं परन्तु जोव हत्या करके पाँस नष्टाण करते हैं यह दोनों फग्वष्ट हुए हैं वास्तव में ब्रह्म एक है वही अल्लाह है, रहीम है, जे एक हो

१- हिन्दू कहते हैं राम हमारा, मुसलमान रहमाना ॥

- जेत सुधार पृ० १०४

- जेत सुधार पृ० १०५

मिट्टी के भिन्न वर्तन निर्मित होते हैं ऐसे ही भिन्न भिन्न धर्मों को मानने वाले हैं। कबीरदास के अनुसार ब्रह्म तत्त्व आत्मा में वास करता है, बलि देकर उसको प्राप्त उभव नहोन वह मंदिर या मस्जिद में ही है। वह आत्मा में ही व्याप्त है, अतः आत्म ज्ञान प्राप्त करी। कबीरदास तो हिन्दुओं की 'हिन्दुवां' से और तुर्कों की 'तुस्कां' दोनों से परिचित है।

जनता उन बलि पण्डितों से दोषा लेती है जो स्नान सिक्का कहेनेद को बलि चढ़ाते हैं। मुसलमान भी गाय को हत्या करते हैं परन्तु यह भेड़ों को हत्या करते वाले उनके कम निहुर नहीं है।

कबीरदास ने जो गियों की भी हँसी उड़ाई है। जीर्णो अपनी मन की लुट नहीं करते हैं, घरघर की रंग देते हैं। कानों को फाड़कर अटा रंग कर जंगल में धूमती जलाकर पालण्ड रजाते हैं। जीते-

मन न रंगाई रंगये जीर्णो कपरा ।

वासन भारि मंदिर में बड़े ब्रह्म धरि फूल लाने पारा ॥ ५

वास्तव में यह सच्ची साधना से तत्पन्ने हुए है यदि ईश्वर मंदिर या मस्जिद में निवास करता है तो और प्रीति सिक्का है, हिन्दू पूर्व दिशा और मुसलमान पश्चिम पश्चिम दिशा की मस्जिद देते हैं, दोनों ही भ्रम में है अपनी आत्मा को नहीं टटोलते, वास्तव में आत्मा में ही

१- गीत सुधार पृ० ११०

२- .. पृ० ११२

३- हिन्दुन कीर्तिनाई ----- कौन राह हमें जाई ॥

- सन्त सुधार पृ० १०६

४- सन्त सुधार पृ० १०२

५- .. पृ० ६८

-----राम भी है रहोम भी । जैसे-

जो सीदाय समजोद वसतु है और खुलू केहि केरा ।

तोरेय मुरत राम निवासो, बाहर केहिा हेरा ॥ १

उहे अन्य स्थान पर बैठने से क्या प्रयोजन ब्रह्म सर्वव्यापक है।

जिन विश्वासी और आस्थाओं की पीली
या कल्लो भुम्किा थी । कबीर उनका विरोध करते थे , जो परम्पराएं बहिनी
बनकर समाज में जम गई थीं । कबीर ने उनके उन्मूलन के लिए भी नरक प्रस्ताव
दिया । काशी में मरने से स्वर्ग प्राप्त होता है । इस अन्य विश्वास के उन्मूलन
के लिए उन्होंने कहा -

‘ नरक विरद कासी को न देखे ।

कहे कबीर भक्त नरकहिं जेहें ॥ २

कबीर ने अपनी आत्मोन्नात्मक आकांक्षे
केवल धार्मिक अन्यविश्वासी के उन्मूलन के लिए ही नहीं उठाई थी, बल्कि
सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के निवारण के लिए भी उन्होंने उसका
उपयोग किया था, घृष्ट प्रथा के विरोध में उन्होंने कहा -

‘ रह रह रो बहरिया घृष्ट जिनि काहे ।

०

०

घृष्ट कादि गद गेरी जामे ।

उनको मिल तोहि जिनि लागे ॥ ३

१- अन्य खजूर पृ० ६६

२- कबीर ग्रन्थसंग्रह पृ० १८७, २६०

३- ,, पृ० ३१६ , १७४

बेगार की प्रथा कबोर के समय में भी प्रचलित थी। वह भ्राजोविर्गों के लिए बड़ी घातक थी। कबोर ने बेगार के सम्बन्ध में भी अपना विरोध व्यक्त किया है, किन्तु व्यावहारिक परिस्थिति में -

‘बेठि बेगारि हुराई थाकी, जमै फ पक्षासा । १

वही जीवन में कबोर की जो संघर्ष करना पड़ा था, उसने कबोर के आलोचकों को प्रसन्न कर दिया था। काजी, मुल्ला, ब्राह्मण, पुजारी, हुस्तान आदि लोक लोगों ने कबोर के सत्योद्घाटन का विरोध किया था, किन्तु उनके ही स्थिर स्वभाव और ऋट व्यवहार ने उनको प्रतिना का पूरा साथ दिया। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि धर्म और समाज के क्षेत्र में कबोर के लोक बेरोही हो गये थे, यह बात उनको इस उक्ति से प्रभावित होती है :

‘कै गारे रदिके, बेरो बेरो तुम् ।

एह झलो धिर कीहुरे, राज न बिसारी तुम् ॥ २

नमित हीन ब्राह्मणों से राजा हुआ की राह पर न लगे वाली काजियों के कबोर ने ऐतिहासिक टुकड़ों की बातों की किंवदन्तियों के रूप में राज तक दाव की जाती है, किसी ब्राह्मण के साथ कबोर की तुलना का एक उदाहरण इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

‘काडे मेर ब्रान्त हरि न कहहि,

राहु गोदहि नहि डीक नरहि ॥

१- कबोर उन्नाय्या पृष्ठ ४६, ४७

२- .. पृष्ठ ७७, ७८

जीर योगी के व्यक्तित्व में हमें जानी-बूझी जपनी कह गये, किसी ने उनके मूल स्वरूप को जीर किसी ने 'जानी' रूप की ही देकर जपना खोजी मत्त स्थिर कर लिया है। नभित जीर जान में से किसी एक से कबीर का पूर्ण व्यक्तित्व व्यक्त नहीं हो सकता है। ऊँखू जीर मस्त पीला रूढ़ों से भी उनके व्यक्तित्व का पार्श्विक दर्शन भी हो जाता है। समाज दुधास रूप नो कबीर के व्यक्तित्व को संपूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकता **होठ**, 'संत' शब्द अवश्य ऐसा है जो संपूर्ण कबीर को हमारे सामने रख देता है, जिससे कबीर की जानी मूल जाति किसी एक रूप में देखा है, वह उनकी वाणियों में से ही इस सम्बन्ध में उपर्युक्त तर्क और उद्घरण दे सकता है, किन्तु जो उनकी सन्त महात्मा कहकर रूप ही जाते हैं। वे जाहे कबीर के व्यक्तित्व का विशेष-क्षण न कर सकें, किन्तु उनके सम्बन्ध में कोई प्राप्ति नहीं फैला सकते, कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ़ प्रतीति होता है उतना ही सरल या जीर जितना सरल होता है। उसी कहीं व्यक्ति गूढ़ या जिस प्रकार नारियल या आदाम की ऊपर से देकर उनके नोहरी स्वरूप का विशेषण नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार कबीर के वाह्य रूप को देकर उनकी मूर्त्तिनामयी कठोर वाणी को प्लुकर उनके कोमल दयालु अन्तर का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सब जो यह है कि वे एक सन्त जैसे, दर्जे के महात्मा थे, इसलिए उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में सरल और गूढ़ दोनों दोनों का अन्तर्धान है। यह ठीक है कि वे पदे लिखे नहीं थे किन्तु कबीर द्वारा प्रकृत अगद शब्द उनके व्यक्तित्व का सही प्रत्य नहीं हो सकते। कबीर की शब्दों में सीमा अत्यन्त है। उन्हें उनकी (शब्दों की) प्रकृति अर्थात् अनिवर्जना चाकता में ही ढूँढा जा सकता है। उन्हीं शब्दों में कहीं कहीं (गम्भीर व्यति नहीं मिलती है जिनमें उनकी गहन अनुभूति का विवाह दृष्टि-गोचर हो जाता है, कहीं कहीं यह समझना बहुत आवश्यक नहीं होता कि

कर्म शब्द का क्या अर्थ है ? क्योंकि यह जानना बहुत आवश्यक हो जाता है कि कर्म शब्द की पुष्टि क्या है ? यह समझने के पश्चात् कबीर का अन्तर कभीतर नहीं रहता । इसी समझ में महात्मा कबीर का परिचय निश्चित है।

बाह्यात्म्यों के प्रति उनकी वाणी ने जो प्रतिक्रियात्मक रूप ग्रहण किया, उसमें उनकी ईमानदारी की ही प्रेरणा है । जिस वाणी में प्रतिक्रिया है उसी में श्रुति टिकी हुई होती है। उनकी निम्नलिखित कटू शक्ति देश, धर्म, समाज, दान और साधना में श्रुति की धारा प्राप्त करने में तत्पर होती है, मानव ज्ञान के परिपोषक कबीर न सुधार में मिलते हैं न मत्त प्रवर्तन में, कदियों के विरोधी, किन्तु धर्म पौष्टि व्यक्तित्व हैं, अन्य-विश्वासी के प्रति उन्हें घृणा है, और सद्बुद्धि और सदाचार के प्रति उनकी आस्था है। वे निष्पक्षता के प्रेरक हैं वे भ्रष्टाचार, शिष्य और गुरु हैं, वेद और श्रान के अन्य पाठ में कबीर का अधिकृत विश्वास नहीं है। वे अन्य पाठ की निन्दा करते हैं, किन्तु उनके बाहर जो सत्य निश्चित है जिस अनुभव को वे व्यक्त करते हैं। उसी निन्दा उन्होंने कभी नहीं की, रोजा और ब्रत में कबीर की दम्य दीक्षा है, सच्चा रोजा और ब्रत जो मन की पवित्रता है। तीर्थों के प्रति भी कबीर को आस्था नहीं है। वह सबमें कबीर को धर्म साक्षात्कार नहीं होता । जो उसके घुल में ही रहने से उसकी पा केना धर्म है, सत्य, विवेक, मन की पवित्रता आदि में धर्म दान ही रहता है।

(८) मानवीय गुणों पर बल

आज के युग में वास्तविकता और इसके संघर्ष में सामयिकता-असामयिकता, जागृता अज्ञानता आदि का का और है, आज

साहित्यकारों का एक वर्ग भी समसामयिकता कक्षा गुण शीघ्र का नाम लेकर
 कला की सभी परम्पराओं को झूठा गला समझकर नाक में सिकोड़ता है।
 नविष्य की कल्पनाओं से विनिर्मुक्त घोषित करता है, और अपनी आफ़ी
 वर्तमान के एक 'साधन' में उसे हवा बतकर भाषा की अनुपति को ही
 प्रबुद्ध देना चाहता है। यह साधनवादो कवि यह झूठ जाता है कि लगे बढ़ने
 के लिए पाँके लुहकर देखा जरूरी है और वर्तमान में रहते हुए भी व्यक्तित्व
 के प्रतिफलन के लिए नविष्य की कल्पना भी अनिवार्य है। कला, वर्तमान
 और नविष्य के मिली हुई जीवन दृष्टि ही कला की पूर्णता प्रदान करती
 है। वर्तमान में जो कुछ है, वह सब आधुनिक नहीं है, पात्र फँसता है, जिसे
 पाँके यदि दृष्टि हटाली जाय तो कला की गली सड़ी मान्यताएँ रेंगती नजर
 आँवेंगी और उसी प्रकार कला में सब कुछ पुराना नहीं हो गया है, यदि
 उसे हवा दी जाये तो नया नया कर बहुत कुछ शेष बन जायेगा जो 'नया'
 है। और आज भी उसी उपयोगिता है। कला के इस टोस की आज के प्रबुद्धों
 में 'आधुनिक' की संज्ञा दी जा सकती है, यह 'आधुनिक' समसामयिक 'आधु-
 निक' से अधिक ठोस एवं प्रेरणादायी है, इसे ऐतिहासिक आधुनिकता की संज्ञा
 दी जा सकती है। आधुनिक गुण की उपलब्धि 'मानवतावाद' है, समाजवादी
 आधार ग्रहण कर यह मान्यता साहित्य समाज, राजनीति, धर्म और जातिके
 फल पर शोषित समाज धारण किए हुए है, कला को कककौर कर देते
 तो आज के नए सौ शब्द पहले का एक कवि जिसे हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने वालों
 बुनिया कबोर के नाम से जानती है, आज भी आधुनिक है, उसके स्वप्नों का
 भारत आज भी उपजा है, उसी मानवता का सन्देश आज भी स्मृतता की
 प्रति कर रहा है। उसे कले अन्तराल के बाद का आज कबोर के दोहे पुराने
 नहीं लगते, ऐसा लगता है जैसे उनको रचना आज की विधि की माने रख
 कर ली गई हो। इसका कारण यह है कि कबोर साहित्य ने मानव समाज के

बारे में जो सफा देला था, वह भी पूरा नहीं हुआ न वह सान कपारी
 बाँकी के साने से जोकल हो पाया है, कबोर साहब नविष्यद्रष्टा कवि थे,
 और नास्तोय मानव समाज को जो कल्पना उन्होंने की थी वह इतनी मजबूत
 निकली कि आज भी वह हमारे साथ है और हम उसी कल्पना को आधार देने
 के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह तो निर्विवाद है कि कबोर भक्त थे, किन्तु
 वे केवल राम राम बोलवाले बहु बहु साधक नहीं थे, सत्संगति से उन्हें जो
 जो बीज मिला उसे उन्होंने अपने गुरुगार्थ से विचार, संयम और साधना से
 वृक्ष का रूप दिया। उनके विचार और भाव केवल सुनाये नहीं, उनके सभी
 पवित्र वाचरण और तब्र अमृति के फल थे। सामाजिक नेमान और अ-
 प्मान्तरों के पामष् का निरोपण भी उनका उपाय था। वह उनका अपना
 ही मौखिक व्यक्तित्व था। जिससे उन्हें जीवन काल में हो सका महान् सन्त
 का फल मिला। उन्होंने निर्गुण निराकार को नमित का मार्ग बताया था।
 मानव धर्म को सम्पूर्ण रूप से फल और कबोर ने नमित को मौखिक रूप प्रदान
 किया, जो पूर्ण नमित को कान्ति साधना माना जाता था। कबोर
 के समय तक नमित व्यक्तित्व नहीं था। उसका आधार था ही कि। विविध
 शास्त्र पर आधारित था। जसा किही सम्प्रदाय विशेष से उसका नमित रूप
 बना होता था। परिणामतः नमित का उद्देश्य न ही ब्रह्म ज्ञान ही था,
 और न सर्वजन ज्ञान। प्रकृत उसी साधना पद्धति विविधता ज्ञान पर
 ही आधारित थी। उसका हम्परिणाम यह निकला था कि शास्त्र और सद्ग-
 दाय के लुप्त वागर्षों में की कतलाने विविध विचार धर्मों के आधार पर
 ही अहित का रूप देखे थे, प्रत्येक सम्प्रदाय ऐसा ही करता था। परि-
 णामतः संघर्ष होता था, जिसका हम्परिणाम यह निकला था कि अहित
 होने के कारण पर पर ही विचारवागर्षों की टक्कर में जाता कि जाता
 था, कबोर नहीं कवि थे, जिनकी भाषा शास्त्र सम्पत् नमित को आधार

संहिता और सम्प्रदायवाद की धरेन्दो में नहीं फँसी, और उन्मुक्त होकर मानव मात्र के हित में लुट गई।

कबीर ने यह अनुभव कर लिया था कि शास्त्र मर्यादा के साथ सम्प्रदाय निष्ठा आवास ही जुड़ी रहती है और शास्त्र तथा सम्प्रदाय की सीमा में रहकर मानव मात्र के लिए नवित का सर्व सुखन एवं प्रशस्त नहीं दिया जा सकता।^१

उस सैलानी, विनैकि, शान्तिकारी, भक्त कवि का किसी भी धर्म काता सम्प्रदाय से कोई नाता नहीं था। उसका नाता तो सब्से साथ संपूर्ण मानव समाज से था। मानवधर्म का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उन्ने जहाँ जी बूढ़ करवाणकारी भिला, उन्ने ग्रहण किया और भेष की छुराते को गढ़। उस युग में यह एक ही ऐसा धाकड़ कवि था जिसने हिन्दू मुसलमान दोनों छले भी थे और प्यार भी करते थे, दोनों ही छले पराया भी समझते थे और बपता भी। कारण कबीर का धर्म, उसको नवित सीमाओं की लौकिक छे जात फँस गई थी और उन्ने सब्से अपने में छोट लिया था। कबीर के नवित मार्ग को, वह सब्से बड़ी उपलब्धि के लो जात जो भी कबीर को नपने नहीं छे, नवित का यही मार्ग सब्से बड़ा कर था और यही मार्ग सब्से बड़ा और आवायक छे। कबीर की मानव मार्ग नवित के धर्म में सब्से बड़ा छे नहँ लुट जाता था कि उन्ने इस नवित पद्धति की किसी प्रति-क्रिया के दानवमें आकर उपस्थित नहँ किया था। प्रतिक्रिया का एक लोप निजान्त आवश्यक छे, उन्ने जोर मते हो छे, होछ नहँ छे, जिसका परिणाम यह छे कि सब्से की मण्टी का जो के मण्टी नहँ

जीत रहा मैं लौ जाता है और वह प्रतिष्ठियावादों का ब्यनात्र इतिहास बन कर रह जाता है। कबीर ने स्वामी रामानन्द का आशीर्वाद पाकर जिस सर्व जन सुखन भक्ति का सूत्रपात किया वह प्रतिष्ठिया से नहीं बल्कि कवि को अपनी लौटना को उपज था। अपनी जीवन दृष्टि थी, जिसने क्लृप्त वर्तमान और भविष्य को अपने अन्दर लोटे लिया था। उसने व्यापक फलक पर लिखी जाने जाना कविता कभी नहीं पसंदी। उपरुपुत वातावरण पाकर वह रेगिस्तानों पीने की नाँति फूट निकलती है, बाव निधति उपरुपुत है। यही कारण है कि कबीर हमें फिर याद करते हैं और नई दृष्टि से फिर एक कवि का सु-सुल्यार्जन होने लगा है।

आधुनिक शब्दावली में कबीर को संदर्भ के विरोधी है। समाज के बीच शोचक शीघ्रित का भेद मिटाकर 'सत्य' की वे स्थापित करना चाहते थे। उसी निमित्त कबीर ने बिरो के अधीन रहकर कार्य नहीं किया बल्कि कुनाहे का अपना स्वतन्त्र व्यवसाय चलाया। यही उनके तथा मानव मात्र के स्वादिष्टीन के सर्वथा अनुभूत था। उनका एक अन्धा बाज के शीघ्रित वर्ग की नाँति दैनिक मजदूरी पर बाध रित नहीं था, प्रत्युत अपनी धन सर्व सम्पत्ति के स्वयं नातिक होने का व्यवसाय था। यह कर्म का व्यवसाय था जिसकी बाज फुटार है। कबीर साहब की दृष्टि मात्र विरोधी समाज व्यवस्था के इस तथ्य तक पहुँच गयी थी कि वर्ग विचार के धरातल पर ही सभी वर्गों की समान मानने की पहिना है, किन्तु जागर के धरातल पर बन्दे बन्दे में भेदभाव है। यहाँ कुछ वर्गों की तो 'जन्मना' सेष्ठ माना जाता है और शेष की अक्षम करके वर्ण के योग्य भी नहीं समझा जाता। कबीर स्वयं इसी कणित अनुभूत जाति से सम्बन्ध थे, उन्होंने सभी वर्गों

में वर्ण व्यवस्था के विना जीवन की देखा, पहचाना और भीगा था, मजबूत किया था और संकल्प किया था कि हिन्दू समाज के भीतर इस बहि की हिम्मत भिन्न करी हो दम ली । आः जीवन पर्यन्त कबीर हिन्दू समाज की समझाते रहे कि जन्म से सभी मनुष्य समान हैं जिनमें परस्पर विभेद करने का कोई आधार नहीं है। उन्होंने स्पष्ट उद्घोष किया -

“ एक हुँद सँ गढ़ पुतर, एक नाम एक गुदा ।

एक ज्योति से सब उत्पन्ना, को बापन को बूया ॥ ”

पंडित देखहु मन मँह जानो ।

जहँ भी हूति कहाँ से उपजो, तबहिँ हूति तुम मानो ॥

हूतहिँ जेका हूतहिँ कवन हूतिहिँ जगत उपाया ।

कहहिँ कबीर ने हूति विवरजित, जाके संग न पाया ।

जिस व्यक्ति के सभी अंगों की पवित्रता लीवा, थोड़े दिनों में से भी ऊपर उठ गया उसकी जाति के सम्बन्ध में प्रश्न उठाना भी और भी अधिक अशुचित है :

“ जाति न पुनी साधु की, पुनि लजिनी मान ।

मोल करी तखारि का, पढ़ा रहन दो मान ॥

संतन जात न पुनी निरनिर्ग ॥ ”

“ हरि भेती हरिजा गढ़े, समस्त देख मन माँहि ।

कह कबीर जग हरि निषी, सो हरि हरिजन माँहि ॥

कबोर खरब जुलाहवांशी थे, समाज में उस समय
 इस जाति का स्थान देना ऊँचा नहीं था, कबोर ने कर्म की देखभाल के आधार
 पर जो जुलाहे के कर्म में जो बड़ी शान्ति वर्तित सम्पत्ति -

जाति का मोर पुस्त हो बामन, ब्रह्मों मोर गियान ।
 रुद पाँपों पाताल का, कादि कबोरा पीव ।
 बसी पावस पदि पुर, बिर्षा विलेव पीव ॥

जाति जुलाहा पीत को धोर ।
 हरणि हरणि तुन रसे कबोर ॥

कबोर नेरी जाति को सई कोर हंसने हाह ।
 बलिहारी इस जाति को, जिहि जपियो सिरजनहार ॥

सन्तों की खीर के जाति प्रया की हाँतो
 बहुत पुराने जमाने के मिली गयी जा रही है। ये सन्तों में पहले का नाम
 कहा जाता था का है। अब मैं, कबोर, बामन, पाँपों जाति मयाजा उसी
 जाति के सन्त हैं, जो धारा तु के समझल के बड़ी जी, किन्तु जाति संघर्षों
 के बाद जो जाति प्रया काया है, यद्यपि ज्यों ज्यों समय बीता है, उनके सन्त
 होने होते जाते हैं तथा हिन्दुस्तान इस प्रया की सभी दिनों के सन्त कहे
 की आज भी संघर्ष कर रहा है और इस संघर्ष में हमें बहुत कठोर प्रेरणा कबोर
 साहस के मिलती है। कहे का तात्पर्य यह है कि कबोर ने जाति प्रया का
 सिद्ध कर ली, उसे हाँतो केर बिहारी हुई मान जाति को एक दूसरे के निराल
 जाने में कदा परस्परपूर्ण योग दिया । कबोर को यह अभिप्रायित व्यापक मोर
 गयी थी । व्यापक इस अर्थ में कि वह जीवन के अनुभूत थी, सामाजिक परिस्थिति

में छुनी फिरी थी और गहरी इस तर्ज में कि कलाकार को सम्बोधना उसे स्वा-
भाविक् रूप में मिली थी ।

कबोर का एक धार्मिक मतभेद का एक था,
एक और हिन्दुओं और मुसलमानों की मूल विचारधाराओं का वैषम्य था
तो दूसरी ओर हिन्दुओं और मुसलमानों में अपने अपने सम्प्रदाय एवं फिर से
परस्त्री ईर्ष्या नियत में दरार पैदा करी के लिए लुटे हुए थे । हिन्दुओं में शैव,
वैष्णव, शाक्त जैसे कई सम्प्रदाय विभिन्न देवताओं की कष्ट मानकर बन गये
थे । योगी, यति, संन्यासी जैसे लोक वैशिष्टारियों के वर्ग अपने अपने ढंग का
प्रचार कर रहे थे और ऐसे फंश भी लोक वर्गों में विनम्र होते जा रहे थे ।
उन सभी के बीच ऐसी लाश्यां बनती जा रही थी जिनका दिनों दिन नांदो
होते जाना अनिवार्य सा प्रतीत होता था । इसी प्रकार मुसलमानों के भीतर
भी आपसी मत पड़ते जा रहे थे । उनके धर्म प्रचारकों, पोरो- जो जिनों का दि
के देशान्तर होते ही उनके सम्मान में मेलें और उत्सव होते थे और वहाँ से उनके
नाम पर फिरकों की एक परम्परा चल पड़ती थी, इस प्रकार सुस्मित धर्म
छोटी छोटी कब्रों में धँस गया था जहाँ फिर सापरस्ती के दावेदार अपने-
अपने गुटों में बँटकर मुसलमान मुसलमान के बीच कटुता का नाव उत्पन्न कर
रहे थे । इस प्रकार धार्मिक वैषम्य ने हिन्दुओं और मुसलमानों की बीच पर-पा
एक दूसरे से जलन नहीं किया वरन् स्थिति कुछ ऐसा हुई कि हिन्दू हिन्दू से
मुसलमान - मुसलमान से और हिन्दू मुसलमान तथा इस प्रकार ईर्ष्या ईर्ष्या
से कटगया । जलजली गया । कबोर ने अपने जीवन के व्यापक परिचित में धर्म
के इस सुस्मित स्वल्प को देखा और इस बिलसी हुई मानवता की समीप लाने
के लिए बार बार कहा - परमात्मा एक है, इस एक को पाने के लिए लोक
फंश जहाँ बनारस ही और फंश जहाँ लोक बना भी लिये हैं तो उन्हें लेकर जाऊँ

में कगलते क्यों हो ?

‘ जो लीलाय मजबूत वस्तु है, और मुक्त कहि कैरा ?
तोख पुरा राम निवासी, बाहर कल्ला हैरा ॥

०

०

‘ पुरा विषा हरी की आसा, पच्छिम बलह सुमाना ।
दिल में लीज दिलहि में लीजी, एहें करीमा रामा ॥

०

०

‘ साधी , देखी जग बीराना ।
हिन्दु बल्ल है राम हमारा, सुखलान रहमाना ।
बाफ्त में लीज लहे नहु हैं, नेद न कीज जाना ॥

०

०

‘ बरे ल दोउन राह न पाहें ।
हिन्दु जफा करे झूठे, गानर हज्ज न देहें ।
बेग्य के पताने सोने, यह देखी हिन्दुगहें ॥
सुखलान के पीर लीलिया सुर्गे सुर्गे जाहें ।
साला कैरो बेटे आहै, घरहि में करे सगाहें ॥

इस प्रकार कबीर साहब हिन्दू और मुस्लिम धर्म की भटकान से हटाकर सीधे रास्ते पर लाना चाहते थे । इसी निमित्त उन्होंने धर्म के बाह्यान्तारों को खारिज नहीं किया , उन्होंने लू और तों ब्रत, यज्ञ, कंटो और माला का विरोध किया तो दूसरों की रज्ज, रीजा और नगाय का भी छट कर विरोध किया । मन्दिरों के लीखेफ को मन्त्रिण उद्घाते समय के मस्जिदों पर नो करारा लीट देना नहीं भुले, दोनों के बाह्यान्तारों का विरोध करी उन्होंने अपने जाकी न ली हिन्दू ही घोषित किया

न सुखमान । वे तो सच्चे जहाँ में हस्तान थे और हस्ताभिरा के गीत गाते थे । यह कबोर का ही प्रभाव है कि राज मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजा-घरों का वहल धीरे धीरे पटने लगा है और गुनियाँ धीरे धीरे उस धर्म की ओर बढ़ती जा रही हैं जो बाह्यान्तरों से सुख होगा । कबोर आत्मा की आवाज से सच्चा धर्म मानते थे । खीन्द्र नाथ के शब्दों में वे धर्म को फौ-रुना चाहते थे किन्तु धर्मों को छोड़ देने की सलाह देते थे । कबोर ने विभिन्न धर्मों की तुलना गुदियों के खेल से की है। विभिन्न मतानुयायी खीध बाज्यों की नाँसि बाज्ये होकर इन गुदियों के खेल में ही मटकते रहते हैं और वास्त-विकता तक नहीं पहुँच पाते, कबोर का विश्वास है कि सच्चे धर्म का मान होते ही मनुष्य धर्म के सही बाह्यान्तरों को छोड़ देता है। इस प्रकार मानवता की डगर पर चलने वाले को अपनी आल छोड़कर शीघ्रता पहुँचती है और विक-ले काम लेना पड़ेगा, कबोर के अनुसार उन्हें "हद" छोड़कर "बहेत" होना पड़ेगा और उस घर में वास करना पड़ेगा जहाँ बाह्य मनुष्यों का कोई बन्धन नहीं होगा -

“हृदय गाँहि बैरद गया, किया सुखनि जानान ।

मुनिजल मस्त न पासइ, तहाँ किया किराम ॥”

०

०

“राम नजत है नाम की, नाम भजत कहूँ धोर ।

काहुँ ने कृष्ण और है, बाकी भजे कबोर ॥”

०

०

“सुर नर मुनि बहूँ कीलिया, ये सब देखें तोर ।

जह राम की गम नहो, तह घर किया कबोर ॥

मानवधर्मों के लोकार यह मानकर बल्ला है

कि कौरे जान कि मवा हुआ है मृत्यु का उधार होने वाला नहीं है, उसका उधार अभी समाप्त है जब कलावार में सीधता ही, सच्ची क्षुध ही, मानव मात्र के प्रति ममत्व और प्रेम ही, कबीर का मानव धर्म भी जान पर नहीं बरसू ममत्व और प्रेम पर टिका हुआ है :

कबीर पढ़ना डूर करि, जाधि पढ़ा संसार ।
प्रोति न उपजो पीउ हूँ सो नष्ट करे पुकार ॥

परबत परबत में फिर्या नैन गँवाया रीय ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जाति जीवन हीय ॥

कबीर पढ़ना डूरि कर, पीयो बड बढाय ।
जावन कासर जोधि करि, करे जयै नितनाय ॥

उम्मा निया की डगर पर चले जाने राहों की इस बात का पूरा ज्ञान होता है कि जगत् उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उसे जीव कष्ट एवं पीनार्थों का सामना करना पड़ना । कबीर ने अपनी जीवन में दूसरों के लिए कष्ट की परीक्षा किया था । जगत् की अपनी सिद्धि का कुछ बाँटकर उसका दुःख स्वयं ग्रहण कर लिया था-

हुसिया सब संसार है, सासै बरु सीवै ।
हुसिया बास कबीर है, जाँवै बरु रीवै ॥

कबीर ने सहज मार्ग को अपना लिया था, सहज धर्म मानवतावाद का सबसे सुन्दर और सुरक्षित मार्ग है। इस मार्ग पर चले

बालों की जर्म करने आदि के सभी बाहुबानारों का परिचय कर सख्त स्वाभाविक मानव मात्र का कल्याण करने वाला सख्त जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसे अपने पराये हिन्दू, मुसलमान राम रहीम सभी की समृद्धि से देखना पड़ता है, कबोर ने जो यह सब किया था :

“हुलिया हुआ दुल की, हुलिया सुल की करि ।

जवा जानंदी राम की, जिनि सुल सुल मेल्ले करि ॥”

०

०

कबोर मधि कौ ने की रहें, जी तिरत न लागें बार ।

दुल दुल की हुं ला गि करि, दुल्लत हैं सीतार ॥”

०

०

“काण फिर कासी मया, रान नया रहीम ।

बीट नून मैया मया, बेठि कबीरा जीम ॥”

कबोर नमत होने के साथ साथ एक शान्ति-पारो समाज हुआ एक भी थे । वे हिन्दू मुसलमान श्रेय के सम्पर्क तथा मतवाद से परो स्वतन्त्र उपदेश और महान् विचार थे । कबोर यह सब सके ही थे इसके अलग वे मानवतावादी भी थे । अपने चारों ओर सामाजिक दुरीतियों, अत्याचारों और जमातों को देखकर उन्होंने अपने मनुष्य रूप के माध्यम से ही समाज में फैले दुराचारों, वैक्लव्य, और दुराच्यों को दूसरे समर्थकों एक मार्ग पर चलने का उपदेश दिया । संपूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए उन्होंने अपने धर्मों का परिचय कर दिया और मानवीयता के महत्त्व का भी सभी-योग से छुट गए । यह भी मूल मते कि जिस समाज और दुल में वह रह रहे हैं, उसमें दुलार नया खाना खान नहीं है जितना वह समझ बैठे थे, किन्तु मंत्रियों कार्यार्थी न गणपति हुई न न दुली को अपनाकर उन्होंने मानव जाति

के बन्धन मुक्ति का बीड़ा उठाया था । तब: उन्होंने हिन्दू सुलतान हिन्दू-
हिन्दू और सुलतान- सुलतान के आफ़ी मेदमावी की पिटाई का प्रयत्न
किया । उसी कठोरता से सभी जिंदे थे, किन्तु वे सभी के प्रेम पात्र थे ।
यहाँ कि सभी मानव के लिये उनमें वैमनस्य कथा डेण न था । प्रकृत उनके
मा में सुधार का भाव, प्रेम की लहर, और रसा निया थी । दोनों जातियाँ
उन्हें कठोर और दानवी हुर भी प्यार से बफ़ाना चाहती थी । यही कबीर
की सबसे बड़ी विजय है यही मानवतावाद की ही विजय समझी जानी चाहिए ।

यहाँ कबीर के मानवधर्मी विचार संपूर्ण
मानव जाति की 'लाष्ट हाउस' की भाँति भव सागर में भटकते हुए जलिन
पीतों की जिन्ना निर्देश प्रदान करके उन्हें सुगम पर लाती रहेंगी । भ्रान्ति-
कारी कबीर का यही मानव धर्म और जाति, धर्म की सीमा का अतिक्रमण
कर सर्वसुखसिद्ध सिद्ध होगा ।

भारतवर्ष के पञ्चगुणि इतिहास की सबसे
प्रमुख घटना मजिद गान्धील है। मजिद स्नात्तिक- व्यक्तित्व साधना है,
पञ्चगुण में यह स्नात्तिक साधना की ऐसी उर्वर भूमि है जहाँ का मौका मिला
कि यह आन्तिक मजिद साधना समाज के सम्पन्न हो गई । लोक मानस के
साथ मजिद का कुछ ऐसा सम्बन्ध स्थापित हुआ कि मजिद साधनों की जाणो,
तोफ़बाणी बनकर गूँजे लगी । उत्तर भारत में मजिद की सर्वसाधारण रूप
पहुँचाने का श्रेय सबसे पहले रामानन्द की तथा उनके बाद कबीर की दिया
जाता है, रामानन्द ने मजिद की स्नात्तिक साधना मानते हुए भी मानव पात्र

१- कबीर - डा० विजयेन्द्र स्नात्तिक पृ० २४७

२- कबीर - .. पृ० २४७

के लिए सुलभ बनाया था। कबीर ने उन्हे लोक मानस में सहजता के साथ बतने का मार्ग बताकर शास्त्र के पन्थियों से मुक्त किया था।

मृत कबीर ने यह अनुभव कर लिया था कि शास्त्र मर्यादा के साथ सम्प्रदाय निष्ठा आयास ही बुद्धी रहती है और शास्त्र तथा सम्प्रदाय की सीमा में रहकर मानव मात्र के लिए नवित का सर्वसुलभ पथ प्राप्त नहीं किया जा सकता। नवित पथ के दो बड़े त्तरों हैं, शास्त्र और सम्प्रदाय, जो नवित मानवता की आकांक्षा को बिल नहीं छोड़ती हैं, किन्तु सहज और सरल नहीं रहने देती। कबीर सृजन में आस्था रखने वाले मानवतावादी व्यक्ति थे। कलाम की स्वकीर करने पर भी फलस्वी कटूता से वह कोशों हार थे। उनका कोई लगाव किसी भी और मन्थमर्यादा में नहीं था। हृदय की स्वच्छ कर्पाटी पर विवेक की जो हरी लीक बसती उसे ही कबीर साठव सबी मानते। अनुभव की तुला पर तथ्य और सत्य की परस्पर ग्रहण या त्याग की पद्धति ही उनका जीवन क्रम बन गया था। मानवतावाद और नवित का प्रणेता गौतम सम्बन्ध कबीर ने फली नारद और शक्तिन्य के नवित स्त्री में भी देखे हुए था। किन्तु वह पुस्तकीय सन्देह था, जो लिखित वर्ण की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सका, उनके स्त्री की मर्यादा में शास्त्र मर्यादा की प्रत्यक्ष गन्ध थी जो तपती गरिमा बोध न गीढ़ करने के कारण सामान्य जन में व्याप्त न हो सकी। जब रामानन्द ने तपती शिष्य परम्परा में उन वर्णों के व्यक्तियों का समावेश करना प्रारम्भ किया जो सामाजिक स्तर के नाम पर निम्न वर्ग के समझे जाते थे, तब नवित का एक आधार तथ्य के मानवतावादी दृष्टि से प्राप्त हुआ, कबीर ने इसी मानवतावादी दृष्टि के अन्वेषण में व्यापक स्तर पर योग दिया। नवित की दृष्टि साधना के साथ सपष्टि रित में प्रयोज्य जानना ही हमारे मानवतावादी दृष्टि समझने जाते हैं। कबीर की नवित पद्धति में यह दृष्टि सबसे अधिक महत्त्व से उपायित होती है। उनसे

रनाहीं से मैं इस सत्य को पुष्टि करना आवश्यक समझता हूँ।

कबीर का व्यवसाय धर्मोपदेष्टा या पुजारी का व्यवसाय नहीं था, जोविका के लिए तो वह जुलाहे का धन्धा करते थे जिसे सामाजिक पराजित पर ऊँचा धन्धा उस युग में नहीं समझा जाता था। स्वयं कफ़ा करने और दूसरों से कफ़ा सुनाने में बड़ा अन्तर है। जाज के मिल मात्कि कफ़े को विशाल मिलें सही कर दूसरों से कफ़ा सुनवाते हैं। सुनेवाले मिल मजदूर को संज्ञा प्राप्त करते हैं, पराधीन होकर दूसरों के लिए कफ़े सुने में स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान का दास व्यवस्थावली है, कबीर ने स्वातन्त्र्य रहते हुए, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, जुलाहे, का व्यवसाय अपनाया था, काः अपनी व्यवसाय की सम्भावनी, प्रतीक एवं अप्रस्तुत योजना का अपने काव्य में उपयोग किया था। वह मिल मजदूर न होकर मात्कि और धृष्टा दोनों थे। सर्ज का सुख उनके व्यवसाय के माध्यम से उन तक पहुँचता था, इसलिए विली को आश्रित बनाकर सुख योग की कल्पना उनके पास नहीं थी। व्यवसाय के माध्यम से कबीर ने लोटे की के भेद को दूर करने का प्रयत्न किया था। यह कदापि फलदा प्रयोग था जबकि एक मजदूर और महात्मा ने अपनी साधारण धन्दी का परित्याग किए बिना महत्त्व और गौरव के गिरिगुरु का रूप लिया। इस सत्य से कबीर को एक दृढ़ निष्ठा का बोध होता है कि मानव मानव के बीच भेद पैदा करने में केवल वर्ण, जाति और धर्म ही साधक नहीं होते बल्कि व्यवसाय और धन्दी के आधार पर भी। समाज में ऊँच नीच का भेद किया जाता है। कबीर ने इस भेद को चुनौती देकर अपनी धन्दी की आत्मन्य स्थापना किया, जो लोटे है किन्तु की सत्त्व वर्ण की ओर संश्लेष करते हैं, कबीर की एवं और प्रतिमान से कहते हैं :

जाति क्लेश पीत को पीर,

हरणि हरणि गुण से कबीर ॥

मेरे राम की जी पय नगरी , पड़े कबोर जुलाहा ।

तु बापन मैं कासी का जुलाहा ॥

मानवतावाद की स्थापना के लिए कष्ट सहिष्णुता , परदुःख , कातरता और अपरिग्रह की निरान्त आवश्यकता है, ये गुण संस्कृत एवं सम्य व्यक्तित्व के जीवन में सबसे अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। संस्कृति की कठिनाई ही गम्भीर और जटिल परिभाषाओं की जगह, किन्तु परदुःख - कातरता और अपरिग्रह से क्या कोई दूसरा गुण संस्कृत व्यक्तित्व में नहीं होता । मानवतावाद में विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही यहाँ में सम्य एवं संस्कृत पुरुष है। कबोर ने अपने जीवन में दूसरों के लिए कष्ट को स्वीकार किया था । उनका जीवन जनता के उद्बोधन में ही व्यतीत हुआ । वह अपने लिए नहीं संसार के लिए जीते और विलाप करते रहे । उन्होंने सभी सम जनों के लिए अपना अस्तित्व समर्पित कर दिया था, संसार के लिए उन्होंने अपने बापनो भिटा दिया था-

हुलिया सब संसार है, जावे जरु रोवे ।

हुलिया बापन कबोर है, जावे जरु रोवे ॥

मानव मानव में भेद उत्पन्न करने वाले जात-
द्वारों, पण्डों, ब्राह्मणों और अन्य विषयों के प्रति ऐसा कबोर हय कबोर ने अपनाया, वैसा भिरी और जायु सन्त या मत ने नहीं अपनाया था । उनकी मान्यता थी कि मानव मात्र की उत्पत्ति एक ही जगह से हुई है-
एक ही जगह सबसे व्याप्त है, प्रकृति ने भी सभी एक ही उद्धारण किया है, फिर ये भेद क्यों स्वीकार किए जायें और क्यों केवल लोग को लाने जोकर भुज्य भुज्य के जीव गुणा का व्यापार चलाया जाय -

लेकें हूँ लेकें का गुजर, लेकें नाम लेकें गुंदा ।

०

०

वर्णाश्रम धर्म की पर्यादा के नाम पर उस समय हिन्दू समाज में एकाग्र के साथ जातिर्षी की अप्रशिक्षा का प्रिया प्रचार हो गया था, उसकी कबोर ने कभी खोकार नहीं दिया । कबोर की निर्मल गौर सत्यवादी पुरुषों की जो यह कर्क कभी बुझाया ही नहीं । उन्होंने ही कठोर स्वर में इस सामाजिक कर्क की घिटाने के लिए लोचपा की । जन्मजात जाति की भी कबोर ने खोकार नहीं किया, सदैव उनकी बाणी से कभी स्वर गूँजता रहा कि हम सब हरि की निर्मल ज्योति के स्फुल्लिङ्ग हैं, हमें न तो प्रकाश का भेद है और न वर्ण का । ब्राह्मण और शूद्र का भेद तो वह मानते ही नहीं थे - वह तो तुल्य तुल्यी परात् पुसलमान की भी जन्म से मानने की तैयार न थे ।

जो तु धर्म धर्मनी जाया ,

तो ब्राह्मण धर्म नहीं नहिं जाया ॥

जो तु तुल्य तुल्यनी जाया ,

तो नशिर भूतनी नहीं न कराया ॥

सभी स्पष्ट और कठोर भाषा में कहा कि जिसी सन्त भक्त या महात्मा न जातिवाद, अस्वाद और वर्णवाद पर प्रचार नहीं दिया, उस प्रचार को कठोरता में ही कबोर की बुद्ध निष्ठा लियो है । बिना किसी भाग स्पष्ट के अपना जाति की लगे सपना होने के लिए जो चाहते, लगे धर्मिक व्यवस्था में होता है, वह कबोर के पास बलिहस्त पात्रा में न । इस बात में मानवात्मा की समता और एकता की स्थापना है, जो-

लिए यह कानून कथन भी नहीं लगाता, कबीर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह नवत होने के साथ समाज सुधारक थे। हिन्दू धुस्तिम स्वयं के समर्थ थे तथा किसी फावाद में की न होने के कारण स्वतन्त्र उफेष्टा था। किन्तु यह कथन कबीर के जीवन किन की गरितार्थ करीबाला नहीं है। कबीर के जीवन का प्रमुख तथ्य मानवमात्र में समता और समता स्थापना ही था। कबीर न तो समाज सुधारक को नाति किसी सामाजिक जीवन दर्शन का उफेष्टा देने आर थे और न धर्म या जाति में समता स्थापित करना उनका लक्ष्य था। ध्यान में वह तो ईश्वर नजित के साथ सभी जीवन की शक्ति के व्यस्तित करना चाहते थे, किन्तु जब उन्होंने सभी पारों और धर्म के नाम पर मानव मानव के बीच भेदों की लारें देखी, इस कष्ट का व्यक्तहार देला, तर्ग भेद के कारण दुःख ईश्वर का प्रचार देला तो वह सभी दुःख की छोड़ मानव की पीड़ा को हर करने में समीचीनपूर्वक लुट गए। वह यह भी भुल गए कि जिस समाज और दुःख में वह रह रहे हैं, उधों दुःखार करना जाना सरल नहीं है जितना वह समझ बैठे थे। किन्तु मानवी कार्याधीन न लणपति सुख न न दुःखम् की जपाकर उन्होंने मानव जाति के कल्याण मोचन का बोझ उठाया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के अन्य विश्वाकों पर कबीर प्रहार करी साथ उनको यह संरण नहीं देला था कि कोसला के रसों को खजा करने वाली जाति इस प्रहार के सिजिल्ला उठेगी। वह तो जान हुकूमर देला प्रचार करी थे, किन्तु दोनों जातियों उन्हें कबीर कसेज जानी हुए भी प्रचार के जफाना चाहता था। यति कबीर की सभी गढ़ी विषय है, यह मानव-वाद की ही विषय समझी जानी जा कि।

कबीर का धर्म नजित और प्रमाण प्रमाण।

उनका विश्वास था कि मृत्यु की यदि कहीं कुछ प्राप्ति की समता है तो वह केवल ईश्वर नजित में ही और यदि प्रसर्तों के साथ रहकर सन्तोष भी समता

है जो प्रेम के राज्य में जहाँ ईश्वर नभित नहीं वह समान रही योग्य नहीं और जहाँ प्रेम नहीं वह स्थान समझान के समान है। कबीर के जीवन का मुख्य बहुत ही स्पष्ट था। उन्होंने महज और मतवाद का ठकीलता त्यागकर अपनी निर जो मार्ग स्वीकार किया वह इस दोहे में अभित है :

निर बैरो निव कामना, सार्द पैतो नेह ।

विनियो हं न्यारा रहि, सन्तान का रंग सह ॥

बैर विहीन, कामना विहीन, होकर केवल स्वाधी (ईश्वर) के नेह रहता, विषय भासनाओं के दूर रहकर सत्ता के समीप रहना, यह जीवन जीव मनुष्य मात्र के लिए ग्रहण करने योग्य ही सकता है। इसमें जाति वर्ण, धर्म मत, कोई बाधक नहीं। क्योंकि कबीर ने अपनी धर्म की सहज धर्म का नाम दिया, ताकि सहज ही प्राप्ति के लिए कबीर आध्या और प्रपंच का मार्ग न अपनाया पड़े, कबीर का सहज देखी में राज्य होते हुए भी वास्तविक संसारुति के जीव प्रीति है :

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोई ।

जिन सार्धे विनियो राजी, सहज कहावै मोह ॥

यह सहज मार्ग मानव मन का सही सुख और लक्ष्य नाम है जो स्व पर जादू ही जाता है, प्रपंचादि से उलझे रहित ही जाती है। कबीर ने जो अपने लिए मानवजातीय का मार्ग अपनाया तो उन्होंने कबीर सत्ताओं और धर्मालेखों को त्यागना आवश्यक समझा। परिणाम यह हुआ कि मानव मात्र कबीर की बाणी और सन्देश के समीप पहुँचने में सफल हुआ। कबीर ने कभी किसी आकाश वा अन्य वा प्रसन्न नहीं किया था। यदि हम ऐसा करी तो महज आहंकारों के विरोध में नहीं जीवो

रहती ? स्पष्ट है कि उनके नाम से पंथ भी प्रचलित उस युग की परिपाटीजन्य मूल का परिणाम है। किसी भी महापुरुष के शिष्य इस परिपाटी का पालन कर अपनी जीविता, प्रतिष्ठा और महिमा का पथ प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु यह उन महापुरुषों की कभी अभिप्रेत नहीं वभिप्रेत नहीं होता जिनके नाम से यह पंथ व्यापार चलता है।

मानवतावादी कबीर ने ईश्वर भक्ति के प्रयोगों को भी तुनीती देने का साहस दिखाया था। कदाचित् उन्हीं पहले श्रोत विमर्शि और तटस्थ भाव से किसी और सन्त ने यह पराक्रम नहीं किया था -

“ यह सब कूठों बन्दगी विरथा पंथ नवाज ।

सन्नि और भुगटि पदि काजी करे कमाज ॥

०

०

कर से तो माला जपे, छिछे बहे हँसल ।

पण तो पात्रा में गिला भाजण लागी छुल ।

०

०

जप तप रजस पुजा अरुना नीतिन जग वीराना ।

कायस्थ सिद्धि सिद्धि जगत मुडाना पत होत न सजाना ॥

संक्षेप में कबीर ने सप्टनात्मक शिरो से जी कुछ कहा उन्होंने मानवतावाद की ही कुंआर है, किसी धर्म से पैदा या जैविक नहीं, कुछ वास्तविकों ने उसकी इस प्रखरता की दीर्घ मानकर उन्हीं देवत्व का ध्यातु त्तराया है। जो उनकी मूल मानना के साथ धरो राह मिल नहीं पाता। वस्तुतः कबीर ही मानवपंथी और मानवतावादी महापुरुष थे। नव्यान् में खूट विश्वास के कारण नर में नारायण की प्रतीति ने उन्हीं मानवतावाद की ओर उन्मुख किया था। इसलिए कभी किसी मानव से उन्हींने पूजा या

ऐसा का व्यवहार नहीं किया, नर में नारायण की देसी के कारण ही उनकी दृष्टि सन्तों वास्तविक भावना से जीतप्रोत हो गई थी।

कबीर के धार्मिक विचार

कबीर का जीवन एक ज्ञानी, भक्त तथा हुनारु का जीवन रहा। वास्तव जिस प्रकार उन्होंने वाय्यात्मिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किए उसी प्रकार धार्मिक और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित क्षेत्रों में महनीय कार्य किए। धर्म और समाज के क्षेत्र में कबीर ने जो मान्यताएँ स्वीकार कीं उनकी व्यावहारिक सिद्धान्त भी कह सकते हैं।

कबीर का सौत धार्मिक परिस्थितियों का उत्प्रेत करती समय या सफाई किया जा चुका है कि उस समय धर्म के ठेकेदार मुत्ता मीनवियों और पण्डित पुनारियों का प्राबल्य था, जिन्होंने सभी पाषण्ड और मिथ्याहम्कारों से देश की जनता की बन्धनित्वासी बना दिया था। कबीर के हृदय में धर्म के इस स्वरूप के प्रति आक्रोश था। तब: उसने प्रतिक्रिया स्वरूप कबीर की धार्मिक विचारधारा का आह्वान हुआ, उन्होंने सभी धर्मों में व्याप्त पाषण्ड, आहम्कार और बन्धन विचारों को बहू निन्ता की और एक सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा का प्रयास किया, कहेत धार्मिक व्यवस्थाओं से मुक्त कबीर का यह धर्म 'सहज धर्म' निज धर्म, ब्रह्मा 'गान्ध' धर्म ' के रूप में हमारे समक्ष आता है।

कबीर का यह सहज धर्म बड़ा साफ़ था। और इसे बढ़िया विज्ञान की सीरी समान नहीं किया। गुरु, वाक्य जादि बन्धन सन्त कवियों ने नही इसी सहज धर्म को अपनाया और उसका प्रचार-प्रसार किया। सौ कवियों के इस सहज धर्म के स्वरूप के स्वरूप का ठे निनि-

मोहन जैन ने निम्नांकित शब्दों में विवेचन किया है :

कबीर के मत के सामना सहज हीनी चाहिए, प्रसिद्धि के जीवन के साथ तथा सामना का कोई विरोध नहीं होना चाहिए, बाव की गैरमिल भाषा में कर कहना ही जो उस प्रकार कह सकते हैं कि पूर्णतः विश्व प्रकार सभी केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई सभी दैविक मति सम्पन्न करती है और वही मति जो सर्व के चारों ओर बृहत्तर वाचिक मति के मार्ग में छलकर कर देता है, उसी प्रकार सामना ना जीवन को सहज ही छलकर करती है। कबीर ने अपना समस्त जीवन सत्य की ओर में लगा दिया और एक पिछले के रूप में अध्यात्म तत्त्व का अध्ययन किया, उन्होंने स्वानुभूति उनकी आध्यात्मिक वस्तुओं को व्यक्त कर दिया जो उन्हें सहज और सरल लगे। उन्होंने सभी दार्शनिक सिद्धान्तों को परस्पर के लिए कभी भी तर्क की कलाई की नहीं अपनाया।

कबीर का सहज धर्म मात्र स्वानुभूति पर आधारित है, यह बात नहीं है, उन्हें बुद्धि तत्त्व की भी ख्यात मिला। यद्यपि कबीर ने दर्शन के क्षेत्र में तर्क का विरोध किया तथापि जीवन के लिए उन्होंने बुद्धिवाद का भी प्रयोग किया। कबीर तर्क मिथित बुद्धि न अपनाकर अनुभूति मिथित बुद्धि को प्रतिष्ठा की। वे कौरी भावना के बहाव में न गले। आत्मस्वार्थ और इदियों को उन्होंने सभी पास फटकने नहीं दिया।

कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही धर्मों के पिछाछन्नों को समस्त रूप के विन्दा की और उनका खंडा किया, वे मानव मानव में लोरे नेद नहीं मानते हैं और उसे लिए उन्होंने अष्ट सीखणा की। उद्ध पर काहू लखने वाता फैलार बिही ना कप है नदिर पूजा करते वाले पुतलों के होन नहीं है। खान, काज और दैव के बाण बिना

व्यक्ति को जैन नहीं कहा जा सकता है। जई के पीछे के कामों का ध्यान
 के कबोर और पूजा करी है। वे आचरण की शुद्धता हृदय की सरलता,
 निष्कपटता आदि को ईष्ट मानव गुण मानते हैं। इसीलिए उन्होंने सभी
 सज्ज धर्मों की कर्मकाण्डों से सर्वथा विरुद्ध रहा और ईष्ट आचरण के महत्त्व
 की प्रतिपादित करते हुए कहा है :

कान श्रोत्र दृष्ट्या तमे ताहि मितं मन्वान ।

इस रूप आचार की शुद्धता में कह सकते हैं।
 यदि मन शुद्ध है, हृदय निष्कपट है, विचार पवित्र है और आचरण मानविक
 है तो आत्मिक कहलाने में बाधा नहीं पड़ सकती। निःसन्देह कबोर ने हृदय
 की पवित्रता पर बहुत जल दिया, इस हृदय व्यक्तित्व ही मन्वान् की पा सकता
 है :

हरि न मितं किन्तु हिरदं मय ।

कबोर ने उन सभी कर्तव्यों- सत्य, मानव
 सत्त्व, ग्राह्यता, समदृष्टि, शान्ति, धामा, धर्म, ज्ञान, परस्मि, सन्तोष,
 बहिष्ता आदि को सभी सज्ज धर्मों में प्रतिष्ठा की जो कि मानव धर्म कहा
 विश्व धर्म के मूलधार है। कबोर ने सभी सज्ज धर्मों में महत्त्व मानने के अनुसरण
 पर जल दिया। यही कारण है कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों के विरोधी
 होने पर भी कबोर को दोनों का सम्मान मिला। उनके सज्जधर्मों की महत्त्वपूर्ण
 स्थान मिला।

...

पंचम अध्याय

कबीर की वाणियाँ में दार्शनिक चेतना

- १- ब्रह्म का स्वरूप
- २- ज्ञान का स्वरूप
- ३- कैवल्यत्व
- ४- उपाधिवाद
- ५- माया का स्वरूप
- ६- कबू कबीर चेतन का सम्बन्ध
- ७- देव ही आत्मा है
- ८- कबीर का दृष्टिकोण

पंचम अध्याय

संत कबीरदास आत्मा में ही विषयी और विषय भावों की जोड़बूझ मानते हैं। इस आत्मा में आत्म क्यस्त है। अतः आत्मा का आत्मा से ही ज्ञान होता है, परन्तु आत्म जगत् स्वप्न द्रव्य के समान व्यावहारिक सत्य है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा का वीज कारण है और आत्मा ही उसी मोक्ष का स्वप्न है। अतः ज्ञाता और ज्ञेय विषय और विषयी में भेद संत कबीरदास ने स्वीकार किया है। जीव जीपादि सत्त्व में व्यवहार करने का अभ्यस्त हो गया है। अतः आत्मा आत्म व्यवहारों में पड़कर भुगो और दुःखी होता है। संत कबीरदास के अनुसार केवल आत्मा ही सत्-स्वप्न कहा जास्तित्व वाला है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्व नहीं है। संसार एवं जीवत्व पर विचार करने पर वै गहन के रूप में रह जाते हैं। आत्म ज्ञान होने पर संपूर्ण भेद व्यवहार नाष्ट होते हैं एवं केवल आत्मा अवशिष्ट रह जाता है, जिसकी आत्म ज्ञान ही जाता है, उसे फिर निष्ठ और द्वार भेद नाष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आत्मा स्वयं सिद्ध है और इसी अनुभूति हो जाने पर उसे ज्ञान की अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। संत कबीरदास को इस विचार फलति की तुलना हम श्रीवाराणसीपनिषद् से कर सकते हैं। श्रीवाराणसीपनिषद् के अनुसार आत्मा की दूरी और निष्ठता का दि व्यवहारों से क्रीति कहा गया है।

संत कबीरदास के अनुसार आत्मा जीवत्व में उपाधिवश अविद्यात्मक प्रपञ्च में उत्पन्न जाता है और आत्मा ही संपूर्ण ज्ञान धाराओं का प्राप्ति, प्राप्ति और प्राप्ति है। अतः कही पाएगा कि

आत्मा ब्रह्मरूप में सर्वव्यापक है, जिस प्रकार नीचे पात्रों में एक ही जल कच्चा घट और पठ के भेद से वाक्यांश में भेद होता है, उसी प्रकार एकाग्रिणी भेद भी व्यावहारिक है। शरीर और आकार भेद बुद्धिजन्य है, परन्तु आत्मा में ये भेद नहीं होते। अतः आत्मा के अतिरिक्त समस्त जगत् या तो आत्म स्वभाव है, अथवा उसी पुरुष जगत् की सत्ता नहीं है। यहो अद्वितीय आत्मा एक और जगत् के उपादान और निमित्त कारणों में व्यक्त है और दूसरी ओर मा प्राणी का अविषय होकर ब्रह्म की पूर्णता में प्रसिद्धि है। आत्मा अनादि और अनन्त परम से रहित है, वह देशकाल से अतीत और विजातीय पदार्थों स्व कार्यो द्वारा नहीं जाना जा सकता। प्रकृति अथवा माया के संसर्ग से आत्मा विकारी होता है परन्तु यह विकार व्यावहारिक कथन मात्र है। सैत नन्दारदास के अनुसार आत्मा समस्त कार्य जगत् में स्थित है एवं संपूर्ण कार्य-जगत् का अद्विष्टान आत्मा ही है। आत्मा को अनेक नाम र्णों में विभक्त हो गया है तो भी वह पुरुषत्व आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को नहीं करता। शरीर ही आत्म वृद्ध एवं सुखावस्थाओं का आश्रय होता है। किन्तु आत्मा उन अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता यद्यपि विरुणात्मक प्रकृति आत्मा शरीर का आवरण हास देती है, किन्तु प्राकृतिक गुणों से मुक्त होकर जीव प्रत्यक्ष ही जाता है, मुक्त होकर जीव ब्रह्म रूप होकर प्रफे का द्रष्टा होता है, किन्तु प्रफे ब्रह्म को नहीं देख सकता।

इस विषय को हम गीता से तुलना कर सकते हैं। गीता में कहा गया है कि समस्त प्राणी जगत् आत्मा में स्थित हैं। आत्मा प्राणी जगत् पर आश्रित नहीं है। आत्मा का व्यवहार होता प्रत्यक्ष है कि वह बाहर भीतर, निम्न और ऊपर सर्वत्र एक समान रूप में व्याप्त है एवं वह चेतन तत्त्वों का आश्रय है। अतः इस प्रकृति का हीजन्य और कारण होता है। आत्मा एक प्रकार का माया विकारों से विकारी नहीं होता। वृत्ता-

बल्ला रोग और जीव केकाल से सम्बन्धित प्रसूतवर्तन आत्मा की स्पर्श नहीं करती । कर्मा और संस्कारों के लोभित होने के कारण जीव आत्मा में विष-
का प्रतीति होता है जिस प्रकार घटाकार और पठाकार आकाशों में भेद प्रतीति
होता है परन्तु घट और पठ के भेद ही जाने पर आकाश में कोई आकार नहीं
होता ठीक उसी प्रकार पात्रों के रखने पर एक जल जीव स्पर्श में ग्रहण किया
जाता है, परन्तु पात्र भेद के नष्ट होने पर जल समस्त आकाशों में मुक्त होकर
एक रूप होता है। सेंट कबोद्दास के अनुसार पारमार्थिक आत्मा न जन्म लेता
है और न मरकर स्वर्ग या नरक में ही जाता है । फल तत्त्वों की उत्पत्ति
विविधा से होती है और इन तत्त्वों का बहिष्पान एक ही आत्मा होता है,
आत्मा फलतः ही लोभ में विविधा के कारण का जाता है। किन्तु आत्मा
एक प्रकृति से मुक्त होकर प्रकृति का ही रूप ही जाता है , जिस प्रकार घड़े के
नीतिर और बाहर पाने ही जाता है और घड़े के टूट जाने पर घड़े का जल
जल में मिल जाने पर एक रूप ही जाता है। उसी प्रकार प्रकृति कृत उपाधि में
मुक्त होकर जीव इस जन्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। सेंट कबोद्दास का कथन
है कि जिस प्रकार बाघ, मछली और जन्तु में आकाश समान रूप से व्याप्त है,
उसी प्रकार सर्वत्र आत्मा की विविधा है। उपाधिद्वारा ही विविधावन जीव में
कृतत्व ही कर्म का संलग्न होता है किन्तु वास्तवः आत्मा कर्म इत्यादि विधायी
से मुक्त है।

इस प्रयोग की तुलना हम शान्दीय्योपनिषद् से कर सकते हैं। शान्दीय्योपनिषद् में आकाश बहिः जन्तुः सर्वं जन्तुर्बाह्य
स्पर्श में विविधापो कृत गया है। जल में आत्मा की विविधाविता नहीं
गई है फिर भी वह विविधाजन्म विधायी का बहिष्पान है। जीव के कर्म
और संस्कार दोषों के प्रभावित नहीं होता आत्मा ही सर्वत्र मुक्त समान
है । अतः वास्तविक जन्म उसकी नहीं होते । इसी जीव स्पर्श और आकाशों

में व्यक्त होकर भी वह एक रूप रहता है, उसी परमार्थ स्वरूप में स्वयं और नरूप भेद तथा 'तारण तरण' भेद भी नहीं है। इस प्रकार कबोर के काया में भी सर्वात्मिक भाव वर्तमान है।

सन्त कबीरदास के अनुसार जीव के संसार-बन्धन से तारक न तो राम है और न तरेवाला जीव। परमार्थतः राम का तारक और जीव का तारक भेद नहीं है। वस्तुतः कंकुष्ट और मोक्ष भी नहीं हैं। आत्मा तो स्वयं मुक्त स्वरूप ही है, किन्तु अविविध आत्मा की संसारी होना पड़ता है विविध से मुक्त होने पर जीविक ब्रह्म स्वरूप होता है अतः कंकुष्ट की व्यवस्था निर्मल है जब तक आत्म ज्ञान नहीं होता, तारक और तारक भाव भेद रूप में वर्तमान रहते हैं। आत्म ज्ञान ही जाने पर आत्मा और परमात्मा एक रूप होते हैं, व्यवहार में 'यह मैं' यह तू, यह तेरा, तू तू व्यवहार होते हैं, किन्तु वस्तुतः यह भेद व्यवहार वस्तु है। आत्म ज्ञान होने पर इन व्यवहारों का निरीभाव हो जाता है, गीता में आत्मा की मृत और वज्रम्पा कहा गया है, परन्तु सन्तों ने उसका परिणाम कहीं नहीं माना है। यद्यपि यह आवागमन से रहित है तो मैं भी एक चिट्ठे के पिछले के बीच पात्र के रूपों में, लो पुरुषण रूपों में, एक वृण के बीच फलों के रूप में और किन्तु मुक्तमान जैसे विषम जाति भेदों के रूपों में भी जाता इन सब रूप में यहाँ आत्मा व्यक्त हुआ है। विविध जीव रूप और ब्रह्म रूप में यही सत्य-तम आत्मा वैसी हुना और अनुभूति दिया जाता है। आत्म और अनुभव द्वारा उसी सत्य की व्याख्या की जाती है। आत्मा ही सत्य फलार्थ का ज्ञाता और अनुभवार्थ है। 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान खोजी को होता है, 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता, अतः सत्य जगत् आत्मा के अस्तित्व में प्राप्त है। पुरुष विचार के सत्य आत्मा के स्वरूप से छुट्टि रत्ना ब्रह्मणों में

कही गया है। इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरा सत्य नहीं है, ज्ञान, ज्ये और ज्ञान में स्वतन्त्र का प्रतिपादन हम गौराङ्गाध और सन्त कबीर के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की पारमार्थिकता के साथ कर रहे हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में इसीलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' और यज्ञ हूँ, कहा गया है। सन्त कबीरदास के काव्य में ये प्रसंग उपनिषद् सम्मत हैं और भेद के फल से सर्वथा पोषित हैं।

सन्त कबीरदास के अनुसार आत्मा न जन्म लेता है और न मरता ही है। सौम्य नामरूपात्मक कार्य जगत् में आत्मा का स्वप्न ही विकसित होता है। आत्मा सर्व कार्य जगत् रूप है। और कार्यरूप जगत् का आत्मा ही अधिष्ठान है। आत्मा अतिरिक्त सत्य है उसे अतिरिक्त और दूसरा सत्य नहीं है। तीन लोकों की रचना आत्मा की लब्धता में पाया के द्वारा हुई है। आत्मामय आत्मा की लीलामय है, परमार्थः आत्म-मय नो नहीं होता। आत्मा ही जोत रूप में व्यक्त होकर जाता है और आत्म ही ब्रह्म स्वप्न में प्रतिष्ठित हो जाता है। आत्मा का सर्व फल की तुलना हम वैशाखर उपनिषद् के अंश से कर सकते हैं। 'सर्वं कथं गता है कि ब्रह्म स्वप्न आत्मा ही खो, उद्वेग, पुनर वा दृष्टा ही है। ब्रह्म स्वप्न आत्मा ही ब्रह्म होकर दृष्टि के लिये जाता है। यह आत्मा ही प्रकृतियों के अतिरिक्त रूप होता है, आत्मा की विवर्तता, ब्रह्मका सर्व सर्व फल के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यह सत्य सत्य ब्रह्म ही है।'

शान्दीय्योपनिषद् में कहा गया है कि 'यह सब आत्मा ही है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ही कहा गया है कि आत्मा ही सत्य आत्मा का अन्तर्गामी द्रष्टा है, वही पर और भी कहा गया है कि अस्त मेव नष्ट होकर आत्म स्वप्न ही हो जाता है। सन्त कबीरदास के आत्म सम्बन्धी विचारों में हम उन सभी कर्मों की पुष्टि होते देखते हैं।

जीव का स्वरूप

सन्तों के अनुसार जीवात्मा पारमार्थिक सत्य है और जीवन मरण से मुक्त है, जो मर वाणी का विनाश नहीं है, उसमें विचार और परिवर्तन प्रशस्त नहीं होते ये सत्य लक्षण व्यावहारिक जीव में पटित नहीं होते ।

(१) जीव अपने कर्णों में स्वतन्त्र है, किन्तु उसका फल भोगने के लिए भोगात्मक शरीर की आवश्यकता है । सत्य सुखों और दुःखों को भोगने का ही हृदय का अनुभव करने के लिए इन्द्रियों में और हृदय की आवश्यकता है। हृदय की भाषा में कर्म करने और उनके फलों को भोगने के लिए प्राणी जन्म लेता है।

(२) उपाधिकृत प्रभाव के जीव अपने स्वयं को विभूत और सम्भूत कर लेता है।

(३) जीव का अभ्यास स्वाभाविक और अन्यायिक है, शरीर इन्द्रियों में और आत्म बुद्धि का उत्पन्न होता और आत्म प्रदर्शनी "अस्मद् युष्मद्" नेद ऐहिक विषयता उत्पन्न होना जीव को प्रत्यक्ष के चित्त करता है । इसे पारमार्थिक आत्मा व्यवहार हो जाता है।

(४) उपर्युक्त सत्यत मन्तव्यों का कारण अविद्या है। जिस प्रकार ज्ञान में मोक्ष का नाम न होने पर भी अविद्या-ज्ञान तथा ज्ञानी को देखने पर मोक्ष का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अविद्या में प्राकृतता होने के कारण ब्रह्म-स्वरूप जीव अपने स्वयं को भी भूल जाता है और अविद्यात्मक व्यवहार को ही सत्य मान बैठता है। इस प्रकार -

(१) जीव जपे कथन को स्वयं उत्पन्न करता है।

(२) उसका जीवात्मिक कथन व्यावहारिक ज्ञान व्यावहारिक है।

(३) इस ज्ञान के बोध होने पर वह पुनः प्रत्यक्ष रूप में स्थित होता है।

(४) इस ज्ञान के उत्पन्न होने के पूर्व तक जीव व्यावहारिक है, जो कि जीव के व्यवहार जीव के लिए व्यवहार काल तक कर्णार्थ है।

व्यावहारिकता में व्यवस्त जीव सुख-दुःख दोनों को भोगता है। परन्तु सुखे सुख होने पर -

(१) जीव प्रकृत होता है।

(२) वात्मा वस्तुतः व्यवहार बोध से संश्लेषित नहीं होता। किन्तु जीव द्विष्टात्मक नृत्ति में व्यवहार में निवास करता है। किन्तु वात्मा वस्तुतः किसी प्रकार विचार सुख नहीं होता, शरीर और इन्द्रियों के ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान को नहीं है।

(३) वात्मा ही शरीर और इन्द्रियों का अधिष्ठान है, जो कि उसकी सान्निध्य, उपद्रष्टा, वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता है। यद्यपि वात्मा में सुखों पाया जाता है किन्तु वात्मा में तल मलिनता के समान अधिष्ठात्मक है जो कि सफ़्त फलार्थ का वह प्रत्या-वात्मा होने के कारण जगत् कारण और कार्य में प्रवृत्त है।

(8) इस प्रकार जीव की जासदित 'जह' प्रत्यय के साथ पदार्थों में होती है। पदार्थों को 'जह' बुद्धि से ही जीव ग्रहण करता है। उसका यह 'जह' प्रत्यगात्मा जीवात्मक विषयों में वि-
कीर्ण होता है। परन्तु परमार्थानुल होने पर आत्मक सत्य स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप है। तृतीय होने के कारण विधात्मक भाव और जागतिक क्लेश उसकी स्पर्श नहीं कर सके। तब वह अक्षणीय होता है और मन वाणों का विषय नहीं होता।

जीव के व्यावहारिक स्वरूप का उल्लेख सभी सन्तों ने नहीं किया है। सन्त काव्य में भाव और साधना की प्रधानता है वे परमार्थ की ही विशेषतः सत्य करते हैं - संत कबीरदास, संत दादू दयाल, संत तुलसीदास, संत मल्लदास और सन्त अज्जीवन दास के सिद्धान्तों में जीव की व्यावहारिकता के स्वरूप का विशेष विवरण मिलता है। सन्तों के मन में जीव की व्यावहारिकता का भाव एक प्रकार वर्तमान है।

(1) नसिनी के दुर्ग के समान सब फट के समान किसी अपूर्ण स्थिति में अथवा बन्धन में जीव ने स्वयं को डाल दिया है।

(2) जीव को पूर्ण सैतावनी को आश्रयता है क्योंकि वह अज्ञ व्यावहारिक रूप में पड़ा हुआ है।

(3) लोक जगत् समाज की दृष्टि में मनुष्य मनुष्य जीवन की वास्तविकता कहे प्रान्त दिशाओं में नटक रहा है, उपरुक्त और आत्म कल्याण का एक लोक व्यवहार के ऊपर उठकर उसकी दृष्टि पर-
मार्थ पर नहीं जाती।

(४) ब्राह्मण जगत् और कियुक्त व्यवहार में

निष्ठा होने के कारण पुरुष अपने आध्यात्मिक सत्य को भूल गया है चाणिक जगत् को वह चिरन्तन मान बैठा है। शरीर की ही वह अन्तिम सत्य समझ रहा है। भौतिक द्रव्य और पदार्थों के द्वारा इन्द्रियों का पीछण कर रहा है। जो सन्बन्धी विचारों में सन्तों के काव्य में उस प्रकार की मौलिकता नहीं है।

१- सन्तों ने लोक- व्यवहार के आदृत जीव का जितना अधिक चित्रण संकित किया है, आचार्य शंकर ने उल्टा कहीं नहीं किया। आचार्य शंकर के ग्रन्थों में व्यावहारिक जीविक के रूप का वर्णन विद्वानों के प्रतिपादन के प्रतीक में ही लाया है। सन्त लोक धृष्ट हैं, जबकि शंकर परमात्मा की रक्षा में लोकसत्ता को अस्वीकार करते हैं, सन्तों ने लोक और जीव का कार्य व्यावहारिक चित्रण किया है।

२- सन्तों ने परमात्मा की सूर माद, तब स्वामी भाव बना पिला- पुत्र भाव के आराधना की है। उपाधना के इस वेग के साथ ही जीव में (अर्द्ध ब्रह्मस्मि) की अर्द्ध ज्ञानरूप कृतिक भी सन्त काव्य में प्रतिबिम्बित हुई है। सप्रकार साधक जीव और साध्य द्रव्य के बीच भक्ति के लिए उपयोगी लीला सन्तों ने प्रस्तुत किया है। ज्ञान और योग साधनाओं के साथ ही जीव को प्रेम साधना का महत्व भी सन्तों ने स्वीकार किया है।

३- साधना या भक्ति के बिना जीव को स्थिति विन्य है।

४- जीव पाया के जान्यवित है, और साधना के रसत होता है।

१- पिण्ड ब्रह्माण्ड सिद्धान्त योगशास्त्र-

साम्यत मल है। जानाये रंकिर ने इस प्रकार को योजना कर्तुतः व्यवहार में रंकिर नदी को परन्तु सन्तों ने इसकी विशेष निष्ठापूर्वक खनिति दी है। गीता में कर्म की श्रिगुण का कार्य कहा गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में प्रकृति को माया कहा गया है।

क्तः कर्म का माया कार्य होना संगत है, कर्म की अंत सिद्धान्त के अनुसार बन्धन का कारण कहा गया है। कर्म अपी फल रूप में अव्यापी है। मनुष्य फल के लोभ से कर्म करता है, क्रिया या विकार प्रकृति का स्वभाव है। इसे सिद्ध है कि जीव कर्म विलग होकर जन्म ग्रहण करता है। सन्त कबीर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। जिस प्रकार आकाश पर दृष्टि डालने पर वह सर्वत्र नोलिमाहृत दिखाई देता है परन्तु वस्तुतः आकाश में नोलिमा वर्तमान नहीं है। उसी प्रकार जीवत्मा पर जब जब दृष्टि पड़ती है, जीव विकारों प्रतीति होता है, परन्तु वास्तवः जीव विकारों नहीं है, जिस प्रकार आकाश को जीव से दृष्टि फिरा देने पर नोलिमा का आभास नहीं होता, जबकि आकाश सर्वत्र व्याप्त है। ठीक इसी दृष्टान्त के समान जीव में ब्रह्म भाव का ज्ञान होने और उसे प्रतिरिक्त अन्यथा दृष्टि का विरोध कर देने पर जीव का सर्वव्यापी ब्रह्म भाव प्रकाशित होता है।

१- माया तु प्रकृति विज्ञान । श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।१०

२- कर्मणा बन्धो जन्तुर्विधया न विमुच्यते ।

तरमारकर्म न बृवंति यतयः पारदर्शिनः । (श्वेताश्वतर उपनिषद्)

तथोह कर्मजितौ लोकः क्षीयत स्वमेवा तुम पुण्यजितौ लोकः शीघ्रमे ॥

(कान्दोग्य उपनिषद् ८।१।६)

३- कर्म कोटि को ग्रह रत्न्या रे, नैव गये को दास रे ।

आपहि जाय ब्रंथाव्या रे लोचन परहि फियास रे ॥

- कबीर ग्रन्थावली

प्रश्न उठता है कि ब्रह्म तो सर्वज्ञ है । अतः वह जानबूझ कर तपों की कर्म क्या बताया है क्यों केसाता है ? दूसरी बात यह है कि जब ब्रह्म वसिताय है और वही जीव है तब वह किस अवस्था में तपों की केसाता है । इन प्रश्नों के उत्तर का प्रकार ये ही ऊपर है ।

(१) जीव पारमार्थिक सत्य है अतः वह जन्म में नहीं पड़ता । अतः उसके लिए सुमित का भी प्रश्न नहीं उठता ।

(२) ज्ञाना जगत् में क्या विद्या के स्वरूप की ग्रहण करनेके लिए ब्रह्म की वाणी विकार द्वारा एक बुद्ध और स्वतः स्वरूप में लक्षित करते हैं । अतः शुद्धता , बुद्धता और स्वतःता भी उसमें जारी पित नहीं किये जा सकते क्योंकि उपनिषद् में कहा गया है कि (तदा ते ऽस्य लक्षित वाणी वाप्य लीट जातो है । अतः विद्या के द्वारा ग्रहण के लिए ब्रह्म में उक्त स्वरूपों का आरोप होता है ।)

(३) ब्रह्म के वसितहारा सत्, चित् और आनन्दमय सत्य नहीं है, दृष्टि में इन तीनों लक्षणों का प्रकटन होता है, जीव में इनका उल्लेख है । अतः ब्रह्म ही व्यवहार में परिणत हो गया है ।

(४) जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल को अन्तः लहरों पर अन्तः रूप होता है, उसी प्रकार ब्रह्म व्यवहार की विविधता में वात्मा विविध होती प्रतीत होती है, यद्यपि एक चन्द्रमा के समान ब्रह्म भी बहुरूप नहीं होता ।

(५) उपर्युक्त प्रांग में ही जिस प्रकार वस्तुतः चन्द्रमा एक ही होता है तो भी बीच चन्द्र जल में प्रतिबिम्बित प्रतीत होते

हैं किन्तु प्रतिबिम्ब आभास मात्र हैं और तृतीय ब्रह्म ही परा सत्य है।

६- जिस प्रकार बन्कार में फँसे हुए रस्सों को देखकर मनुष्य एवं नर के सम्बोधित हो जाता है और यहाँ तक कि उसकी प्रतिक्रिया में रोद, कम्प, खरबंग आदि विकार होने हैं और जिना काणा पीडा देखे गिर कर हाथ पेर तोड़ लेता है, उसी प्रकार जीव ज्ञानवश बन्दी को अत्यन्त दृढ़ समझकर अनित्य व्यवहार में संलग्न होता है। परन्तु रस्सों में रस्सी का ज्ञान हो जाने पर तर्प ज्ञान का बोध होता है। उसी प्रकार जीव में ब्रह्मत्व का ज्ञान होने पर जीव की अविद्याजन्य व्यावहारिकता नष्ट हो जाती है और साधनों द्वारा जीव ब्रह्मत्व में अवस्थित होता है।

७- ब्रह्म की जगत् का निमित्त और उपादान कारण कहा गया है। उसे कार्य और कारण का भेद कहा गया है। उसे कार्य और कारण का भेद कहा गया है। अतः कार्य रूप में व्यवस्थित हो जाने पर भी ब्रह्म को स्वता में अन्तर नहीं जाता जीव के जरीर प्राप्त हो जाने पर जीव और ब्रह्मत्व में परमार्थतः भेद नहीं होता। पहले एक जड़ हो या, पहले एक बात्मा हो या, इस प्रकार तत्त्व को स्वता उपनिषद्गी में कहा गया है। उसी में उद्घाटन किया, उसी कलुष होने को कात्मा की। अतः प्रकार उपनिषद्गी में एक ही जेतन्य स्वता का उद्घाटन नाम स्वर्ग में प्रीति कहा गया है। वे उद्घाटन और प्रवेश श्रुतियाँ एक अंत सत्ता से निकल पायात्मक जगत् के अस्तित्व में जाने की सूचना देती हैं।

१- फल तत्त्व वे जाया कीन्हीं, तत्त्वा कहाँ के कीन्हीं ।

कराय के वसि जीव कहत हैं, जाय करम किनि कीन्हीं ॥

(कबीर ग्रन्थावली)

मृगदृष्ट्याँ दिन दिन ऐसी, का मोहि कह न बुझाय ।

जोक ज्ञान करि टारिगि, करम पास नहि जाय ॥ (कबीर ग्रन्थावली)

अब हम जीव के व्यावहारिक स्वरूप का विचार करते हैं। उस बुद्धि, चित्त और कर्त्तार से युक्त जीव को जीव कहते हैं। वस्तुतः मनुष्य की सुषुप्त वृत्तियों के रूप में ये वर्तमान रहते हैं। उनके द्वारा जीव इन्द्रियोन्मुख हो जाता है। विषय और इन्द्रियों के व्यवहारों का संवादन होता है। इन्द्रियों विषयोन्मुख है और इन्द्रियाँ ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान में सहायक नहीं हैं। जीव कस्तुर्जगत की दिव्यता का अनुभव नहीं करता और वह वायुय नीतिविकारों के प्रति आकर्षित हो जाता है। उसे वह अपने स्वरूप से हटकर कात्म में आत्म बुद्धि का अभ्यास कर लेता है। जड़ को जेतन समझने लगता है उसके समस्त व्यापकता उत्पन्न हो जाती है। केवल लोक कक्षा लोक आः परलोक जीवन और मरण कार्य और कारण में और वृ जैसे लोक सृष्टि में विकीर्ण भाव और अभाव उसके समस्त होते हैं। केवलिक विविधा की ही वह सरलत्व मान लेता है। दुर्गा संपातनी में विविधा - अवित्त ज्ञानियों की भी की हित करने वाली कही गई है।

उपाधि वस्तुतः अविविदात्मक है स्व ही स्वर्ण सृष्ट से की कर्त्तारों में मनुष्य की उदात्तार कर्त्तार बुद्धि रहता है। स्वर्ण बुद्धि गीण ही जाती है, कर्त्तार स्वभावतः स्वर्ण के अधिक प्रिय है, क्योंकि मनुष्य की उसमें व्यवहार बुद्धि क्यारी पि है। इसी प्रकार औपाधिक फायों में भी व्यवहार बुद्धि का अधिक लगाव होता है। अतः उपाधि के आधारित प्रत्यागात्मा का अनुभव उसकी नहीं होता। वैराग्य सन्दर्भ में कनक और कामिनी दोनों की निन्दा सन्तों ने की है। मनुष्य अपने कर्त्तारिक सामर्थ्य की जहाँ विचार देता है और भाषा आयी हुए से उत्पन्न होने का प्रत्यक्ष

१- ता निनामपि तैर्तासि देवो भगवती हिता ।

क्लादतृष्टा मोहाय महामाया पञ्चकृति ॥

- दुर्गासप्तशती प्रथम अध्याय

करता है। सन्तों ने जीव को इस शक्त का पहचानकर साधना द्वारा उसके संचित करने का उपदेश दिया है। अतः उपाधि राम के प्रत्यक्ष में सन्तों ने साधना का अक्रिय योग, नस्ति और ज्ञान की प्रसिद्धियाँ भी सन्निहित किया है। जीव ही ब्रह्म है और स्वयं ही कर्म करता है, और सभी लिए अन्त प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त में मोक्ष के पक्ष में एक और विशेषता है।

यह यह है कि यदि जीव कर्म करता है तो उसकी वह त्याग भी करता है, क्योंकि परमार्थतः कर्म न तो जीव का स्वल्प है और न उसका स्वभाव।

त्रिगुणात्मक प्रकृति ही कर्मों के लिए उत्तरदायी है, जीवत्व में सम्भावनाः गुण और कर्म प्रसृत नहीं होते। प्रकृति के ही बन्धन और मोक्ष होते हैं। यही एक कृपात्मक व्यवहार में व्यक्त होती है जो पदार्थ जैसा नहीं है उसी उस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, इस सम्बन्ध में सन्त सजग हैं, नित्या-नित्य विषय प्रकरण और अतः अनित्य के विरहित और नित्य के प्रति उत्सुक होना अव्याप्त ब्रह्म के प्रशस्त साधन है, एतद् में सर्व को बुद्धि होना, स्थान में मृष्य का अन्वेष होना आकाश में मोलिका की प्रतीति होना अन्वेष के ही लक्षण है। जो काम मृष्य के अक्रिय की बात है वही कर्म उसे त्याग का भी विषय हो सकता है। इस प्रकार व्यावहारिक जीव स्वयं के लिए व्यावहारिक बन्धन प्रस्तुत करता है। जीवत्व में बन्धन और बुद्धि की कल्पना भी व्यवहार सम्बन्धी है। उपाधि भी जीव की व्यवहार सम्बन्धी कल्पना है। अतः नस्ति के लुप्ते, और अन्तर के समान जीव ज्ञान की ध्वनि में डालता है, यह जोत आत्मा के स्वल्प के विषय में नहीं जाती सन्तों की भाषा में भी यह मतवाद सिद्धान्त संगत और अंत सिद्धान्त सम्मत है।

सन्त कबीरदास के मतानुसार जीव कर्म के बंधुत है क्योंकि कर्म के अनुसार ही जीव फल भोगता है। जैसे आकाश तत्त्व

सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार वैतन्य ब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त है। शरीर में जीव उसी प्रकार व्याप्त है। जिस प्रकार घट में वाकाश, घट का नाश होने पर वाकाश का नाश नहीं होता। वही प्रकार जीवाधिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी ब्रह्म स्वरूप जीव वाकाश के समान नित्य रहता है। शरीर घट के भीतर जीव ब्रह्म वाकाश के समान ब्रह्म के स्वरूप में हुवा हुवा है, ब्रह्म ब्रह्मः शरीर में उसी प्रकार वर्तमान है, जिस प्रकार घट में वाकाश किन्तु घट के नष्ट हो जाने पर वही घट के अन्दर का वाकाश वाकाश रूप ही जाता है, उसी प्रकार जीवाधिक शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव ब्रह्म का स्वरूप ही ही जाता है।

सन्त कबीरदास के अनुसार 'व्यावहारिक

बन्धनों में बंधा हुआ जीव जगत् के व्यवहार करता है, कर्म व्यवहार का ही रूप है। किन्तु वात्मावस्तुतः कर्म से रहित है और पारमार्थिक सत्य है। अतः उसके स्वरूप में कर्म की व्यावहारिक सत्ता का संसर्ग नहीं होता। वस्तुतः वात्मा कर्म नहीं करता। सन्त कबीरदास के मत में जीव ने अपने बन्धन के कारण स्वतः उत्पन्न किये हैं जिस प्रकार काच के मन्दिर में कृत्ता अपने प्रतिबिम्ब की देखकर और प्रतिबिम्ब की द्वारा कृत्ता समझकर भँक कर मर जाता है, उसी प्रकार जीव जगत् में वात्मस्वरूप की विस्मृत करके दैत बन्ध व्यवहारों में पड़कर अपने किए दुःख की सृष्टि कर लेता है जिस प्रकार धिक् दूर में अपनी प्रतिबिम्बा की देखकर क्रोध जाता है, उसी प्रकार जीवन अपने लिए जगत् भ्रम की व्यवस्था कर लेता है जिस प्रकार स्फटिक शिला में अपने प्रतिबिम्ब की देख हाथी उस पर प्रहार करता और पीड़ित होता है उसी प्रकार जीव भी दैत भ्रम में प्रसिद्ध होकर बार बार जन्म लेता है और मरता है। हाथ भीज पाने की सात्त्वा से बन्दर अपने दोनों हाथ बन्दर फाड़ने के लिए बनाये हुए गड्ढे में डाल देता है,

वीर मुट्टियाँ में फँड़े रहने के कारण वह उससे छूट नहीं पाता । उस प्रकार वह जपे की फँड़ा सम्भल लेता है। उसी प्रकार प्राणी जपे की भ्रम के बन्धन में डाले हुए है । जैसे तीता फँड़ने वाला तीते के तिर एक नलकी लगा देता है वीर तीता उस नलकी पर बैठ जाता है । नलकी के घूम जाने पर तीता नलकी को गिर जाने के भय से घृहता से फँड़े रहता है, उसी प्रकार प्राणी माया के भ्रम के कारण जपे की बन्धन में फँड़ा हुआ सम्भल रहा है। वस्तुतः प्राणी बन्धन मुक्त है। जिस प्रकार ब्रह्म मुक्त स्वरूप है। उसी प्रकार जीव के व्यावहारिक बन्धन पारमार्थिक नहीं है। जैसे-

बाजु पी बाजु ही बिसरी ।

जैसे सुनहा काँच भँदित भँद, परस्ती भुवि परी ।

कहहिं कबीर तलनी के सुगना , तोहि कबने करी ॥ १

कबीर के अनुसार संसार माया के भ्रम से पूर्ण है। वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप जीव सत्य है, अलम्बित ब्रह्म स्वयं ही माया के भ्रम से प्रमित होकर हँपाण करके एक से अनेक रूप हो गया है :

सँतों ऐसी भुल जन माहीं (जाते) जिन भिय्या में नाहीं ।

०

०

मनहिं मैं मुक्त दृष्टा कीन्हो, दृष्टा ते बधियानी ॥ २

संस्त काव्य में आत्मा अथवा जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि संस्त आत्मा की वाच्यार्थ शक्ति के समान पारमार्थिक सत्य मानते हैं । शक्ति के समान ही संस्त भी जीव के बन्धन बधियाजन्म

१- कबीर कीर्तन शब्द ७

२- ..

व्यावहारिक और वात्सल्य मानते हैं। वाचार्थ और के समान ही सन्त भी वात्सल्य ज्ञान के द्वारा जीवत्व की ब्रह्म में प्रतिष्ठा मानते हैं। वाचार्थ और के समान ही सन्त भी वात्सल्य ज्ञान के द्वारा जीवत्व की ब्रह्म में प्रतिष्ठा मानते हैं। वाचार्थ और के समान ही सन्त भी विचारों, मानसिक व्यवहारों एवं कर्म की जीव के बन्धन का मिथ्या कारण मानते हैं। वाचार्थ और के समान ही सन्त भी वात्सल्य के पारमार्थिक स्वरूप की कर्तृत्व भावितृत्व से मुक्त मानते हैं। वाचार्थ और के समान ही सन्त जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। वाचार्थ और के समान ही सन्त वात्सल्य की नित्य और मुक्त मानते हैं। बन्धन बन्धनों के उच्छेदन का साधन जिस प्रकार और ने वात्सल्य ज्ञान की माना है। उसी प्रकार सन्तों ने भी वात्सल्य ज्ञान, साधन की प्रधान पीला साधन माना है। इस भाँति हम उपर्युक्त विचारों में वाचार्थ और और सन्तों के विचारों में साम्य पाते हैं। सन्तों ने वात्सल्य की जिस रूप में ग्रहण किया है। वह रूप गीता और उपनिषदों के भी अनुसृत है। वात्सल्य के विशेषणों का प्रयोग भी सन्तों ने गीता और उपनिषदों के अनुसार ही किया है।

सन्तों ने वात्सल्य की वाचार्थ और के समान विकारी माना है। यद्यपि समस्त धर्म विचार और कार्य वात्सल्य में ही अधि-
ष्ठित है। तो भी वात्सल्य के पारमार्थिक रूप में सन्त कदा विकार नहीं आता। इस सम्बन्ध में सन्तों ने विवेक भावना का आश्रय लिया है। इस प्रकार की विचार पद्धति भी ठीक और सिद्धान्त के अनुसृत है। सन्तों ने जीव के बन्धन के सम्बन्ध में बन्धन, शोक, हाथी, सिंह एवं स्वप्न देखते हुए राजा के दृष्टान्त दिए हैं। त्रिंश दृष्टान्त और के ग्रन्थों में नहीं मिलते, तो भी जीव की बन्धन कारण सत्ता के सिद्धान्त के क्षेत्र में वाचार्थ और सन्तों का मतभेद नहीं है। क्योंकि दोनों के अनुसार जीव ही स्वतः अपनी सिर बन्धन प्रस्तुत करता है। जीव की

अपनी कर्मा का फल भीगना पड़ता है और नीच को फल भीन के लिए तरीर धारण करना पड़ता है। वस्तु और और अन्तर्गत के मर्तों में सब विचार्य में भी भेद नहीं है।

अन्तर्गत में आत्मा की सर्वस्वता , अन्तर्गत-भावना एवं सर्वसंविद्यमत्ता कही है। ये भावनाएँ भी तकिर विद्वान्त के प्रतिकूल नहीं है। अन्तर्गत में आत्मा की अतन्त्र स्वरूपता, अद्वैतरूपता एवं अकर्मिकता का वर्णन भी और विद्वान्त के अनुकूल किया है। अतः उपर्युक्त मुख्य बातों के आशय में हम अन्तर्गत और और के मर्तों में समानरूपता पाते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप

ये स्वरूप है अतु, अितु और आनन्द । ब्रह्म के ये स्वरूप उही प्रकार नित्य हैं, अितु प्रकार पूर्व और पूर्व का प्रकाश, ब्रह्मब्रह्म माध्य से हमने सब सम्बन्ध में सब दृष्टान्त दिया है कि यदिपूर्व कभी प्रकाश देता और कभी न देता तो हम उही प्रकाश को अनित्य कहते किन्तु पूर्व स्वयं और नित्य प्रकाश्य है। उही प्रकार ब्रह्म में अतु, अितु और आनन्द स्वरूप नित्य प्रतिष्ठित है। वस्तुतः आचार्य और ने ब्रह्म को निराकार माना है। निर्गुण ब्रह्म से ही दृष्टि आदि की सम्भावना तकिर वर्तन में निश्चित की गई है। विवेक ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि परब्रह्म अतु, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञानधर्म, निर्मल आदि अन्त रक्षित, अक्रिय और अवेद्य आनन्द सब स्वरूप है। ब्रह्म अमस्त माकि भेदों से रक्षित है। नित्य शुद्ध, स्वरूप, अक्षररक्षित और प्रमाणायि का

१- अतः परं ब्रह्म अद्वितीयं अितु विज्ञानधर्म निरञ्जनम् ।

प्रज्ञान्त माध्यन्त विहीनमक्रियं निरक्षरानन्दस्य स्वरूपम् ॥

विविध है। वह अरूप, अव्यक्त, अनाम, अदायस्वरूप और स्वयंप्रकाश है।^१ ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से मुख्य है अन्तः और निर्विकल्पक है। ब्रह्म स्वरूप अलक्ष्य चैतन्य मात्र है। वह त्याग एवं ग्रहण के योग्य नहीं है और मन बाणी द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह अपनी स्थिति की छिद्र के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता यह वादि अन्त से रहित पूर्ण और महान् ऐवस्वरूप है।

ब्रह्म की वाति कृत नीति और नीम से परे कहा गया है। वह नाम रूप गुण और दोष से रहित है। ब्रह्म वेत, काल और वस्तु रूपता से भी निम्न है। वह प्रकृति से परे है और बाणी द्वारा उसके स्वरूप का रूप नहीं हो सकता। ब्रह्म विकारी से रहित है। अतः वह ह्रस्व कहा गया है। ब्रह्म चैतन्य से ही संसार में चैतन्य की प्रतीति होती है, अतः ब्रह्म विबुध है, ब्रह्म अनादि है।^५ ब्रह्म जगत् के कल्पित रूप का भी आधार है

१- निरस्तमाया कृत सर्वमेव नित्यं पूर्णं निष्कलामग्रिमम् ।

ब्रह्मकव्यक्तमात्मन्यम व्ययं कथीतिः स्वयं किंचिदिवं क्वास्ति ॥

- विवेकब्रह्मसहित २४०

२- ज्ञातुं ज्ञेयज्ञानमुख्यमन्तं निर्विकल्पकम् ।

केवलं लक्ष्यं चिन्मात्रं परं तत्त्वं विबुधैः ॥ वि० पु० २४१

३- कथ्येकमुपादेयं मनीषाशाम गोचरम् ।

अग्रिमं माधन्तं ब्रह्मपूर्णं महम्महः ॥ वि० पु० २४२

४- वाति नीति कृत नीम दूरणीय रूप गुण दोष वर्धितम् ।

वेतकाल विषयाति वर्त्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ वि० पु० २४३

५- यत्परं लक्ष्यमात्रं गोचरं नीमं विमलं बोधं चक्षुः ,

ह्रस्वं विद् धम न नायि वस्तु यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

- वि० पु० २४४

ब्रह्म स्वयं अपने में ही वासित है। ब्रह्म सत् और वस्तु दोनों से भिन्न है। वह
निरवयव निरुक्क और दिव्य ऐश्वर्य से युक्त है। ब्रह्म में ये विकार नहीं हैं,
कम्प, घृदि, परिणति, अपसाय, व्याधि और नाश। वह वस्तु की घृष्टि
और उसका नाश करता है। ब्रह्म सत्ता में जो ब्रह्म का भेद और वस्तु ब्रह्म का
भेद नहीं है, ब्रह्म वस्तु रूप में मूढ से बड़ी बली के समान परिणाम नहीं है।
ब्रह्म की उस क्लराति के समान कहा गया है किमें तर्ही नहीं होती ब्रह्म नित्य
मुक्त है। वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता। ब्रह्म में व्यावहारिक विभागों का
भी पूर्णतः अभाव है। ब्रह्म वह ही है परन्तु लीलात्मक घृष्ट क्लार्णों का
कारण है। उसी वतिरिक्त क्लार के क्लार्णों का कोई कारण भी नहीं है,
किन्तु ब्रह्म स्वयं ही कार्य और कारण भावों से रहित है।

१- भ्रान्ति कल्पित वगत्कला त्रयम्, स्वाधीय च सव सदि तदाणाम् ।

निष्कलं निरुक्कान घृदियन् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

- वि० पू० २५८

२- कम्पघृदि परिणत्यपसायव्याधि नाशन विहीनमव्ययम् ।

दिव्य घृष्ट यम घातकार्णं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

- वि० पू० २५९

३- वस्तुभेद मा वास्त तदाणं निस्तरं क्लराति विश्वतम् ।

नित्य मुक्त भविमत्कलुर्तियन् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

- वि० पू० २६०

४- स्वयं स्वयं कारणं कारणान्तर निरास कारणम् ।

कार्यकारणा विलक्षणं स्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

- वि० पू० २५५

ब्रह्म में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है,

उसका कभी नाश नहीं होता । ब्रह्म सारा और सबार भागी है भी रहित है। ब्रह्म की नित्य, अव्यय आनन्द स्वरूप और निर्वाच्य कहा गया है।^१ ब्रह्म सत्-स्वरूप है, अतः ब्रह्म क्भावस्वरूप नहीं है, वह सुवर्ण के समान शुद्ध है, जिस प्रकार एक ही सुवर्ण राशि से कौन नाम रूपाति बाधुषणों का निर्माण होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में नानाविध वृष्ट फलार्थों की स्थिति है। किन्तु प्रत्यक्ष पशुष्य उन बाधुषणों की एक सुवर्ण रूप न कहकर कौन नाम और रूपों द्वारा बधिविहित करता है। कौन प्रकार व्यवहार में भवत ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान न रहकर कौन फलार्थों में नाम रूपों का बाधाव होता है।^२ ब्रह्म स्वरूप से परे और कुछ नहीं है, वह अव्यक्त प्रकृति से परे है ब्रह्म स्वरूप और सकल जन्तुआत्मा है ब्रह्म जन्म अव्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप है। कबीर काव्य में ब्रह्म की वृष्टि कारण रूपात सब प्रकार है :

- १- एक वृत्तकार के समान जगत् का कारण है।
- २- ब्रह्म एक ऐन्द्रियात्मिक के समान जगत् का कारण है।
- ३- ब्रह्म ही माया द्वारा एक से कौन रूप ही गया है।
- ४- ब्रह्म ने जगत् की वृष्टि तो की है किन्तु

- १- निर्विकल्पक सात्त्विकपदार्थ सत्परात्पर विलक्षण परम् ।
नित्यमव्ययं शुद्धं निर्द्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ विष्णु० २६२
- २- यदिभाति सपने कथा प्रमान्याम स्वरूप गुण विद्विवात्मना ।
हेमवत्स्वम विद्विष्यं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ विष्णु० २६३
- ३- अव्यक्तास्त्यनर्परं परात्परं प्रत्यक्षेण समानं तदाशाम् ।
सत्यवित्तुत नन्वमव्ययं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ विष्णु० २६४

ब्रह्म की कारण रूपा प्रत्यक्षा नहीं है, केवल जगत् रूपी कार्य ही प्रत्यक्षा है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर हम उक्त काव्य में ब्रह्म स्वरूप का निरूपण इस प्रकार करेंगे। उक्त कबीरदास जानते हैं कि जिस प्रकार कुम्हार पात्रों का निर्माण करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी वही ही स्वरूप से लोक प्रकार की सृष्टि करता है, लोक रूप सृष्टि करने पर ब्रह्म के स्वरूप में बिनाशमानहीं जाती। सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य से पूर्ण नहीं होता है। ली भी प्रतिबिम्ब सूर्य का रूप नहीं होता। सूर्य के अस्तित्व से ही प्रतिबिम्ब का भी अस्तित्व रहता है। स्त्री प्रकार लोकविध सृष्टि ब्रह्म का कार्य है, किन्तु ब्रह्म स्वतः कार्य से पूर्ण है। उसी प्रकार विद्यकाय सूर्य प्रतिबिम्ब से पूर्ण है, सृष्टि कार्य ब्रह्म अधिष्ठान पर उसी प्रकार अधिष्ठित है, जिस प्रकार सूर्य के अस्तित्व से ही प्रतिबिम्ब का अस्तित्व रहता है। उक्त कबीर ने उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान कारण स्वीकार किया है, सृष्टि वस्तुतः एक विघ्न के समान है। यह विघ्न स्त्री सृष्टि का कारण का कार्य ही है, परन्तु यह विघ्न कार्य होने के कारण नाश और परिवर्तन को प्राप्त होता है। इस विघ्न का समुधार ब्रह्म ही है जो एक नित्य सत्य है। इस प्रकार उक्त कबीर के ब्रह्म सम्बन्धी इन विचारों में विघ्न भावना की संभावना है। विघ्न सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म सत्य तत्त्व है और समस्त कार्य जगत् का अधिष्ठान होते हुए भी कार्य के बीजों जैसा विकारों से मुक्त रहता है। इन विकारों से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म के कारण और कर्तृरूपा में अन्तर है। उक्त कबीरदास के अनुसार ब्रह्म न सत्य, न ही तमीगुण से सृष्टि की रचना

१- वापक रता भये कृताता, बहु विध सृष्टि रती पराता ।

विधियाँ कृम किये दे जाना, प्रतिबिम्बता माहि समाना ॥

जिन यह विघ्न बनाया सो साँचा सुतधार ।

कहे कबीर ते जन भसे से पितवत सेहि विचार ॥ - कबीर ग्रन्थावली रंगी

की है और घुष्ट फटाई के बीच में अपनी की बिपा लिया है। ब्रह्म ब्रह्म स्वस्वरूप है एवं लोकविध घुष्ट का विस्तार एक घुष्ट के लोक परस्परों के समान हो गया है। किन्तु वस्तुतः यह विस्तार स्वस्वरूप संसार ब्रह्म का स्वस्वरूप नहीं है। एक संसार के लोक प्रकार के योगों और घुष्टों का अधिष्ठान यद्यपि ब्रह्म है तो भी ब्रह्म की स्थिति स्वयं नहीं है। ब्रह्म इन लोक रूप घुष्ट फटाई से पूर्ण है।

ब्रह्म को संसार की कार्यक्षमता स्पर्श नहीं करती ।

उसने संसार की रचना अपने स्वस्वरूप से ही की है और घुष्ट की रचना करके वह स्वयं ही अपने स्वस्वरूप को विस्मृत कर बैठा है। सन्त कबीर ने कहा पर ब्रह्म में विवर्त रूप में भावा की स्थिति स्वीकार की है। यद्यपि ब्रह्म समस्त कार्य ब्रह्म का कारण है तो भी कार्य के विकारों द्वारा दूषित नहीं किया जाता । ब्रह्म में हम विवर्त भावना की सम्भावना कहाँ करते हैं। यद्यपि ब्रह्म की ही घुष्ट का कारण कहा जाता है किन्तु घुष्ट की लोकस्व कार्यात्मक सत्ता ब्रह्म में कोई क्रियाक्षमता नहीं लाती । वस्तुतः ब्रह्म अपना वात्सा के पारमार्थिक रूप में क्रिया का भाव है । अतः निर्गुण सन्त भी स्वीकार के अनुसार ही ब्रह्म में घुष्ट का विवर्त मानते हैं। ब्रह्म अविकारी है। यदि उसमें क्रिया का आविर्भाव ही हो वह विकारी हो जायेगा । किन्तु घुष्ट का रचयिता तो ब्रह्म ही है। अतः कहाँ ब्रह्म स्वस्वरूप के योगों पराई की रक्षा की गई है एक तो यह कि ब्रह्म ही जनत्कारण है और दूसरे जनत्कार्य से ब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं भी है। सन्त कबीरदास ने ब्रह्म प्रस्ताव का पछि वर्णन करते हुए भक्त की रक्षा के लिए तत्त्व से नृसिंह का प्रकट होना कहा है। वेधे-

प्रस्ताव फारे पढ़न साल, धन सता लीये बहुत बाल ।

नीहि कहा पढ़ाई बाल बाल, मेरी पाटी सिति वे भीनीबाल ॥

०

०

कहे कबीर कोई लहे न पार प्रस्ताव ऊबारस्यो लोक बार ॥११

सन्त कबीरदास के मतानुसार निर्गुणराम

मानसिक चिन्तन द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि मन स्वतः विकारी है, और गुणों के संयोग से मन का स्वरूप बनता है। अतः निर्द्विकार एवं निर्गुण ब्रह्म को विकारसम्मत मन और बाणी प्राप्त नहीं कर सकते। निर्गुण ब्रह्म नित्य है और जगत् के व्यवहार बनित्य हैं। अतः इस बनित्य व्यवहारों से नित्य ब्रह्म की प्राप्ति नहीं किया जा सकता। वागम और निगम व्यावहारिक ज्ञान के ही रूप हैं। अतः व्यवहार्य ब्रह्म उनके द्वारा उपलब्ध नहीं किया जा सकता। सन्त कबीर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म जीव एवं जगत् में भेद नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही ज्योति सत्य है। क्योंकि द्विधात्मक विकारों का इसमें अभाव है। निर्गुण ब्रह्म माया से रहित है, उसकी प्राप्ति दुःसाध्य है, क्योंकि प्राप्ति किसी बाह्य रूप का नाम की ही हो सकती है। निर्गुण ब्रह्म में नाम रूपों का अभाव है। अतः सन्त उसी स्वरूप को मन बाणी द्वारा उपलब्ध होने योग्य नहीं मानते। सन्त कबीरदास के अनुसार शिव या शंकर जैसे साधक भी निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते। इन्द्र और ब्रह्मा उसकी नहीं जान सकते, वह 'राम' ज्ञान प्रिय भाव से पूर्ण ज्योति और अनिर्वचनीय है। सन्त कबीरदास ब्रह्म को चिन्तन के क्षेत्र से भी बाहर मानते हैं। निर्गुण ब्रह्म सन्त कबीरदास की साधना का सत्य है। यह सर्वव्यापी है और स्वयं सृष्टि पदार्थों के रूपों व्यक्त नहीं है। तो भी समस्त पदार्थ उसकी सत्ता को व्यक्त करते हैं। माया के व्यवहारों में वह गुप्त रहता है, एवं विवेक द्वारा उसकी सत्त्वानुभूति होती है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, उसी स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता है। वह निराकार ब्रह्म आत्मा रूप में समस्त दृष्टियों का वाक्य है। सास्त्र और विधा एवं बाद-विवाद द्वारा ब्रह्म का निर्णय एवं कथन नहीं हो सकता। सन्त कबीर का निर्गुण राम, वस्तुतः शंकर का निरुपाधिक ब्रह्म है। इस स्वरूप में कार्य कारण भेद नहीं है। जीव, जगत् और श्रुति सब उसी में लयनिष्ठ हैं।

१- कितेव शिव शंकर नये उठि ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३५

त्रिगुणात्मक वाकारों में व्यक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और शैव उस ब्रह्म के ही रूप हैं।

सभी सन्त और कबीरदास निर्गुण ब्रह्म को ही सत्य, सत्य और तम इन गुणों का अधिष्ठान मानते हैं। उनके अनुसार अत्यन्त नीय ब्रह्म में ही उपाधि का कथन और वारीय होता है। कि-

कह्या न उपमं उपज्या नहीं जौनी भावभाव बिहूना ॥ २

समष्टि और व्यष्टि सामान्य और विशेष दोनों ही उसके स्वरूप को व्यक्त नहीं करते, कहे क्योंकि यावत् निर्विकल वाणी का विकारमात्र है। निर्गुण ब्रह्म भाव और अभाव के रहित है। निर्गुण स्वरूप में व्यवहारों का अभाव है। उसके स्वरूप में उदय अस्त सूर्य और चन्द्र आदि पवि वीतिक विकार नहीं होते।

१- (क) कथ्यत कथ्यत ए पाधी सो सब माहि समनि ।

प्रगट गुप्त पुनि प्रगट सो कत रहै लुकाई ।

कबीर परमानन्द माये, कथ कथ्यो नहि जाई ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३६

(स) सो कहू बिचारहु पैछित लोई, बाके रूप न रस वरण नहीं कोई ।

कहे कबीर मन माहि समाना, तब वागम निगम झूठ करि जाना ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३७

(ग) अवगति की गति लखी न जाई, कहे कबीर बाके भेद नाहीं निज

मन भेद हरि की जहि ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४६

(घ) सत्य गुन ब्रह्म तम गुन सैर सत्य गुन हरि है सोई ।

- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५७

२- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७६

ब्रह्म की अनिवर्णीयता के विषय में सम्यक् कबीरदास का मत है कि बाणी या बिकार उस निर्गुण ब्रह्म की व्यक्त नहीं कर सकते, उसी स्वरूप की सम्पत्ति के लिए बाणी और बिकार सहायक मात्र है, ब्रह्म के स्वरूप में कोई लक्षण नहीं है, यह निर्गुण एवं अनिवर्णीय ब्रह्म व्यतारि नहीं होता है ऐसे-

‘ना कबर पर वीतरि जाबा, ना लंका का ख सँतावा ।

०

७

बाका होय नहीं बलि बलिबा, धरनी बिदल्य न उधरिया ॥ १

ब्रह्म कादि है, वह प्रकृति क्या माया का अधिष्ठान है, किन्तु उसी गुणों और बिकारों से वह विकृत नहीं होता, जाकार और बिकार बलित्व किन्तु ब्रह्म नित्य है, संसार की फारस, सत्ता के नाम रूप परिवर्तनशील हैं, परन्तु वह आधार जिसमें ये सब फारस और तत्त्व क्रियाशील होते हैं, कूटस्थ ब्रह्म है। सम्यक् कबीरदास का निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में कथन है कि ब्रह्म हमारे कहने मात्र से ज्ञान का विषय नहीं होता । ब्रह्म बन्ध नहीं लेता, कतः वह न भाव रूप है और न अभाव रूप है। मन और बुद्धि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती उसी निर्गुण और सगुण रूप भी व्यावहारिक हैं। सगुण ब्रह्म भी निर्गुण का ही स्वरूप है। क्योंकि गुणों का निमित्त और उपादान कारण एक ही ब्रह्म है। एही प्रकार निर्गुण में सगुण की बन्धित्व है, क्योंकि निर्गुण स्वरूप ही सभी कार्यों और फारसों का बादि कारण है। अनेक रूप तत्त्वों का मूल कारण एक ही है बलित्व ब्रह्म है। एही प्रकार सगुण में ही निर्गुण स्वरूप की बन्धित्व है। निर्गुण ब्रह्म ही चैतन्य रूप में यह फारसों और निमित्त एवं उपादानों में नतिशील रहता है। ब्रह्म कबर और कबर कहा जाता है, ब्रह्म कल है। बाधारण

१- कबीर ग्रन्थावली रमणी

प्राणी, बुद्धि और इन्द्रियाँ द्वारा उसको लस्य नहीं कर सकते । उनका कोई रूप नहीं है। कोई वर्ण नहीं है, वह निर्गुण ब्रह्म ही प्रत्येक प्राणी के हृदय में समाया हुआ है। क्योंकि हृदय में ही साधन द्वारा उसका ज्ञान होता है । ब्रह्म पिण्ड और ब्रह्माण्ड दो स्थानों में भिन्न भिन्न नहीं हो सकता , क्योंकि जीव और ब्रह्म दोनों पृथक् नहीं हो सकते । ब्रह्म के स्वरूप में पिण्ड और ब्रह्मण्ड का द्वैत वर्तमान नहीं है, बाणी द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का कथन नहीं हो सकता । वसन्त के फूल राम की कथा तीनों लोकों में प्रचलित है, परन्तु निर्गुण राम का रहस्य अवतार भावना में प्रसिद्ध स्वरूपों से भिन्न है। देवकी के गर्भ से कृष्ण के रूप में निर्गुण ब्रह्म का जन्म नहीं होता । यज्ञोपा ने निर्गुण ब्रह्म को गोप में नहीं दिखाया । गोपालों के साथ ब्रह्म ने बिहार नहीं किया और न गोवर्धन पर्वत को ही उठाया । वाक्य के रूप में निर्गुण ब्रह्म ने कत नहीं किया , और न धरती तथा वेद का ही उद्धार किया । ब्रह्म व भूषण है और न स्मृत ब्रह्म की उत्पत्ति ही होती है। और न नाश ही बाणी द्वारा कैसा कहा जाता है । वस्तुतः उसका स्वरूप वैसा नहीं है, ब्रह्म वैसा है । वैसा ही है । साधन प्रस्तुत अनुभव द्वारा ही वह जाना जा सकता है। ब्रह्म स्वरूप के कथन और भवण से केवल सुप्त भिन्नता है और परमार्थ स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान में सहायता मिलती है।

कैसे-

कतल निरूपन लसे न कोई निरूपे निराकार है सोई ।

सुनि वस्तुत रूपहि रेता, दिष्ट वदिष्ट त्रिप्यो नहीं भेता ।

वरन अवरन कथ्यो नहीं जाई , सकल कतीत घट रह्यो समाई ।

वपरिपार उपर्ये नहि किसे, सुगति न जानिये कथिये कैसे ।

जस कथिये तस हीत नहि जस है तेसा सोई ।

कहत सुगत सुत उपर्ये वस परमार्य होइ ॥ १

१- कबीर ग्रन्थावली - रमैनी

निर्गुण ब्रह्म अवतारी नहीं होता सत्य, रूप, और तम गुणों से व्यवहार का प्रवर्तन होता है। व्यावहारिक नाम रूपात्मक पदार्थ ही चिन्तन के विषय हैं। निर्गुण ब्रह्म नहीं निराकार ब्रह्म उपासना का बाधक भी नहीं हो सकता। ब्रह्म स्वयं संज्ञान का स्वरूप है।

सन्त कबीरदास के अनुसार पारमार्थिक , निर्गुण और अनिर्वचनीय ब्रह्म की अनुभूति शून्य मण्डल में होती है। इस निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति समाधि में होती है। सन्त कबीर ने शून्य सङ्ग से प्रायः समाधि द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति वर्णित की है। सन्त कबीर ने सत्य शून्य से अपना स्नेह व्यक्त किया है। जैसे-

‘ सत्य सुनि की नेहरी गगन मंडल रिमोर । ’ १

शून्य मण्डल में सन्त कबीर ने आस्त नाम का ध्वज खीना कहा है। जैसे-

‘ सुनि मंडल में बसत बाधे तणी मेरा मन नाथे ॥ २

शून्य मण्डल में ही उन्होंने परम बोधि, प्रकाश, अपना ब्रह्म का साक्षात्कार खीना कहा है। इससे स्पष्ट है कि सन्त कबीर ने समाधि की अवस्था में ही ब्रह्म की अनुभूति खीना माना है। क्या-

सुनि मंडल में सीधैं परम बोधि परकास ॥ ३

शून्य मण्डल में निरुपेक्षा और ज्ञान की प्राप्ति खीना कबीर ने माना है, अतः इससे भी स्पष्ट है। सन्त कबीरदास के शून्य सङ्ग का सत्य समाधि ही है। जैसे-

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १८

२- .. पृष्ठ ७२

३- .. पृष्ठ १२१

निष्कर्म नवी ज्ञान हुनि पैठत पाहि १ ।

बोद्धत योगी वात्मा कहें पुनी संजमि नाहि १ ॥ १

कैवल्य

साधकिक अर्थ है कैवल्य भाव यानि वात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार । यह शब्द योगशास्त्र का है, परन्तु अन्य शास्त्रों में भी मोक्ष के अर्थ के रूप में प्रयुक्त होता है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में अज्ञान कृत वात्मान के स्वरूपावर्णन या स्वरूप स्वीकारणीय बन्ध का ज्ञान या विद्या द्वारा 'अध्यात्म' वात्मा स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष या कैवल्य माना गया है। कैवल्य का स्वरूप विभिन्न दर्शनों में भिन्न रूपों में वर्णित हुआ है, परन्तु सर्वत्र यह ज्ञान द्वारा लब्ध तथा वात्मा साक्षात्कार और तत्त्व के यथार्थ स्वरूपावबोध के रूप में वर्णित हुआ है।

हिन्दी में कैवल्य का प्रयोग परम फल या मोक्ष के अर्थ के रूप में हुआ है। इसका वर्णन प्रायः राम भक्ति साहित्य में उपलब्ध होता है। तुलसी ने इसे अत्यन्त दुर्लभ कहा है। जो कहे में कठिन समझने में कठिन है। और कठिनाई से विवेक द्वारा ही इसका साधन किया जाता है। क्योंकि इसकी प्राप्ति में जोक प्रच्छेद और अन्तराय उत्पन्न हो जाते हैं ।

कहत कठिन समुभात कठिन साधत कठिन विवेक ।

होर पुनातर न्याय जो पुनि प्रच्छेद जोक ॥ १

यही मुक्ति है, जो राम की भक्ति से लब्ध होती है।

इस समाधि की वस्थिबद्धता में भी चित्त के लिए कोई न कोई वातस्थान बना ही रहता है, चाहे वह चित्तना भी घुसने नहीं न हो। परन्तु इसी प्रकार व्यास करते करते चित्त का सम्बन्ध सब विषयों से छूट जाता है। यही समाधि सर्वज्ञात समाधि कहलाती है। इस ब्रह्म में पहुँचने पर वात्मा अपने विरुद्ध वैतन्त्र्य रूप में प्रतिष्ठित होता है, और वह सब वस्तुओं से पृथक् होकर अपने वास में स्थित हो जाता है। क्योंकि वह केवल सर्वज्ञ रूप से विद्यमान होता है। इसी ब्रह्म का नाम है- केवल्य योग का यही ज्येष्ठ है, इसके लिए केवल चित्त की वृत्तियों का ही निरोध आवश्यक नहीं होता, प्रत्युत उनके घुसने संस्कारों का भी निरोध आवश्यक है। 'निरोध' का अर्थ है निःशेष रूप से रुक हो जाना, अर्थात् चित्त के लिए बन्ध हो जाना, इस ब्रह्म में समस्त वस्तुओं का नाश हो जाता है, परन्तु इसके लिए चाहिए बुद्ध साधना तथा पूर्ण कल्याणसाधन। योग की साधना कोई बालक का खेल नहीं है कि वह नायास प्राप्त हो सकती है, इसके लिए साधक की कठिन पहिचान, बुद्ध निष्ठा, व्यष्टि मर्दा रहनी पड़ती है। तब हीर्षकांत में यह ब्रह्म सिद्ध होती है और योगी सर्वज्ञात समाधि की स्थिति पर पहुँचता है।

समाधि की भावना भी इससे उत्पन्न होती है। अब योगियों का अनुष्ठान आवश्यक होता है। यम, नियमादि कर्मा के अनुष्ठान करने से चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष पूर्ण वैतन्त्र्य रूप को प्राप्त करता है। निरोध के लिए कल्याण और वैराग्य की आवश्यकता होती है, जब चित्तवृत्ति रहित हो जाता है तब उसे उस ब्रह्म में प्रतिष्ठित होने के लिए साधक की लगातार यत्न करना चाहिए, इसी का नाम 'कल्याण' है। कल्याण के बुद्ध करने के लिए बहुत दिनों तक आग्रहपूर्ण वैराग्य का व्यवसाय करना होता है।

सर्वात्मवाद

हिन्दी में सर्वात्मवाद का प्रयोग निम्न-
लिखित तीन अर्थों में होता है :

(क) कुछ लोग सर्वस्ववाद के अर्थ में सर्वात्म-
वाद का प्रयोग करते हैं जैसे रामचन्द्र गुप्त और रवामधुस्वरदास ने कथतः बायसी
बीर कबीर के प्रयोग में किया है। यह सर्वात्मवाद का सर्वथा दूषित प्रयोग है।
हंस्वर बीर वात्मा के प्रत्ययों में महान् अन्तर है। हंस्वर हंस या साधन करता
है। वात्मा से यह अर्थ कथमपि नहीं लिया जा सकता, कबीरी शब्द 'केन्धीज्य' ^{के}
के लिए सर्वस्ववाद उपयुक्त शब्द है, सर्वात्मवाद नहीं।

(ख) भारतीय दर्शन में ऊँ राचार्य के कौतवाच
के अर्थ में भी सर्वात्मवाद का प्रयोग होता है क्योंकि उनके अनुसार 'वात्मं
वेदं सर्वम्' वात्मा ही यह सब कुछ है, बिना वात्मा के किसी वस्तु का ग्रहण
नहीं हो सकता है। अतः वात्मा ही सब कुछ है- 'वात्म व्यतिरेक कदाहणात्
वात्मं वसर्गम्' यहाँ वात्मा ही एक और वद्वितीय वस्तु है, कथ्य कुछ भी वात्मा
से भिन्न है। वस्तुतः भिन्ना है। वात्मपूर्ण सब कुछ की सम्झने पर 'सब कुछ'
वात्मा ही प्रतीत होना। अतः यह सर्व बीर वात्मा का तत्त्ववचन के अनु-
सार अभिन्न अर्थ है। यह सर्वात्मवाद का भारतीय अर्थ है, यह गढ़ा हुआ शब्द
नहीं है, हिन्दी साहित्य में सर्वात्मवाद का यह अर्थ प्रायः नहीं किया जाता।

(ग) हिन्दी में सर्वात्मवाद एक नया तथा
गढ़ा हुआ शब्द सम्झा जाता है। इसका वही अर्थ लिया जाता है, जो कबीरी
शब्द फेसाहकिज्य का है। फेसाहकिज्य के अनुसार समस्त विश्व चेतन प्राणियों
से हो बना है। सभी चेतन प्राणी मनुष्य जैसे ही हैं (अचेतन कोई वस्तु नहीं)

तथाकथित वह वस्तुतः चैतन्यवान् प्राणी है पर उसकी चैतन्यता दृष्टावस्ता में है। युरोप में सांख्यीय का दर्शन इस बात का प्रमुख उदाहरण है। भारत में ऐसा दर्शन कभी विकसित नहीं हुआ। भारतीय दर्शन के अर्वात्पन्नाद के सांख्य-दर्शन के दर्शन को पुनः रत्ने के तिर दूसरे को अर्वात्पन्नाद न कहकर अर्वा जीव-बाद या अर्वाचैतन्यवाद कहना अधिक उपयुक्त है।

अर्वाजीववाद और अर्वात्पन्नाद का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। पहले में वह वस्तु मिया नहीं है, दूसरे में है। पहले में वह वस्तु दृष्टु जीव या चैतन्य प्राणी है। दूसरे में वह मिया है पहले में चैतन्य प्राणी या जीव जीव है, दूसरे में आत्मा एक और अद्वितीय है, इस प्रकार अर्वाजीववाद वैपुल्यवाद है, तो अर्वात्पन्नाद अर्वाचैतन्यवाद। अर्वात्पन्नाद की आत्मा का प्रत्यक्ष भी अर्वाजीववाद के जीव या चैतन्य प्राणी की चैतन्यता से भिन्न है। पहले में आत्मा (नैति- नैति) या (अत्, चित् आनन्द) है, तो दूसरे में चैतन्यता केवल ज्ञान, भाव और लब्धा प्राप्त करने वाली है। आत्मा ज्ञाता कर्ता और भीवता नहीं है, अर्वाजीववाद या जीव ज्ञाता, कर्ता और भीवता है। हिन्दी के सन्त साहित्य में संकराचार्य के दर्शन के अर्थ में अर्वात्पन्नाद का प्रचुर प्रयोग है, पर उसमें अर्वाचैतन्यवाद और अर्वात्पन्नाद को पुनः करना कठिन है। विशुद्ध अर्वात्पन्नाद ग्रीक दार्शनिकों की ही कृतियाँ में पाया जाता है। हिन्दी दर्शन के अर्वाट् निरूपणवाद के ' विचार सागर ' और ' वृत्ति प्रभाकर ' में अर्वात्पन्नाद उसी अर्थ में सिद्ध किया गया है। जिस अर्थ में वह अर्वाचैतन्यवाद के ग्रन्थों में है।

आत्म चिन्तन करते करते कबीर की अर्वा ज्ञान की अनुभूति हुई थी और उस अनुभूति की अवस्था में ही उन्हें एक ब्रह्म की अस्पष्टता का अनुभव हुआ था। यही कारण है कि जीव स्थिति पर उनका

कईतवाद स्वार्त्तत्वाव में परिणत हो गया है । इस स्वार्त्तत्वाव का वर्णन उनकी रचनाओं में कहीं 'ब्रस वर्णन' के रूप में मिलता है, कहीं ब्रस बीम और बगत् का सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिये है और कहीं ब्रस एवं माया के भेद को स्पष्ट करने के लिये है । ब्रस वर्णन के रूप में स्वार्त्तत्वाव का वर्णन देखिए-

‘ नाव बिन्दु रंग एक लेता, बापे गुरु बाप ही लेता ।
बापे नील बापे पीला, बापे पुन बाप पुनता ॥ ’ १

ब्रस बीम और बगत् का सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए भी वे कहते हैं :

‘ जल में हूँ हूँ मैं जल है, बाहर भीतर पानी ।
फुटा हूँ जल जलहि समाना, यह तत् कथी भियानी ॥ ’ २

माया और ब्रस के भेद को स्पष्ट करते हुए भी उन्होंने स्वार्त्तत्वाव का ही वर्णन किया है। देखिए-

‘ नट बहुरूप लेते सब जाने, कला करे गुब ठाकुर भी ।
यो लेते सबही घर भाड़ी, दूसर के लेते कहु नाही ॥ ’ ३

माया का स्वरूप

माया शब्द (मा + या) की पार्श्व की

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २४४

२- .. पृ० १०३

३- .. पृ० २३०

मिलाकर बनता है, जहाँ 'मा' का व्यावहारिक कार्य सत्ता का निधीय करता है और 'या' का व्यावहारिक कार्य सम्बन्ध निश्चित करता है। 'मा' का कार्य है 'नहीं' और 'या' का कार्य है, जो 'क्योंकि' जिस वस्तु की स्थिति न हो किन्तु उपलब्धि होती है। वह माया का बीजक है। वस्तु की जिस रूप में उपलब्धि होती है। वह वस्तुतः वैसी नहीं है, वैसी बन्ध-कार में रस्सी में सर्प का भ्रम होना, वस्तुतः रज्जु का अस्तित्व तो है किन्तु बन्धकार के कारण रज्जुता की उपलब्धि न होकर सर्प की स्वाभाविक बुद्धि उत्पन्न होती है, रज्जु में सर्प का अस्तित्व नहीं है, तो भी सर्प की प्रतीति होती है। इसी प्रकार यद्यपि सर्प का अस्तित्व वस्तुतः नहीं है तो भी सर्प का भ्रम कराने वाली रज्जु अस्तित्व में है। इसी दृष्टान्त के आधार पर माया के अस्तित्व की कल्पना हम ब्रह्म में कर लेते हैं। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि वस्तुतः अस्तित्व ब्रह्म का ही है। किन्तु अविवेकानुसृत ब्रह्म के अधिष्ठान में माया का आरोप कर लेता है। माया के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक पक्ष यह भी हो सकता है कि माया सर्वथा काल और भाव से विलक्षण रूप है।

सन्त कबीर के अनुसार माया की शक्ति शब्द रूप में प्रतिष्ठित है। माया की यह शब्द शक्ति समकारण रूप में ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है। सन्त कबीरदास ने इस कारण रूप शक्ति की ही अन्तर्ज्योति कहा है। इस माया शक्ति के ब्रह्म, विष्णु और शिव के तीन रूप हैं। वह माया शक्ति ही अन्य दृष्टि का आवेष्टि कारण है। वह माया शक्ति है तो वस्तुतः स्वरूप ही परन्तु उपाधि भेद से व्यवहार में अनेक रूप हो गई है। वह माया शक्ति अनन्त रूप है, और इसका कथन वाणों द्वारा नहीं हो सकता। ब्रह्म की शक्ति वस्तुतः ब्रह्म में ही कारण रूप में अधिष्ठित है।

यह कारण ब्रह्म की पराशक्ति है, कारण ही कार्य रूप में परिणत होकर
 जीव रूप जगत् की सृष्टि करता है। बीज वस्तुतः ब्रह्म का ही स्वरूप है। किन्तु
 माया शक्ति से जगत् के बन्धनों में पड़ता है। ब्रह्म की माया शक्ति, ब्रह्म की
 सृष्टि की शक्ति का रूप है। सन्त कबीरदास ने इस शक्तिशक्ति की गायत्री
 कहा है। उपनिषदों में यह शक्ति ही संतान सत्त्व से बधिरित की गई है।
 ब्रह्म की माया शक्ति से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीनों पुत्र उत्पन्न हुए। ब्रह्मा
 ने माया से प्रश्न किया कि 'तुम किसकी स्त्री और माता हो, माया ने
 कहा कि 'मैं और तुम' दोनों भिन्न नहीं हैं। मैं ही तुम्हारी स्त्री हूँ और
 तुम मेरे पुत्र ही, इससे प्रकट है कि माया से त्रिगुणात्मक देवताओं की
 उत्पत्ति होकर ये देवता ही माया पर अनुशासन स्थापित करते हैं। माया
 ब्रह्म की शक्ति तो है ही, त्रिदेवों की भी शक्ति है, क्योंकि त्रिदेव ही माया
 का व्यवहार करते हैं। अतः सन्त कबीरदास ने पिता स्वरूप ब्रह्म और पुत्र-
 रूप ब्रह्म को एक ही नारी कही है। यह माया ब्रह्मा आदि की माता भी है।
 क्योंकि उनकी उत्पत्ति गुणों से होती है। यथा-

अन्तर जीति सबद एक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ।
 से कहिरिये मा लिंग कान्ता, तेज न जाने आदि और कन्ता ॥

०

०

बीज रूप एक अन्तरबाधा, अन्तरजीति कीन्ह परमाधा ॥

०

०

शक्ति रूप नारि कवतरी, तासु नाम गायत्री धरी ॥

०

०

तेहि नारी के पुत तिन भयऊ, ब्रह्मा बिस्तु महेश्वर नाऊ ।

फिर ब्रह्मा पुनस मवतारी, कौ तौर पुनस केकरि तुम नारी ।

तुम हम हम तुम कबर न कीर, तुम से पुनस कबहि तौरि

कीर ॥

माय पूत की रूँ नारी रूँ माया विनाय ॥ १

सन्त कबीरदास के अनुसार जी वाता वाता है वही माया है। 'जाता जाता' शब्द उत्पत्ति और विनाश के प्रथम हैं। अतः उत्पत्ति और विनाश के क्रम में प्रथम वाता का अर्थ वायु है। सनस्त कुर्य बगत् प्रतिफल उत्पन्न और नष्ट होता है। अतः ये सभी माया के रूप हैं, सभी वस्तुएँ बनित्य हैं रूँ माया के रूँ में ही पोषित और नष्ट होती हैं। कर्म माया का रूप है। सन्त कबीरदास के अनुसार माया राम के कर्मि है। यह माया ही सांसारिक दण्डों में जीव को डालकर वात्म ज्ञान से विमुक्त कर देती है। जैसे-

राम तोरि माया हुँ बनावै ॥ २

कबीर के अनुसार माया सत्त्व, रज और तम गुणों का वृद्धा है। कष्ट और बलेश तो मानी इस प्रकृतिरूपी वृद्धा की शासन ही है। इस प्रकृति रूपी वृद्धा के बोध स्वप्न में भी शीतल शाय नहीं मिलती, स्वप्न वजानरूपी फल फलते हैं। ये फल फलते हैं क्योंकि गुणों से प्रेरित हुए विषयों के दूत बनित्य रूँ वस्तुवायो हैं। इन विषयमयीयों से शरीर में बलेश उत्पन्न होते हैं। जैसे-

माया तरवर त्रिविध का सासा दुस सताप ।

सीतलता सुप्ति नहीं कुनि कभी तनि ताप ॥ ३

कबीर माया को त्रिगुणात्मक और देखिक, देखिक रूँ भौतिक तापों का

१- कबीर ग्रन्थावली बोज

२- .. पद १३

३- ..

कारण मानते हैं। उपनिषद्वादी, नीला, ब्रह्मसूत्री एवं लीला भाष्यों में माया सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही विशेष हुआ है। परन्तु सन्तों ने अपनी साधन मार्गों के अनुकूल या प्रतिकूल विधिमा कथना माया के स्वरूप का अनुभव किया है। सन्तों ने प्रायः माया को अपनी साधन मार्ग में बाधक ही पाया है। सन्त काव्य में स्वकृत माया के स्वरूप में सत्ता के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है, सन्तों की साधनानुवृत्ति की गम्भीरता से उत्पन्न व्यक्तित्व का माया के स्वरूप पर प्रभाव अत्यंत प्रधान है। सन्त कबीरादास के अनुसार मोह और बहकाव माया के रूप हैं। मनुष्य नीतिबद्ध बहसुर्वा और सम्बन्धी में मोह और बहिमान करता है। परन्तु माया पदार्थ बनित्य है और मनुष्य का मोह और बहकाव मिथ्या ठहरता है। ऐक्यतात्मक तत्त्व विनाशहीन है, केवल राम ही नित्य और सत्य है। धन एवं वाणिज्यिक व्यवहार सभी माया के मिथ्यारूप हैं। माया के रूप हैं- स्त्री, धन, पुत्र, विद्या, राज्य, पृथ्वी का अधिकार अष्ट सिद्धियाँ एवं नवनिधिर्ग। माया ने देवता मनुष्य एवं समस्त भूमण्डल के राजाओं को अपनी वश में कर लिया है, जिसने माया का सावदिया उसने सभी के साथ विश्वासघात किया। माया ने कभी किसी का साव नहीं दिया है। सन्त कबीर के अनुसार झूठी माया का त्याग कर 'राम' की शरण में जाना श्रेयस्कर है। जैसे-

कनक लेहु मनियावे कामनि लेहु फन हरनी ,
 पुत्र लेहु विद्या अधिकारी ।
 राज लेहु सब धरनी बढि सिधि लेहु तुम्ह हरि
 के कान नव निधि है तुम जानें ॥
 सर नर सकल भवन के, भूपति तेज नहि न मणि ।
 तैं पावरी सैं संधरि काकी काज सेवागुनी ।
 बिन बिन संग कियो हं तेरी को बेबासि न मारुनी ।

बास कबीर राम के सन हाड़ी कुठी माया ॥ १

माया से मोह करने का परिणाम अन्त कबीरबास के अनुसार कभी हितकर नहीं होता । वह विवेक ज्ञान का अपहरण कर लेती है। वस्तुतः संसार स्वप्न के समान मिया है, परन्तु जीव ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण नित्य है, माया ने ही नित्य ब्रह्म स्वरूप जीव में बन्धन उत्पन्न कहे उसकी बनी पारमार्थिक ब्रह्म स्वरूप से अलग कर लिया है। जैसे-

माया मोहि मोहि हित कीन्हा, तावै भरी ग्यान ग्यान
हरि सीन्हा ॥

संसार रेखा सुप्ति जैसा जीवन सुप्ति समान ।

साँच गाँठि बाध्यौ झाड़ि परम निर्धान ॥ २

यह माया डालन का रूप है, हमने मृत्यु के मन में डेरा डाला है। पैभूत सब माया के पुत्र है। ये प्रपञ्चात्मक भौतिक तत्त्व जीव को जन्म मरण स्वी मान नचाते रहते हैं। जैसे-

जु गेहनि भरे मन में बसेरे नित उठि भरे बिय को लसेरे ।

या डालन के तरिका पाँच रे निस दिन मोहि नचावे

नाच रे ॥ ३

केवल तत्त्व तीन गुणों को मिलाकर शरीर की सृष्टि हुई है, पाप और पुण्य के संस्कारों से शरीर जन्मता और मरता है। उत्पन्न होना और नष्ट होना माया का धर्म और स्वभाव है। जैसे-

पञ्चित तीन गुण कुनवि करि सानियाँ ।

१- कबीर ग्रन्थावली

२- ..

३- ..

बट किन होत नहीं भ्रम काया
पाप पुन बीज कूरु जामे भरे ,
उपनि विनसे जेतो सर्व माया ॥ १

कबीर के अनुसार माया का त्याग बतल कठिन है। जीव माया में पुनः पुनः लिप्त होता है। बाहर सम्मान भीतिक रस, धन, भय, तप, मोन, जल, यल, वाफास, माता-पिता, स्त्री-पुरुष सभी तो माया के रूप हैं। इस माया को मारकर व्यवहार करने से व्यवहार के विकारों में मनुष्य लिप्त नहीं होता।
जैसे-

माया तहूँ तबी नहिं बाह फिरि फिर माया मोहि
सप्टाह ।

०

०

माया मारि करे व्यवहार कहे कबीर भरे राम आधार ॥ २

माया ज्ञान का स्वरूप है। माया का भ्रम मनुष्य को लभिभूत किए हुए है। संपूर्ण संसार बिना सर्प के ही डसा हुआ है। माया को वास्तविक स्थिति न होती हुए भी माया के व्यवहारों से प्राणी दुःखी हो रहा है। वस्तुतः यह माया भ्रम का रूप है, जिस प्रकार जठ मास में हरिण प्यासा होकर दसों दिशाओं में दौड़ता है, और उसको जल नहीं मिलता, उसी प्रकार जीव वाशा के पीछे दुःखी हो रहा है। माया से मुक्त की वाशा करना बलेश का हेतु है। जैसे-

जुं रबने रब देखत तथियारी डसे मुजंगम किन उचितारी ।

०

०

क द्विजाजत अस जाह जराह, फूठी बास लागि मरि
जाई ॥ ३

सन्त कबीरदास के मतानुसार मन एवं बुद्धि से जगत्तर ब्रह्म के स्वरूप का बोध सहज ही ही जाता है। मन का जगत्तर ही पुनर्बन्ध का कारण है। हृदय के भीतर दर्पण लगा हुआ है, परन्तु यह दर्पण माया के विकारों से धुँधला हो गया है। जिस प्रकार धुँधले होने पर सुखाकृति स्पष्ट नहीं होती, उसी प्रकार मन के विषयायायिकों द्वारा जगत् ही जाने पर जीव जगत् ब्रह्म का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि नाना प्रकार के भौतिक दैत सम्बन्ध मन में प्रविष्ट होते रहते हैं। मन के विकार रहित होने पर दैतजन्म ज्ञान नष्ट हो जाता है एवं ब्रह्म तथा जीव के मध्य अविविक्त व्यसधान नष्ट हो जाता है। मन का निरोध होने पर ब्रह्म का ज्ञान उदित होता है। वात्सा में वागम्य प्रस्फुटित होता है। वस्तुतः मन स्वतः ब्रह्म का रूप है, किन्तु माया द्वारा विकृत होने पर मन ब्रह्म स्वरूप से वंचित हो जाता है। मन के रुद्ध होने से सांसारिक दैत विकार तिरोहित हो जाता है, और मन्त्री ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यथा-

इस मन को निरमल करो बँठा करो जगोठ ।

मे घिर राखी बाणगी ली पर तिरिज कंगोठ ।

दिरवा भीतर बाखी मुल बैसणी न बाह ।

०

०

०

०

मेरा मन सुमिरे रामई मेरा मन रामहि बाहि ।

जब मन रामहि हूँ रह्या तीस नवावी काहि ॥ १

माया जीव को प्रलीन दिलाती है, और

सन्त में उसका बफार करती है। माया जीव में मिथ्या के प्रति निष्ठा उत्पन्न करती है, और सत्य पर ब्राह्मण बाधण डालती है। उसमें विविधता, क्रीड़ा, बफाव-रूपता, क्रीडा, नाम, रूप और रंग उपलब्ध होते हैं। विनमता होने के कारण माया में स्वरूपता, नियामकता नहीं है। माया व्यवहारिणी है, वह ठाकन होकर सर्व भक्षण करती है, पिता से कुलित सम्बन्ध स्थापित करताती है, व्यवहार में वह स्वतन्त्र है, और उस पर कोई कृत नहीं है। परन्तु सन्तों से वह भयभीत रहती है। वह स्त्री रूप में कामिनी और फायें रूप में कनक है। माया स्त्री, पुत्रादि व्यवहारों में भी प्रेरणा का रूप है, विषया माया के सम्बन्ध से वात्मा दुःखी है, सर्वत्र वही दैत का कारण और स्वप्न में सत्य की प्रतीति, मरण में क्त की प्रतीति, सोप में बन्दी की प्रतीति रण्डु में सर्व की प्रतीति के समान है, मन का निर्माण भी माया के द्वारा होता है। माया द्वारा मन जेकपुती होकर विचारों में बाधित होता है। सन्त कबीरदास के काव्य में माया के सम्बन्ध में उपर्युक्त भावना प्रधान है। इसी प्रकार की भावधारा और माया के विरुद्ध संतों का प्रयोग गीरसाय के काव्य में भी मिलता है।

संत कबीरदास के अनुसार मन का निग्रह करने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसके अनुसार मन वस्तुतः कथ्यास रूप है। पाँच भौतिक शरीर और इन्द्रियों में वात्म स्वरूप की प्रतीति होने के कारण वात्मा की उपलब्धि नहीं होती। इन्द्रियों के द्वारा विचारों में मन प्रसारित होता है, और ब्रह्म ज्ञान होने में बाधा उपस्थित करता है, परन्तु उपाधि से मुक्त होकर वही मन ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

सन्तों के अनुसार मन के दो पक्ष हैं :

१- माया में कुरुलत होकर मन के द्वारा ही

बीज बीर ब्रह्म का भेद उत्पन्न किया जाता है।

२- माया कथा ब्रह्मण से मुक्त होकर वह ही ब्रह्म स्वरूप में उपस्थित होता है। उपर्युक्त रूप के अनुसार सन्तों बीर बाबायं रंकर के माँ में भेद नहीं है। सन्त काव्य में माया का सिद्धान्त यद्यपि द्विवेद कथा प्रमुख सन्तों रूप की माया में ही निहित हुआ है। परन्तु फिर भी बाबायं रंकर के मत से सन्तों के मत में कुछ विशिष्टता है। सन्तों ने यद्यपि माया के कारण ही भ्रष्ट और संसार का अस्तित्व कहा है, तो भी बाबायं रंकर की विवेचनाकृत माया का रूप सन्तों की बाणियों में अधिक व्यावहारिक एवं दिन प्रतिदिन की उन अनुभूतियों से पूर्ण है, जो वैराग्य की प्रेरणा देती है, सन्तों के अनुसार माया एक ऐसा प्रभावशाली तत्त्व है जिसके संघर्ष से कोई भी सुरक्षित नहीं रह सकता। सन्तों के काव्य में एक विशेषता है। सन्त एक देवताओं की अत्यन्त सामर्थ्यशाली मानते हुए अनुभव करते हैं कि माया ने इन देवताओं की भी शक्ति कर लिया है, जिस प्रकार मनुष्य की नारी लोक व्यवहारों में बाधित करती है, उसी प्रकार विष्णु के साथ माया सत्मी रूप में और शिव के साथ पार्वती रूप में दुःख का विस्तार कर रही है। माया का दूसरा रूप है कल कथा धन, धन से ही प्राणिक व्यवहार चलते हैं। मनुष्य धन से ही लोक आकर्षणों और आसक्तियों में पड़ता है। ब्रह्म के मान सम्मान पुत्र भित्ति एवं लोक साधन सम्पन्नताएँ, ब्रह्म स्वरूप बीज की वशील्यरूप ज्ञान से भिन्न कर देते हैं। माया का तीसरा रूप है, वैभूता-त्म शरीर और संसार। प्राणी शरीर की स्थायी सज्ज कर उसमें ही वात्स्य बुद्धि बारीफ्त कर लेता है, और उसके स्वाभाव-रूप में समग्र नष्ट करके जीवन शक्ति का व्यय करता जाता है। ज्ञानी प्राणी जड़ में अंतर्मुख बुद्धि और अनात्म में वात्स्य बुद्धि करता है, परन्तु इसका परिणाम निराशापूर्ण होता है, क्योंकि मृत्यु इनके भूल स्थायी और अस्थायी सपनों का निर्णय करके नित्य

और अनित्य कर्माणि का ज्ञान करा देती है। माया अनित्य है, और ब्रह्म नित्य । सन्तों की वाणी में यह भावना स्पष्ट है कि बृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और मृत्यु का भय निकट आ जाता है। उस समय इन सब विषयों की विसृष्टता प्रत्यक्ष होती है। वाचार्य श्रीर ने जीवन के इस फलज्जन पक्ष का यद्यपि इस प्रकार विस्तारपूर्वक समर्थन नहीं किया है, परन्तु उनके नित्यानित्य विवेक में इन्द्रियाँ और उनके विषय - परिहार से इसके व्यावहारिक त्याग का समर्थन अवश्य किया है। नित्यानित्य विवेक के आधार पर सन्तों के समस्त कर्माणि सत्ता के अध्यात्मिक रूप हैं। जो कर्माणि जाता है वह जाता भी है, जो उत्पन्न होता है, बही मरता है, अतः मरने वाला अनित्य है, जो अनित्य है, उसकी स्थिति वस्तुतः नहीं है। किन्तु मोक्ष और ज्ञान नित्य है, संसार का नाश करना ही मोक्ष का सत्य है। दैत रूप जगत् का विध्वन करके ब्रह्मन् में प्रतिष्ठित माया का तिरोभाव होना ही साधना का साध्य है । इसके लिए वासन्ति अनुपादेय है। विषयों से विरक्त होना ज्ञान का साधन है, कर्म और संस्कार जगत् और शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं। ये जगत् और शरीर , पृथ्वी अक्ष , अग्नि वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से बने हैं, इसी कारण ये प्रपञ्च माया कहलाते हैं, यह प्रपञ्च माया है, विवेक बृद्धावस्था में कहा गया है कि परम तत्त्व के ज्ञान होने पर सत्स्वरूप निर्विकल्प परब्रह्म में विश्व का कहीं फल भी नहीं रहता । विकास में भी रज्जु में सर्प नहीं होता और मृग वृक्षों में जल की बुँद भी नहीं होती । सन्तों ने स्वर्ण भूतात्मकता की इसी हेतु नाश करने का वाग्रह किया है। यावत् रज्जु प्रपञ्चात्मक है, शरीर की रज्जु और शृंगार के हेतु नाना प्रकार के व्यसहार अनुष्य करते हैं। किन्तु शरीर नाशवान् है । अतः इसीलिए शरीर शक्ति के विरोधी है। सन्तों के अनुसार माया में वाचार्य श्रीर की तुलना में कुछ विशेष विषयमय भी है । वे या तो माया की ईश्वर के अधीन मानते हैं, अथवा ब्रह्म की विश्व रूपता के साथ उसका समा-

धान करते हैं। विवर्त भावना के सम्बन्धित माया ही निर्विकारिता और निरुपाधिकता एवं कर्तृत्व और पोषकृत्व से रहित ब्रह्म स्वरूप की प्रतिष्ठा करती है। सन्तों के अनुसार ही माया ब्रह्म में अतिरिक्त और स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। प्रायः माया सन्तों के अनुसार दूषण है, सर्पिणी, व्याघ्रणी, हाथन एवं वही प्रकार के अन्य सम्बोधन सन्तों के काव्य में मिलते हैं। वाचार्थ और ने माया की इस प्रकार भर्त्सना का भाव नहीं दिखाया। माया की वाचार्थ और ने उसकी कथनीयता का भाव देकर परा प्रकृति के अन्तर्गत उसकी ब्रह्म रूप ही मान लिया है। सन्त काव्य में माया की विलक्षणता की कल्पना और व्यावहारिकता के प्रति सन्तों का अधिक ध्यान है। सन्तों के अनुसार विषय, इन्द्रियाँ, और मन माया के अन्तर्गत सत्त्व हैं। संसार की कष्टावस्था की माया के रूप में सन्तों ने ग्रहण किया है। अविद्या एव का प्रयोग सन्तों ने कम किया है, जगत् की अकल्पता, मनुष्य के बड़े बड़े मनोरथ, द्रव्य, शरीर और विनाश प्राप्तियों के वैभव ये सभी सन्तों के अनुसार माया के रूप हैं। वाचार्थ और ने इस प्रकार के व्यावहारिक स्तर पर माया का विवेचन वही भाष्यों में नहीं किया है। मनुष्य की बुद्धि इन अविद्यात्मक व्यवहारों में अत्यन्त है। अनित्य पदार्थों में उनको वाचिकता का ज्ञान मनुष्य की नहीं होता। अतः वह इनके व्यवहारों में प्रपन्न लिप्त हो जाता है। वस्तुतः सन्त माया के विचारों को अधिक नहीं करते, वे माया और उपाधि का जो साधारण रूप दिन प्रतिदिन मानव जीवन में व्यवहृत होते देखते हैं, उसका ही कथन करते हैं। सन्तों के अनुसार माया में मित्रदाया शक्ति है, क्योंकि वह अलपुत्रक मनुष्य की परमार्थ मार्ग से क्लेश कर देती है। सन्तों के मत में मन ही वाचिक पदार्थों में अत्यन्त होता है। यह अज्यात बुद्धि मुख्य आकाश में नीलिमा का आवास कराती है। वस्तुतः इस नीलिमा की आकाश उत्पन्न नहीं करता। इस नीलिमा की पैली वाला पुरुष भी नीलिमा उत्पन्न नहीं करता। किन्तु फिर भी इसकी उपस्थिति

होती है। ठीक इसी प्रकार माया को न तो पुरुष उत्पन्न करता है, और
 न ब्रह्म ही किन्तु फिर भी माया वाक्यात में नीलिमा के समान संसार रूप में
 वर्तमान है। वाचार्थ स्वर ने बौद्धों के मुख्य और विज्ञानवाधियों के मतों का
 खण्डन करते हुए, संसार के वस्तु रूप क्या मुख्य रूप की स्वीकार किया है।
 वाचार्थ स्वर ने कहा है कि बन्ध्या के पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती,
 सन्त कहीं कहीं माया क्या जगत् की भाव रूप में भी ग्रहण करते प्रतीत
 होते हैं, परन्तु बौद्धों के मुख्य और विज्ञान के विरोध में सन्तों का ब्रह्म रूप
 बात का प्रमाण है कि सन्त जगत् सत्ता का भाव नहीं मानते। इसी प्रकार
 वाचार्थ स्वर और उपनिषदों ब्रह्म के सत्स्वरूप की पोषक हैं। जब माया के
 स्वरूप में सन्तों की जो भावप्रकृति प्रतीत होती है। उसका कारण है अनित्य
 पदार्थ सत्ता। सन्त माया की क्खोसिए भावप्रकृति में देखते हैं कि वागतिक
 पदार्थ सत्ता वस्तुतः स्थायी नहीं है, जिस वस्तु का अस्तित्व है। उसका वध
 क्रियात में भी नहीं होता है। जिसकी स्थिति नहीं है वह क्रियात में भी स्थित
 नहीं होता। अतः मायाजन्य पदार्थ स्थिर नहीं है। इन्द्रियों से भीगे जाने
 वाले सुत पाण स्थायी हैं। धराणि से मृण्य मृत्तु की नहीं जीव सकता जिस
 आनन्द की कल्पना से मृण्य स्त्री का साक्षर्य चाहता है, वह भी पैर काल के
 प्रवाह से विच्छिन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जिस शरीर, मन और बुद्धि से
 मृण्य इन्द्रियों के विषयों में वास्तव होता है, वे स्वयं भी निर्वल होकर
 भोग भोगने में समर्थ नहीं रह जाते, जो वस्तु वस्तुतः है नहीं फिर भी नित्य
 सुख तात्मा के बन्धन का कारण है। बही माया है, यही उत्पन्न होती
 है और यही मरती है। यही संसार में जाती है और यहाँ से जाती है, सन्त
 माया के इस वलगावी और कर्मलकारण स्वभाव से परिचित है, इसलिए सन्तों
 ने माया को दूषण रूप में वर्णित किया है। सन्त ब्रह्म कारण में ही कार्य की
 स्थिति मानते हैं। सन्त काव्य में वर्णित 'सपर्याई' के अंग से यह स्पष्ट होता

है कि ब्रह्म के सामर्थ्य की शक्तों ने माया कही नहीं कहा। इस अवस्था में माया बीज के लिए केवल एक भ्रम उत्पन्न करने का साधन ही ही है। बीज की प्रकृति से बीर बीज नाम स्थापक वस्तु की अद्वैत ब्रह्म से उत्पन्न करने वाला कारण नहीं माया है। शक्तों ने माया का विवर्त रूप भी स्वीकार किया है। शक्तों के अनुसार माया कच्चा बबिया सम्बन्धी विचार बाबायें और सम्पत् अद्वैत धिद्वान्त की ही सत्य करते हैं। शक्तों ने ईश्वर की 'धुआँ का बीजकार' 'गुल-गुच्छा', 'रत्नसुन्दर' एवं 'स्वान' के समान कहा है। ईश्वर की बबिया-रूपता का कथन करते हुए बाबायें और भी शक्तों गुच्छान्तों का बाधन लेती हैं। कर्म करते हुए बीर उनके फल में बाधन होने का कार्य है बीज का वात्स-ज्ञान है पुष्प ही बाबा कि प्रकार रस्सी में धाँप की बुद्धि उत्पन्न होकर विह्वल परिणाम होता है कच्चा महत्त्व में फल का बाधा कच्चा बीज में बबि की भ्रम होता है। कच्चा स्वप्न में राज्य का प्राप्ति होने निष्क भ्रम है, उसी प्रकार माया कार्यरूप में परम सुख बीर शान्ति का भाव है। इसी प्रकार कर्म से ज्ञान स्वरूप मोक्ष का साधन नहीं ही सकता। इस सम्बन्ध में शक्त कबीर एवं अन्य सभी शक्तों की बाधायाँ प्रमाण हैं। सभी शक्तों ने माया की निष्ठा ही माना है। इन सभी शक्तों ने ईश्वर की माया मान कर ईश्वर की निष्ठा कहा है। माया का प्रधान लक्षण है बीज की प्रकृति से उत्पन्न कर देना। शक्तों ने साधना द्वारा इस माया का ही निरूपण किया है। इस सम्बन्ध में सभी शक्तों ने अद्वैत ज्ञान का बाधन लिया है परन्तु धिद्व, गीरल्लास, शक्त कबीरदास, शक्त बलदास, शक्त दरियादास, शक्त बीसा दास, शक्त फलदास और शक्त कबीरदास के काव्यों में उठती की साधना की प्रधानता के साथ मिलती है।

माया ज्ञान रूप है, शक्तों के धिद्वान्तों में यह समान रूपी स्वीकृत है। अद्वैत ब्रह्म माया कार्य में बाधाहित होकर बीज रूप

प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही सुवर्ण सङ्क के वायुवर्ण बनना एक ही मिट्टी से बने पात्रों की उत्पत्ति होती है, परन्तु मूल में मिट्टी और सुवर्ण एक ही हैं। उसी प्रकार विसर बने रूप होकर भी मूल में ब्रह्म रूप हैं। सन्तों ने माया की ठगिली वादि नामों से सम्बोधित किया है। वहाँ भी तैत्तिरीय वेदा-न्तिक विरोध नहीं है। माया की परिभाषा में नीला भाज्य से उद्धरण देते हुए बाणाय तैत्तिरीय ने स्वयं माया की कष्ट रूप कहा है। यह माया ही ब्रह्म है। इससे उत्पन्न देव से ही जीवन तथा काय ब्रह्म सत्ता से पुनः प्रतीत होते हैं। सन्तों के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने तैत्तिरीय के अविद्या विद्वान्त की सीक व्यवहार के अधिक निकट उतार लिया है, सन्तों के लिए अविद्या केवल शास्त्र वर्ण का विषय नहीं रह गई है। उन्होंने उसे वैदिक जीवन में सर्वसाधारण के लिए अनुभव मध्य और सुलभ बना दिया है। सन्तों ने समाज के लिए बाणाय की प्रतिष्ठा की और बाणाय तैत्तिरीय के अविद्या- विद्वान्त की व्यवहार योग्य रूप देता प्रदान की। ततः उपनिषदों, नीला, ब्रह्मसूत्रों और बाणाय तैत्तिरीय के दर्शन में अनुवर्णन रहता हुआ अतः वेदान्त का भाव सन्तों के काव्य में भी चलता रहा।

माया सम्बन्धी कबीर के विचार ही प्रायः

सभी निर्गुण सन्तों के विचार हैं। यह विचार सम्भवतः भागवत पुराण और तैत्तिरीय के माया से अधिक प्रभावित हैं। इस पर उपनिषदों का उतना प्रभाव नहीं पड़ा। तैत्तिरीय की माया के समान ही कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों की माया भी अनिर्वचनीय है। वह सात्त्विकी की प्रकृति के समान प्रलयधर्मिणी और त्रिगुणातीत भी है और बुद्धियों के क्षेत्र के समान उनकी कल्यात्म साधना में बाधा रूप भी है। उक्त सन्तों की यह माया तत्त्व भाव रूपीति हुए भी कल्याण मात्र है। वह सत्त्व तत्त्व से भिन्न है वहाँ तक मन के विकारों की बात है, उन माया है। इसलिए मन और माया का अनिष्ट सम्बन्ध है, मन के विकार

ही माया के कूटम्बी हैं, कबीर की दृष्टि में संसार के समस्त बन्धन 'माया' हैं। बादर, मान, विषय रस, प्राण मोह, बप, तप, जीम, माता, पिता, स्त्री पुत्र सभी माया के ही रूप हैं। ऐसी माया को त्यागना बाधन नहीं है। बार बार त्यागने का प्रयत्न करने पर भी यह सिफ्टती ही जाती है। यह माया जत जत बाकात सबसे व्याप्त है, जहाँ सब माया का बन्धन नहीं है, वही ब्रह्म ज्ञान है। यह माया लडि से भी पीठी है, संसार में जो कुछ संश्रु किया जाता है, वह सब माया है। कै०-

माया लडि लबी नहीं जाय, फिरि फिरि माया मोहि
तप्टाव ।

माया बादर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म निधान ॥१॥

राम की यह माया प्रसन्न है। संसार के सभी प्राणी इसके लिकार ही चुके हैं, मुनियर, पीर, विगम्बर, बीनी, बीनम, ब्राह्मण, स्वामी, पितर सभी को यह पहाड़ चुकी है। तावतों को तो यह बनाती बिनाहती है। तरि फलतों से लकना बस नहीं बसता^२। बजानी पुराणों की भुताये में डालकर डाल जाती है। धन, धन्धा, व्यवहार सभी माया कीर निपुया है। माया मय मस्त कीर बन्धी कर देने जाती है। जो इसके बन्धन में पड़ जाता है। वह 'दुविधा' में पड़कर जीक प्रकार के वेश धारण करता है। किन्तु उस निरपेक्ष पुराण की नहीं वेश जाता । कै०-

माया के यदि वेश न देत्या, दुविध्या मोहि एक नहीं
देत्या । ५

१-	कबीर ग्रन्थावली	पृ० १२०	पद १००
२-	..	पृ० १५१	पद ३८७
३-	..	पृ० १६६	पद २४२
४-	..	पृ० १८८	पद २६६
५-	..	पृ० २११	पद ३६६

यह माया त्रिगुणात्मिका है। सत्, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त माया निर्मिता सत्ता की वास्तविक रहती है। वेद-
 सत् रज तम ये कीन्ही माया ।
 वापण मक्ति वाप विपाया ॥ १

तत्त्वतः यह माया झूठी है। सारा संसार इसके बन्धन में फँदा हुआ है, राम में रमता हुआ कबीर बानन्ध मग्न है। यथा-

झूठी माया सब जन बाँध्या , मैं राम रम्य सुत पाया ॥ २

माया भारतीय दर्शन का विशिष्ट तत्त्व है। इसे तीन नामों - वसिष्ठा, ब्रम, वादि से अभिहित किया गया है। नीता में माया की प्रकृतिस्वा ब्रम और वसिष्ठा कहा गया है। विशिष्टादेवतादियों ने इसे भिष्याज्ञान कथा क्षेत्र ज्ञान की संज्ञा दी है। देतादेवतादियों, मुखादेव-
 तादियों तथा देतावसिष्ठियों ने माया की प्रकृति की संज्ञा बताया है। यह त्रि-
 गुणात्मिका के अन्तर्गत प्रकृति ही माया है, पर जो माया चैतन्य रूप प्रकृति की ईश्वर रूप में प्रकट करती है। वह सत्त्व गुण प्रधान है, क्योंकि उसमें रवीगुण और तमीगुण का प्रायः अभाव है। कुछ वेदान्ती वाचार्थ प्रकृति की दो प्रकार की मानते हैं- विस्तृत सत्त्व प्रधान और वसिष्ठ सत्त्व प्रधान। फलती की 'माया' कहती हैं, दूसरी की 'वसिष्ठा' फलती ईश्वर की उपाधि है। दूसरी पीढ़ की (पंचमाली १, १५-१६) इतिहास कहा या कहा है कि माया ही संसार की यत्ना रही है, क्योंकि मायापाधि चैतन्य ही ईश्वर है। इही भाव की लक्ष्य करी कबीरदास ने कहा था कि यह रघुनाथ की माया ही है जो लिकार लेने

१- कबीर ग्रन्थामली ५० २२४

२- .. ५० ३२७

३- .. पृ १८७

निकली है और साम्प्रदायिक बालों में केसाकर मुनि, पीर, बैन, जोगी, बंगम, ब्राह्मण और सैन्याधी की मार रही है। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदास का यहाँ 'रज्जुनाथ' से तात्पर्य वैदिकान्तरियों के परब्रह्म से है, परन्तु कबीरदास के यहाँ से जान पड़ता है कि उन्होंने 'माया' की बविषा से क्लेश रुके नहीं देता। वैदिक ग्रन्थों में माया और बविषा की स्फात्मकता के पीछेक भाव्य बहुत से मिल सकते हैं, जो माया ही कबीरदास के मत से जीवों की भ्रमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीर ने हो-लियारी से बजाव दिया था कि 'माया बहन' तु यहाँ से बली जा, कबीर केहने वाला जीव नहीं है। तुझे ही पाट पेटबर बाहिर और बेनारा कबीर कर्मिणी जाति का सुताहा है। माया सत्य ही होइने की नहीं, उसने बजाव दिया 'मई' में तो अपना काम करती ही जाऊँगी अपने साहब की मुक्ति सेना तो देना ही पड़ेगा। कबीर बोले 'माया रानी' कथर नहीं भीज सकता कबीर नहीं दिगेगा। विश मन्त्र की तु मन्त्री है। वह मेरा रत्नाता है बरा भी सेरी और नबर ठाई तो वह नाराव ही जाय, तु और बगह बा। बागि बहकर कबीर पैस में एक और कन्याव जोड़ा गया था। निरिजि विषयक विचार हम देस लुके हैं, माया स्त्री निरिजि की शक्ति है, ब्रह्माण्ड में जो माया है, पिण्ड में नहींपिण्डतिनी है। कृष्णतिनी का ही नाम माया है। बाबाशक्ति है, नागिन है, छानिनिया है और भी कहें नाम हैं। स्त्री नागिन का कुफकार प्रणव है, स्त्री तरह ब्रह्माण्ड में जो वस्तु निरिजि है, वही पिण्ड है मा है, स्त्री को 'नाग' कहते हैं। स्त्री 'नाग' और 'नागिन' ने मिलकर यह सारा प्रपेन लड़ा किया है। स्त्री नागिन की बहरीली कुफकार की प्रणव है। उसकी उपासना में दुनिया पटक रही है। उन्हें जो मार सकता है वही

१- कबीर ग्रन्थावली पृ १८७ 'तु माया रज्जुनाथ की ---- ।

२- .. पृ २७०

विषयी होता है। माया के प्रसुत अस्त्र हैं कंमन और कामिनी। कंमन कटाधी कर देने वाली वह ध्वराति है, जिसके तीभ में जीव संसार का प्रत्येक कर्म करने की तैयार रहता है। उससे उत्पन्न बहिर मानव की दानव बनाने में पीड़ा को वितम्ब नहीं करता, लेकिन यह न भुलना चाहिए कि रावण की भुवर्ण लंका की जलने में किसी देर लगी थी। यही नहीं संसार की संपूर्ण सम्पत्ति कितनी बहिर। कतः नरवर है और चाते समय लाती हाथ 'हेतु छेता बाह' और 'सुरत रावनु किया से गहवा' क्योंकि यहाँ ती प्राणी-मात्र ने ही 'नगि बावनु नगि बाना' है। साक्षात्क सम्पत्ति की सत्ता में कामिनी पीछ का वर्णन किया गया है। जीव ती क्या प्रस लू की विपत्ति कर देने वाली यह स्त्री का कामिनी रूप ही है। जिसे छेती ने और विशेषतः कबीर ने भर फट कोसा है, क्योंकि यही सब दुर्गुणों की तान है, और प्रेम भी ती दी से नहीं किया जा सकता, कामिनी प्रेमी भगवत्प्रेमी नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान् की ती कस्य भक्त की आवश्यकता है न -

नारि नचावे तीन गुन, जो नर पासे होए ।

मथित मुथित निज ध्यान में, फट छे नहीं होए ॥

वीर मानव जीवन में शेष रह ही क्या जाता है ? माया कंमन एवं कामिनी के बाकर्षण से मन को विकृत कर देती है। विकृत मन इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रह उन्हें विषयमायी बनाता है। इसका प्रधान बाधक विजय और वासना ही है, कतः उनका विश्लेषण ही इस विषयपर समुचित प्रकाश डाल छेता 'विलिखा कजह सुरति सुत बाबा' जीव साक्षात्क प्राणी है और उसे

१- कबीर प्रख्यावली पृ० ४८१ पद २१

२- " ४७७ पद ६

३- " ११५७ पद २

४- " ३३० पद ३६

साक्षात्क विनयों में ही कुल की आशा है तो 'कैसे हीर है राधा राम
निवास' 'सतर्क बीव की बनायास ही बासनाओं का सिकार ही बातव है ।
बासनाई मन की रेखा पायी बनाती बातों है कि वह :

'हरि का धियस्तु बादि के अहीरं रासे नारि ।
तो गधहि होलैं बीतरे , पार सबे मन बारि ॥ १

क्या ही नहीं 'जब तन रसु तब लग नहीं
मेह' ^२ 'विनय रस के होते हुए भगवत्प्रेम कैसा ? इसीलिए तो कबीर ने माया
बीर भक्ति दोनों पत्नियों को एक साथ घर में रखने का दुस्साहस न किया ,
बीर भक्ति को बसाने से पहले माया की विलक्षणि बी बी' ^३ । देखास निर-
पेदा कबीर का अनुपुत सत्य किता मरान् है। हमें यह न भूल जाना चाहिए ,
बीर भी बीवन बासना का त्याग कर दे 'सो मने हन्त्र की रे' ^४ 'मुत्तु से
उत्ते वासे बीव की कबीर ने बीर उत्कर्ष किया -

'कहत कबीर होदि विलिवा रस लु संगति निकड भरणा ।' ^५

विनयों के उपयोग का साधन है, इन्द्रियों, जब तक मन पर नियन्त्रण न हो ,
तब तक बीव सत्कर्म में नहीं लग सकता -

'केन कहतवा घर मरि रसु तिन्ह का नहीं पति बारा ॥ ६

१- कबीर ग्रन्थावली श्लोक १७८

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० ३२५ पद २३

३- .. ४८३ पद ३२

४- .. श्लोक १६६

५- .. ६९ पद १

६- .. ३३६ पद ६३

हमका विश्वास ही भी कैसी, जब वासना
 लिप्ता देह हमका आग्रह स्थल है, अतः ये पापि इन्द्रियाँ शरीर के परितार न
 होकर माया के पापि दूतों का कार्य करती हैं। मूलतः जबतक ये ही देह की संज्ञा-
 लित सन्निहित हैं। अतः इन्हें वश में करना आवश्यक है अन्यथा विनाशक यह देह
 में फैल कर उसका ही नाश कर देंगी। इन 'कैवली' की फलक पर जब नाम
 ब्रह्म में लगा दिया जायेगा तभी ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी। अथवा यदि
 जब हमसे प्रभावित न होगा, तभी उसका आध्यात्मिक वाग्वर्ण होना और
 'सिद्ध' से नाहि परम यह दूरे।''

'मेरी मेरी करते बनसु नब्बा' ^१ अर्थात्
 की कहानी यह कहानी ही है। लेकिन हमने भी कुछ बाकी नहीं रह जाता
 और सारा जीवन समाप्त हो जाता है जिसे 'दुल' की खानि ^२ का समझ
 है। उसे सीधे ही यमराज मर्यादा से जाता है। जिसे सुन्दर देह का अभिमान
 है उसे कबोर ने 'नाम लपेटे बाह' ^३ कहकर खतम किया है। और 'कनक
 का भिनी मर्यादुन्दरी पति पति बहु नामि' ^४। इस प्रकार भी अर्थात् का
 अर्थार हुआ है उसे सुवर्ण लीला के मातृक रावण की दुर्बला से परिचित कर
 माया है। यह अर्थात् ही है, जो किचित् प्रतिभा की भी विकृत प्रतिभा
 में परिणत कर देता है और सीधे ही माया से मानव को विनाश के गर्त में
 पहुँचा देता है। वस्तुतः इस अर्थात् की उत्पत्ति माया ही है जिसे यह
 ब्रह्म उत्पन्न कर दिया है। ^५ और उस ब्रह्म के कारण ही मानव गर्व करता है।

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४७६ पं १५

२- .. रत्नक १६६

३- ३७

४- .. पृ० ११२४ पं ५

५- .. ८५७ पं ६

‘ रावण हूँ अधिक ज्ञापति तिन में ही नये विज्ञात ’ । कबीर कबीर ने
 कहा है ‘ कहा नर नरवधि बीरी बात ’ इस कई पे ही ‘ तात्पर्य ’ भुण विचार
 ‘ महामय ’ बादि संपूर्ण दुर्गुणों के साथ साथ विवेक सर्व ज्ञान भी नष्ट हो जाता
 है, क्योंकि ‘ कई बुद्धि का बाहिरी रे ’ इस माया के प्रम में दिव्यता
 भरी कबीर करते ‘ बन्धन गहरी वह बलानी बलकारी जीव ’ तिन महि विनधि
 जाह । ‘ बहिमानों को ऊँचे लड़े, उध बाँध की तरह काया, जो पार्श्ववर्ती बन्धन
 की पुण्य की प्रवण नहीं करता । इसके लिए उपयुक्त साधन भी बताया है ।
 ‘ काम करत बधे बन्धन ’ बीर न केवल ‘ तनि का का बहिमान ’ का के रे
 रोहि की, जो पथिक को हुये, बन्धु इतने नम्र भी की, कि धरनि नहि लेह
 बीर आत्म समर्पण के लिए तो इस कई का निताम्न विवरण आवश्यक है। क्योंकि

‘ मैं नाहि कहूँ बाहि न मोरा ।

तनु धनु समु रघु गोविन्द तेरा ॥ ’ ६

इस कई के नष्ट होने पर ही भगवत् कृपा होने
 बीर सभी जीव ‘ तनु पदानि ’ लेना बीर उद्योग विस्ती का प्रयत्न होगा-

परहरा लीन बर लीका जाह ।

परहरा कामु, ओधु कई कार ॥ ’ ८

-
- १- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२५१ पं १
 २- .. पृष्ठ ४७२ पं १५
 ३- .. पं ६० पृष्ठ ३३६
 ४- .. श्लोक १२
 ५- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३२४ पं ६
 ६- .. श्लोक १४७
 ७- .. पृष्ठ ३३६ पं ६०
 ८- .. पृष्ठ ४८० पं ७

किस मन का दुर्गुणों के माध्यम से ही तो जीव को परमात्मा है और उन्हें ब्रह्म ज्ञान से दूर अज्ञान में फँसाये रखा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि विकार ही तो मानव को सब ग्रस्त कर देते हैं और वही लिए तीव्र ही उन्हें काल का ब्राह्म बनना पड़ता है। 'पाप करता मरि नरका' और सत्कर्मों के बिना दुष्कर्मों से जीवन का भार बढ़ता जाता है और यह पुनर्जातना भारी हो जाता है कि मानव भवभानु के पार नहीं पहुँच पाता। इस प्रकार दुष्कर्म एवं दुर्गुण ही मानव के जीवन के लिए ब्राह्म के समान हैं।

‘कद’ का वास्तव

जीवनारक्षित तथा ज्ञान रूप हीन पदार्थ ही ‘कद’ है। उसका प्रतियोगी शून्य है, ‘चेतन’ जिसमें जीवन और काल निश्चित रहता है। उद्य पदार्थ को कद वस्तु कहते हैं जो-

१- किसी ज्ञाता की अनुप्राप्ति में न रहता हुआ भी स्वतन्त्र रूप से रहता है।

२- जिसे स्वयं किसी प्रकार की अनुप्राप्ति नहीं होती।

३- जो स्वयं ज्ञान रूप तथा चैतन्य रूप नहीं होता।

उदाहरण के लिए अज्ञान काल से स्वप्न में पड़ा हुआ वह हीरा जिसकी न तो स्वयं किसी प्रकार की अनुप्राप्ति है, जो न किसी दूसरे की अनुप्राप्ति का विषय है और न स्वयं चैतन्य रूप है।

‘जड़’ और ‘चेतन’ का सम्बन्ध

जड़वादी तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि प्रत्येक वस्तु जब चेतनावस्था या जीवितनावस्था में जाती है, उससे पूर्व वह अचेतनावस्था या अजीवनावस्था में रहती है। प्रत्येक पदार्थ की पहली स्थिति जड़ और दूसरी चेतन हुआ करती है, पदार्थ का यह चेतन रूप, उसके निर्माण जड़ रूप का ही परिणाम है। इसलिये मुक्तः जो पदार्थ जड़ होता है वही चेतन या जीव बनता है जो चेतन वस्तु है वह ज्ञानयुक्त बुद्धियुक्त और अनुभूतियुक्त है। इस दृष्टि से सर्वमान्य चेतन दृष्टि में मनुष्य सबसे ऊँचा है, किन्तु न तो उसकी शायत कहा जा सकता है और न सर्वव्यापी ही। वह तो इस सीमित क्षेत्र कात से परिधिष्ठित नरवर एवं स्वदेशीय है, क्योंकि उसका निर्माण ही ऐसे तत्त्वों से हुआ है। फल पत्ती और मनुष्य आदि ‘चेतन’ दृष्टि में जाते हैं और वनस्पति तथा हस्त रूप वस्तुएँ ‘जीव’ दृष्टि के अन्तर्गत जाती हैं। जीव उसकी कहते हैं जो गतिशील है, उत्सर्ग करने वाला है और अपनी जैसी दूसरी वस्तुओं को जन्म देने वाला है।

यह ही आत्मा है

किसी जीव पिण्ड या चेतन पिण्ड का परिणाम करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसका निर्माण विभिन्न जड़, द्रव्यों के मिल से हुआ है। इन जड़ द्रव्यों के मिल से ही जीव प्रकार की संस्थाओं का निर्माण हुआ है। इन कार्य करने वाली ‘संस्थाओं’ में मन भी एक है। वही मन शरीर और आत्मा दोनों है। शरीर और आत्मा वस्तुतः दो नहीं हैं, क्योंकि जिसे हम जीव शक्ति या आत्मा शक्ति कहते हैं वह शरीर से अलग नहीं है, जड़वादी विचारकों का सिद्धान्त है कि शरीर के पैदा होने

ये कहते हैं कि शरीर के नष्ट होने के बाद आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इसलिए जबकि शरीर के नष्ट हो जाने पर प्राण तथा आत्मा भी विनष्ट हो जाते हैं। तब पुनर्जन्म का सिद्धान्त बनता ही नहीं है। 'मुत्सु' के बाद 'कर्म' के अनुसार 'जीवात्मा' विविध योनियों में जन्म लेता है, जन्मा धर्म कर्म के कारण स्वर्ग में जाता है और पापान्तर के कारण नरक में जाता है। ये सब कल्पान्त में मिथ्या हैं।

ज्ञान एवं मस्तिष्क सम्बन्धी विकास की जो चारों प्रत्यक्ष श्रेणियाँ होती हैं। वे सभी शरीर के विकास पर निर्भर करती हैं। शरीर का बिना ही कम विकास होना ज्ञान भी उतनी ही कम मात्रा में विकसित होना। संयुक्त मनीषित्वाना ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर है। उन ज्ञानेन्द्रियों के विकसित हुए बिना अन्तर्ज्ञान तथा आत्मा के विकास का मार्ग सीमित नहीं। इसीलिए शरीर से भिन्न कोई आत्मा या मन नहीं।

कबीर का दृष्टिकोण

कबीरजी इस अध्याय के अन्तर्गत कबीर के दार्शनिक दृष्टिकोण पर विचार किया गया है। कबीर ने अपनी पदों तथा भावियों में किसी एक विचारधारा का प्रतिपादन नहीं किया है, बल्कि उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि में जो कुछ भी अच्छा लगा, उसे उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का विषय बनाया।

कबीरदास जी के मन से ऐसा कि हम जाने देखें। ईश्वरवाद, विनिष्ठाईतवाद, अद्वैतवाद, दंत- अद्वैत, विलक्षणवाद आदि कई परस्पर विरोधी मतों के समर्पण हो सकते हैं, पर इस विरोध का

कारण कबीरवाद के विचारों की बस्तिरता नहीं बल्कि यह है कि वे भगवान् को अनुभूतगम्य और निश्चितार्थी तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियों का आधार समझते हैं। क्योंकि हीन दृष्टि से जो बातें परस्पर विरोधी होती हैं वही हीन भगवान् स्वरूप में वे सब एक होती हैं यह बात भक्ति की दृष्टि में नहीं है। भक्त तीन एक ही साथ भगवान् के लिए कई परस्पर विरोधी विशेषताओं का व्यवहार करते हैं।

कबीर के धार्मिक विमर्श का बीज कहा ही जा सकता है, उनका मत किसी धर्म विधि की पर्यायों से हीन न होकर सर्वव्यापी या और बड़ी कारण है कि जबकि उनके मत निरूपण का हीन प्रसंग है, किन्तु फिर भी उन्होंने अध्यात्म धर्म में प्रसिद्ध मत निरूपण की पद्धतियों की नहीं पर भी उल्टा नहीं की। अपने मत का निरूपण करते समय कबीर नहीं एक और उपनिषद्, योगियों के चित्तवाणवाद, बाँद, शिव तथा मुख्य वाद वादि विविध विचारधाराओं से प्रभावित हुए वहाँ उन पर इस्लामी ऐश्वर्यवाद तथा मुक्तियों के इस वादि का प्रभाव भी किसी भी बात में कम नहीं माना जा सकता।

कबीर के धार्मिक विचारों में समाहित होकर कुछ विद्वानों ने उनके विचारों को अज्ञान और अंधविश्वास माना है, किन्तु इस प्रकार की विचारधारा की प्रतिस्थापना हमारे विचार में उचित नहीं जान पड़ती। क्योंकि हीन कबीर की विचारधारा के हीन दृष्टिकोण से अध्ययन करने का परिणाम माना जा सकता है।

कबीर की दृष्टि विश्व में एक ही सत्य सत्त्व की हीन हीन रूप में हीन प्राप्त है। वे विश्व की सभी नाम रूप,

वात्म तत्त्व, सत्य तत्त्व, सब कुछ बाह्यात्मिक स्वरूप से वास्तव मानते हैं, मानवीय जीव की अज्ञान से घिर गया था, यह अपनी वार्सनिक तत्त्वों द्वारा प्रकाशित करना चाहते थे, सृष्टि- निर्गुण , व्यक्त , अव्यक्त आदि शब्दों द्वारा बनने के लिए व्यक्तियों के हेतु हैं जबकि सत्य रूप में निर्दिष्ट है। यह वात्म-तत्त्व परम सत्य की भाँति अव्यक्त , निर्दिष्ट , व्यक्त , अज्ञेय हैं, यह संपूर्ण विश्व में व्याप्त तत्त्व का सम्मेलन है।

कबीर के वार्सनिक दृष्टिकोण का संक्षेप

यों की उपर्युक्त विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि निर्गुण कवि वेदान्त के अर्थ में अद्वैताधीन नहीं थे। ब्रह्म और जीव की अविच्छिन्नता का प्रतिपादन करते हुए भी अपनी मूल और विचारों की निर्गुण, सृष्टि, देव और अद्वैत से परिचित थे, कबीर और निर्गुण कवियों ने ब्रह्म , जीव और माया के सम्बन्ध में पुरानी शब्दावली का व्यवहार अवश्य किया है, परन्तु उनकी वार्सनिकता के विषय में अपनी बात स्पष्टता और सरलता से समझायी जा सकती है। उन्होंने अपनी दृष्टिकोण में अर्थात् अन्तर दिखलाया है। ब्रह्म और जीव की अविच्छिन्नता का प्रतिपादन जानी मन्तव्य में एक नवीन वास्तव वास्तविक और विराटता का अनुभव कराता है।

कबीर का कथन है कि मनुष्य एक लघु, लघु और विश्व प्राणी न होकर स्वयं ही केशव और विष्णु होने का विश्वास कर सकता है। नश्वर शरीर के न होने पर अपनी अज्ञात आत्मा के कारण शरीर की पाण मंगुरता का भाव उनमें पाणभर के लिए निराशा या उत्साह-हीनता का संसार नहीं कर सकता जिस प्रकार माया संसार की नश्वरता पर

फर्मा डालती वीर बीम की अज्ञान मार्ग वीर सम्भार में घटकाये वाली एक मन की कल्पना मात्र नहीं बल्कि कबीर के मत में वह एक, कामिनी, तथा मन की एक दुर्गाछाया का स्फुट प्रतीक है, जो हमारे मित्य बीमन में प्रतिपाद्य हमारे विचार वीर आचरण को प्रभावित करती रहती है, जिसके कारण हम अपनी महान् वीर पारमार्थिक रूप की मूल सद्गुण वीर शक्ति शरीर के स्वार्थ की प्रति के लिए दुःख करता है कि एक बीमन वीर मनु को नश्यत सम्पन्नकर न निराश होना है, वीर न माया प्रेरित वाक्यान्तों से डार मानना है, बल्कि माया के सभी मोहक बन्धनों को उच्छिन्न कर आत्म स्वरूप की उपलब्धि करना ही कबीर का पारमार्थिक दृष्टिकोण है।

...

अष्ट अध्याय

सांस्कृतिक - जन-चेतना

- १- संस्कृति का सांस्कृतिक कार्य
- २- संस्कृति के विभिन्न स्वरूप और विशेषण
 - संस्कृति और साहित्य
 - भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ
 - (क) विरचनता
 - (ख) वाच्यता
 - (ग) सांस्कृतिक जीवनक्रम
 - (घ) लोकमूल की भावना
 - संस्कृति और सभ्यता
 - संस्कार
 - संस्कार का सांस्कृतिक कार्य
 - संस्कारों का उद्देश्य
 - (क) व्यक्ति का पूर्ण विकास
 - (ख) नीतिक समुद्रता
 - (ग) वाच्यता
 - (घ) नैतिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति
 - (ङ) अनुभव आधारों के धारण
 - (१) वर्ण संस्कार
 - (२) उपाय संस्कार
 - (३) बोध के प्रकार
 - (४) विवाह संस्कार

द्विरात्मन
 सुखानरात
 कल्पयेष्टि संस्कार
 उत्सव और त्यौहार

(१) धार्मिक पक्ष
 रत्न सदन
 वैष्णव
 पुस्तकालय के वस्त्र
 नारियल के वस्त्र
 लुगाए प्रसाधन और वाष्पकरण

ज्ञान पान का स्वरूप

(क) निराभिष्ट भोजन

(ख) धार्मिक भोजन

धर्म पदार्थ
 पान सुपारी
 वैष्णव और भावनात्मक पक्ष
 विचार और कर्म का समन्वय
 याति के विश्वास और वास्तविक
 कबीर का दृष्टिकोण
 सादा जीवन उच्च विचार
 निष्कर्ष

संस्कृति का सामाजिक अर्थ

‘सम्’ उपसर्ग पूर्वक ‘कृ’ धातु से भूषण अर्थ में ‘सृष्ट’ का आगम करते ‘सिष्णु’ प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द व्युत्पन्न होता है, इसका अर्थ होता है- भूषणभूत सम्पत् कृति, इसलिए भूषणभूत सम्पत् कृति या सृष्ट ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार भूषणभूत सम्पत् कृतियों का संपूर्ण सौंदर्य संस्कृति का सौंदर्य है। मनु- पराधीनता के विरोध में जीवन की सृष्टि ही सामाजिक ही हुवा करती है। उनमें सम्पत्, वस्तु, धन, आदि में नहीं किया जा सकता। मनुष्य जीवन में ही जीवन अर्थ करने में स्वतन्त्र माना गया है। मनुष्य सम्पत्, वस्तु, धन, आदि की सृष्टि करने में समर्थ होता है, इसलिए सम्पत्, सृष्ट या कृति संस्कृति का प्रयोग मनुष्य के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य की भूषणभूत सम्पत् कृति या सृष्ट ही संस्कृति है, जिस सृष्टियों के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त सौंदर्य में उत्पत्ति करता हुआ सृष्ट सामर्थ्य प्राप्त करे, ये सृष्ट ही उनके लिए भूषणभूत सम्पत् सृष्ट ही कही जा सकती है, अर्थात् मनुष्य सामाजिक, आर्थिक एवं सामाजिक उत्पत्ति के अनुसार सृष्ट ही उनकी भूषणभूत सम्पत् सृष्ट है या मनुष्य की वैयक्तिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी सौंदर्य में सामर्थ्य प्राप्त करने के अनुसार वैयक्तिक मनुष्य, वित्ताधिकार की सृष्ट ही उनकी भूषणभूत सम्पत् सृष्ट या संस्कृति है।

वैयक्तिक जीवन के समस्त सृष्ट, आचार के सौंदर्य में जीवन का सृष्ट वित्ताधिकार की सृष्ट, विचार के सौंदर्य के अन्तर्गत कही जाती है, इसीलिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के सामर्थ्य प्राप्त करने के अनुसार वैयक्तिक मनुष्य, वित्ताधिकार की सृष्ट ही उनकी भूषणभूत सम्पत् सृष्ट या संस्कृति है।

वर्तमान प्रचलित भाषाओं में श्रीजी 'कल्पर' शब्द के लिए 'संस्कृति' शब्द व्यवहृत होने लगा है। 'वासिष्ठी' शब्द की तरह 'कल्पर' शब्द का भी अर्थ बहुत व्यापक होने पर भी उसके लिए 'संस्कृति' शब्द अच्छा मढ़ा गया है।

यह वर्तमानास्त्र का धिदान्त है कि संस्काररूपी बीज के ही अनुसार कर्म रूपी वृक्षा उत्पन्न होता है। हमारे जैसे पूर्व संस्कार होंगे, वैसे ही हमारे कर्म बनेंगे। किसी भी जाति कल्पा राष्ट्र के सिष्ट पुरुषों में विचार बाकी ही एवं क्रिया का जो रूप व्याप्य रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।

संस्कृति शब्द का प्रचार तो वाञ्छित बहुत है परन्तु इसके अर्थ का बोध उस मात्रा से बहुत कम है। साधारणतः तो लोग इसका प्रयोग सभ्यता के अर्थ में करते हैं, सभ्यता और संस्कृति साथ साथ रहने पर भी बहुधा यह शब्द विन्यास कलात्मक मात्र होता है।

सभ्यता और संस्कृति सर्वथा असम्बद्ध न होती हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं, संस्कृति आन्तरिक, सभ्यता बाह्य तत्त्व है। संस्कृति की अपमाने में देर लगती है, परन्तु सभ्यता की उपः नकल की जा सकती है। अक्रान्ति का वाचिम निवासी कौट कतलून पकन सकता है, झूरी पिकन डंग के बंगलों में रह सकता है, कल कारताने पत्ता सकता है, फिर भी उसका संस्कृति स्तर बीज जैसा ही जाय, यह आवश्यक नहीं है, धीती कर्ता पकन लै, बासन पर बैठकर बाल रीटी लाने, फास की मारीप्ली में रहने और बर्ता पत्ताने से ही भारतीय संस्कृति का रंग नहीं बदलता, संस्कृति का सम्बन्ध निश्चय ही

धार्मिक विश्वासों से हैं। एक ही धर्म के अनुयायी एक दूसरे के बहुत निकट खिंच जाते हैं, परन्तु ऐसा नियम नहीं है कि ऐसे लोगों की संस्कृति एक ही होगी। बंगाल के मुसलमान की संस्कृति सीमा प्रान्त के पठान की संस्कृति से भिन्न है, वरुण बंगाल के हिन्दुओं से अधिक भेद लाती है।

यूरोप के रस्ते जाते हैं, यही मुसलमान, लोगों की संस्कृति प्रायः एक ही है, यद्यपि वे तीन विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं। संस्कृति समष्टिगत समान अनुभूति से उत्पन्न होती है, एक ही कलायु में पाये, एक ही प्रकार के निरि, निर्भर, नवी, सामर की देखी जाते एक ही प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक घुस घुस की भी हरे लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक ही होगा, उनको सामाजिक आचार और धार्मिक-आचार भी प्रायः एक ही होंगे।

बाहुल्य के उदय का प्रकाश होता है, कवि, नाट्यकार, कथा लेखक लोगों के अन्तस्सत्त में प्रेरित होने वाले तारों की स्वरूपही को बाध्य कर देता है, यदि वह ऐसा करने में असमर्थ होता है, तो उसकी कृति दुर्गम, अस्पष्ट और लोक में अप्रिय रह जाते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि जिन लोगों की अनुभूतियाँ एक ही होंगी, उनमें बाहुल्य भी एक या एक ही होगा, यही कारण है कि रहीम, जागसी, रसमान, कबीर मुसलमान होते हुए भी लोकप्रिय हो गए। परन्तु नसीम या दूसरे उर्दू कवियों की रचना जाह से हिन्दी ही रहे हों यदि वे नगरवासीयों तक ही फैलेंगी। समान अनुभूति धर्म भाव में भी समता उत्पन्न कर देती है, ईश्वर भले ही एक ही, परन्तु वह सब भी है और और भी, संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहती है जिससे कोई समुदाय विशिष्ट जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निर्णीय करता है। भाव की अनुभूति है, वह कल संस्कार के रूप में अवस्थित रह जायेगी

वीर कल की अनुभूति, सम्भवतः दुधरे डंग को चीनी, इसलिए दृष्टिकोण भी बलवान् बना, दुधरे तर्कों में यह समझ लेना बाहिर कि लम्बी कसर की भाँति संस्कृति निरस्त, एक रूप पार्थ नहीं होती, वह बलवती रहती है, जब हम किसी देश या राष्ट्र की संस्कृति की बर्बाद करें तो उस काल विज्ञान का भी उत्थान कर देना बाहिर जो हमारे ध्यान में है, क्योंकि हमारा कर्म निरर्थक होगा।

यूरोप तो नहीं है, परन्तु आज से 400 वर्ष पहले की संस्कृति और आज की संस्कृति एक दुधरे से बहुत भिन्न है। 1848 के पूर्व और उसके बाद के एक की सांस्कृतिक अवस्था में वास्तव पाताल का दौर है। ऐसी दशा में यूरोपियन या कभी संस्कृति कल्पने से किसी निश्चित भाव का बोध नहीं हो सकता, ऐसी प्रयोग करने में सरल लगते हैं, परन्तु भ्रामक होते हैं, परन्तु एक कर्म का तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृति वास्तवों से बदलते जा सकती है, जो वास्तव संस्कृति की संचाली हैं, उनमें क्या स्यात् किये जाता है कि संस्कृति की बहुत कुछ अपरिवर्तनीय रहती है, देश का बलवान् बलवती हो नहीं, न उसके भौगोलिक या दुधरे प्राकृतिक दिग्दर्शनों में परिवर्तन होता है, देश के राजनीतिक इतिहास और वार्षिक संघटन के बनाने में बहुत कुछ हाथ उसकी भौगोलिक स्थिति का होता है। इसलिए घटनाओं में उलटफेर होते हुए भी राजनीतिक और वार्षिक जीवन की स्पर्शा भी बहुत कुछ एक ही होगी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्मृति, पुरानी सामाजिक अनुभूतियों के संस्कार भी संस्कृत की बलवती बदलने से रोकेंगे, राजनीतिक, सामाजिक और वार्षिक क्रान्ति भले हो ही जाये और एक बार वर्तमान और कल के सम्बन्ध की विच्छिन्न भी कर दे, परन्तु कुछ काल में जब क्रान्ति के चक्करों का तेज कुछ धीमा पड़ता है, तब पुरानी स्मृतियाँ फिर वापस लगती हैं और संस्कृति की धारा की

फिर पुराने मान की ओर से जाने का यत्न करती हैं। शान्ति का संस्कार मिटाया नहीं जा सकता, परन्तु नये के नये पल में पुराने की भावना का जाति है।

इस प्रक्रिया में ही हम भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं। भारतीय जनता में हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है और मध्य देश इनका केन्द्र स्थान है। वैदिक और पौराणिक काल के हो नहीं प्रसृत वर्तमान काल तक की प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाएँ इसी भू-भाग में घटीं और प्रायः सभी आदरणीय व्यक्तियों का यही कार्य क्षेत्र था और है, यहाँ रत्ने वालों की बहुत कुछ संज्ञान कुम्भों का सामना करना पड़ा है, इन कुम्भों से जो संस्कार बने हैं, लोगों के विचार बैसे सांख्य में बसे हैं, उनका पीतन संस्कृत में होता है। प्रादेशिक भाषाएँ भी एक ही प्रकार के भावों से स्फूर्ति पा रही हैं, इस प्रमाण इस बात से मिलता है कि तुलसी और बुरा मोरा और कबीर, नरसी, राम दास और तुकाराम, प्रेमचन्द और लोन्गनाम डाकू की सारा देश अपना मानता है। इस संवेदना साम्य के सबसे बड़े प्रतीक है जो हमें महात्मा गांधी हुए हैं। उनकी वाणी में भारतीय धृष्टि अपनी सम्पन्न की प्रतिध्वनि सुनता था।

संस्कृति तब की ठीक समझने के लिए उसके कुछ निश्चित अवयवों की समझना आवश्यक है। कुछ अवयव सब संस्कृतियों में सामान्यरूप से मिलते हैं और कुछ बड़े भिन्न भिन्न संस्कृतियों में कलक कलक मिलते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार संस्कृति के पाँच अवयव हैं। वे हैं- धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण तथा रीतिरिवाज।

“संस्कृति” शब्द का तत्त्वार्थ धर्म, विद्या,

जादि की उत्पत्ति है। वस्तु वाक्यार्थ संस्कृत शुद्ध करने की क्रिया है। प्राकृत वस्तु जिस रूप में साधारणता से प्राप्य है, उसे संस्कृत नहीं कहा जा सकता, जिसो मूल धातु से शुद्ध शुद्ध तत्त्व निकालने की क्रिया का नाम संस्कृति है, एक छोटी छिटी की संस्कृत करने से भावतु ताम्र मिल जाता है, वैसे ही मनुष्य जाति के मूल धातु से संस्कृति द्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्राप्ति होते हैं। संस्कृति की उत्पत्ति के विषय में कुछ मतभेद हैं, इस विषय पर इतिहासकारों की वाद-प्रतिवाद करने का कष्टा व्यर्थ मिला है। फिर भी संस्कृति का रूप और मूल्य इसकी उत्पत्ति के प्रश्न से क्लेश बात है। कुछ लोगों का कहना है कि ताम्र वारम्भ में शुद्ध रूप में उत्पन्न हुआ और धीरे धीरे कटु होकर छोटी छिटी बना, जिसे फिर संस्कृत करने पर ताम्र पुनः अपनी शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो गया। दूसरे लोग कहते हैं कि संसार में शुद्ध ताम्र कहीं नहीं मिला है फलतः उसका प्राकृत रूप छोटी छिटी ही है। उस छिटी को संस्कृत करके प्रकृति की नीट में बिपा हुआ शुद्ध ताम्र तत्त्व निकाला जा सकता है। प्रायः दोनों दृष्टियाँ अपनी प्रमाण के उपाय को सीमावर्ती में बन कही जा सकती हैं, वही तरह कहा जा सकता है कि पुरुष वारम्भ में देवता के समान था, फिर भी कहीं तक हम लोगों का प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, हम देखते हैं कि मनुष्य जाति के मूल अवस्कृत मूल से ही संस्कृति द्वारा शुद्ध संस्कृत भाषा एवं विद्वानों संस्कृत बनते हैं।

मनुष्य जाति का इतिहास समझने के लिए भारतीय संस्कृति महत्वपूर्ण है। क्योंकि भारतीय संस्कृति की होड़कर कोई भी ऐसी दूसरी संस्कृति नहीं है, जो मनुष्य की उत्पत्ति के समय से आज तक बलवत् धारा में बहती जायो हो। इन धर्मों का आधार सनातन धर्म भारतीय धर्म ही है। धर्मानुसार समान के स्वरूप की रक्षा केवल भारत में हुई है। इसके स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में ऐसे गुण होने अनिवार्य है, जिनमें संस्कृति

की रक्षा होती है, संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इसे उनके उन सब संस्कारों का बीध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामा-
जिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है, यह विशिष्ट मानव-मह के उन उदात्त
गुणों को सुवित्त करता है, जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह
को विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिन पर उनके जीवन में अधिक जोर दिया
जाता है। दृष्टि दोष के कारण कदाएँ हम संस्कृति के मूल अनुबन्ध को न
समझ सके के कारण उनके छिद्रान्वेषणी बालीक यह बाध करती हैं कि
भारतीय संस्कृति स्वर्णों और कल्पनावर्णों की वस्तुस्थिति भूमि पर लड़ी है और
जन्म की ठीस भूमि से उसका सम्बन्ध ही मिट गया है। यह सर्वथा मिय्या
धारणा है। भारतीय संस्कृति लड़ी तो नहीं भूमि पर है, परन्तु उसका धिर
बाकात की ओर उठा है। मानव जलता जमीन पर है, पर देस्ता चापनी या
ऊपर है, उसका धिर ऊपर की ओर उठा है, भारतीय संस्कृति भी जीवन
के बहकड़ों के अन्तरिक्ष को भेदकर उसी अन्तः रहस्यों को जानने के लिए
विकसित हुई थी, यह शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि थी, उसी कथ्यात्म विद्या में जो
उन्नति की थी, उसमें पदार्थ विद्या की उपेक्षा न थी। फिर भी उसने
पदार्थ विद्या, शासन व्यवस्था, समाज व्यवस्था, कर्म विद्या, शरीर शास्त्र ,
चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्ध विद्या, वन विज्ञान आदि भीतिक विद्याओं
के दौड़ में कुछ कम प्राप्ति न की थी, वह वायु विज्ञान की उदात्तता से समय
की दूरी के अध्ययन पर विषय प्राप्त कर ली थी, वह सूर्य विज्ञान के द्वारा
वस्तुओं के रूप की सुरन्ध्र कहत देने, एक जाति के पदार्थ की दूसरी जाति में
कहत देने, लोहे को धोना करने और मृत्यु पर भी एक सीमा तक विषय प्राप्त
करने में समर्थ हुई थी , उसकी समाज व्यवस्था में व्यक्ति के विकास की संपूर्ण
सुविधाओं के होते हुए भी समाज या समूह के अन्तिम हित की भावना प्रगट
थी, उसकी कर्म विद्या , समाज के शीघ्रता का कारण न बनकर उसी संरक्षण

वीर संघर्ष का साधन बन की थी। जन ने जीवन पर प्रभुत्व न प्राप्त किया था, वृद्ध योगियों ने शरीर की कौन-सी शक्तियाँ एवं शक्ति संस्थाओं का ध्यान लगाया था। जिनका ज्ञान बाह्य शरीर शक्तियों की कमी तक नहीं लग सका है, जैसा किसी भी धर्म में होने पर भी वे उनका उपयोग नहीं जान पाए हैं, जीवन काकोई ऐसा दोष नहीं था, जो उन्हें बहुत हीदा ही, ही एक बात जरूर थी, कि सब आत्माएँ जैसा विज्ञानों के पुत्र में उसी परम गुरु-साथ या आदर्श की प्रेरणा थी। सब विचारों उसी वीर प्रभावित थी, सकल बाधाएँ नहीं थी कि जन का यह आध्यात्मिक बाधा ही भारतीय संस्कृति की विशेषता थी। मानव समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। एक की हम केन्द्रीभूत (सेन्ट्रीफ्यूटल) प्रवृत्ति कहते हैं, वीर दूसरी की वृत्ती-भूत, फैली परिधि या वृत्त से केन्द्र बिन्दु की ओर जाती है, वह कहें रहे, केन्द्र के साथ वह बंधी है, केन्द्र में ध्यानस्थ है। दूसरी वह जो केन्द्र से परिधि की ओर जाती है, भारतीय संस्कृति अपने पुत्र रूप में केन्द्रीभूत रही है, वह अन्त में रहकर भी आदर्श-भूत है, वह बाहर रहकर भी अन्तःस्थ आत्मस्थ है, इसके विरुद्ध पाश्चात्य संस्कृति बाह्य प्रवृत्ति है। वह बाहर की ओर जाती है। केन्द्र से दूर फैली की ओर उसकी प्रवृत्ति है। इन दो विभिन्न प्रवृत्तियों से दो संस्कृति का जन्म हुआ है। जब प्रवृत्तियाँ पुनः विभिन्न थीं तो उनको साधना के रूपों में भी विभिन्नता आयी, भारतीय संस्कृति बाह्य प्रवृत्ति हुई, उसमें अन्तर्भूतियों के उत्कर्ष पर जोर दिया गया। उसमें समाज की प्रतिक्रिया या घटक से आत्म हृदि की वाता फलित की गई। उसमें व्यक्तित्व के जीवन की त्याग की ओर बढ़ाया गया, क्योंकि त्याग ही आत्म नियन्त्रण एवं आत्म हृदि के बिना समाज के घटकों में सत्के सामाजिक कल्याण की भावना तथा तदनुसृत बाह्य प्रवृत्ति का होना कठिन है। इसके विरुद्ध ग्रीक या पाश्चात्य संस्कृति अन्तर्भूत के सामाजिक आधार पर अधिक जोर देती है। समाज के उद्देश्य

मुख्य उद्देश्य है। वात्स्य तुदि के मुख्य दृष्टिबिन्दु पर जोर न देने के कारण वहाँ
 व्यक्तिगत और सामाजिक वाचरण या नीति में बहुत बड़ा अन्तर आ गया ,
 और धीरे धीरे संस्कृति विकृत होकर नष्ट हो गई , जब व्यक्ति स्वयं सुधार
 स्वयं दीन विचारण की ओर से उपासीन होकर समाज के उबार का प्रयत्न
 करता है, तब संस्कृति का विकृत एवं प्रष्ट होना स्वाभाविक है। विषा धन
 और शक्ति की कमी हमारे यहाँ नहीं की गई । उनकी आवश्यकता बंसेत
 दर्ज के व्यक्ति, वर्ग या समाज की है, पर इनका उपयोग मुख्य किस प्रकार
 करता है। उसे देखकर ही उसकी संस्कृति का अनुमान लगाया जाता है। राजपूत
 के समान विद्वान् होने पर भी कोई विषा और शक्ति का दुरुपयोग करता है,
 उसे कोई उच्च संस्कृति का नहीं कहता । पश्चिम के बड़े बड़े वैज्ञानिक अत्यन्त
 पर्यंर आविष्कारों के द्वारा मानव जाति के भविष्य को खारे में डाल रहे हैं,
 यह विषा का व्यभिचार है। उसे संस्कृति नहीं कह सकते, विषा धन और शक्ति
 के उचित उपयोग के लिए हो हमारे यहाँ उसे आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित
 किया गया था । यह सभी आध्यात्मिक अधिष्ठान का परिणाम है कि मनु-
 स्मृत के शब्दों में ' प्राचीन वंश विनष्ट हुए परिवारों का श्राव हुआ, नये
 साम्राज्यों की नींव पड़ी , किन्तु इन वाङ्मयों और कल्पनों से हिन्दुओं
 के आन्तरिक जीवन में परिवर्तन नहीं हुआ , एन बीते गये हैं, प्रान्तियाँ
 और सभ्य प्रान्तियाँ हुई हैं, नई जातियाँ बाहर से आयी हैं। किन्तु भारतीय
 संस्कृति की मूल धारा, आज तक बही है- वात्स्य तुदि त्याग और तप के जीवन
 द्वारा अपनी सामाजिक संस्कृति की सिद्धि । हमारे धर्म में, हमारे समाज
 व्यवस्था में ,हमारे शिक्षा क्रम में, हमारे चिकित्साशास्त्र में, हमारे साहित्य
 और हमारी कला में जीवन की ऐसी उदात्त कल्पना और संस्कृति की धारा
 है, अन्धकार से उठकर प्रकाश, अज्ञान से ज्ञान और मृत्यु से अमरत्व के श्रोत की

कीर यात्रा करने की वृत्ति जीवन की शक्तिता त्याग में आत्मार्पण में वसी की देने में है- यही सम्यक्त हमारी संस्कृति का सम्यक् है, भारतीय संस्कृति के मुख्य की निम्न लिखित हैं :

१- हंसरीय सत्ता

२- हंसरीय न्याय

३- कर्मकतानुसार सत्ता

४- गुण कर्म स्वामानुसार समाज व्यवस्था

इन चारों में कल्यात्मवाद जीतप्रीत रहता है, क्योंकि कल्यात्म दृष्टि से सब प्राणियों में एक आत्म तत्त्व विद्यमान है। ऐसा मानकर हमारी संस्कृति चलती है, क्योंकि हमारा भारतीय समाज-वाद आत्म तत्त्व की समता के आधार पर चलता है। समाज हुंसी रहे यही हमारी संस्कृति का मूल उद्देश्य रहा है-

‘स्वा वास्यस्मि सर्वं यत्किञ्चित् कृत्यामयात् ।

तेन व्यभतेन मुञ्चिथा वा नृपः कस्यदिनम् ॥ १

मनुष्य की रचना त्रिगुणात्मक तत्त्व- सत्व, रज, तम के आधार पर की गयी है। मनुष्य के कर्मफल उसकी अन्त वासनाओं के कारण अन्त है। कर्मानुसंग ही सुख दुःख आते हैं, भारत का सब कुछ सी गया , पर कल्यात्म बना रहा, क्योंकि भारत बना रहा, विदेशी संस्कृतियों का आक्रमण होते रहने पर भी बाहर बाहर तो वह कल्यात्मवाद बना सा दिखलाई पड़ा, पर भीतर के ही आध्यात्मिक संस्कार प्रकट बना में पड़े रहे

१- शोषनिषाद् १

बीर समय समय पर जीनेवाले महापुरुष उनको प्रसूद करते रहे। ज्यों वे संस्कृति बन गयी, पाश्चात्यों की बाहुरी जैव भारतीय देवी संस्कृति की लोड़ी के तिर बजा भी ही सकती थी, पर सर्वथा नष्ट नहीं कर सकी। देश काला-नुरूप प्रतिक्रिया देश की अपनी संस्कृति तथा सम्प्रदाय रखती है, पर भारतीय संस्कृति बीर संस्कृति एवं धर्म देशात्म में की हुई नहीं है। वे तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नीति पर की हुई है। वह संस्कृति कितनी अद्भुत, कितनी व्यापक है, विश्व संकुचित राष्ट्रीयता का नाम नहीं जिसमें प्रत्येक बात मानव समान के हित की दृष्टि से है। विश्व अन्धकार की दृष्टि से है। विश्व प्रेम की दृष्टि से है, संसार को किसी भी संस्कृति में समाहित रूप में होने गुण नहीं मिले। संस्कृति के संबंध में विचार करते समय एक तत्त्व हमारे सामने बीर का जाता है, वह है सम्प्रदाय। यह विचार करना चाहिए कि क्या सम्प्रदाय बीर संस्कृति एक ही वस्तु है, यदि नहीं तो हमें वे प्रत्येक का क्या क्या है ? हम दोनों में क्या सम्बन्ध है। इसका ठीक ठीक विचार करना कुछ साधन नहीं है, कारण कुल्लेखों ने जो क्या सम्प्रदाय का किया है, दूसरों ने वही क्या संस्कृति का सम्प्रदाय, कई कोश निर्माताओं ने एक को दूसरे का पर्याय या समानार्थक भी लिखा है।

सम्प्रदाय शब्द 'सम्-य' से बना है, बीर सम्प्रदाय का एक क्या स्वस्व या समाधन है। स्वस्वका किसी समा, समूह या समाज की होती है, इस प्रकार सम्प्रदाय एक सामाजिक गुण है। बावमों के समाज में रहने के कारण ही सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव होता है, साधारणतया किसी बावमों की सम्प्रदाय का अन्दाज उसी बात से लगाते हैं कि समा या समाज में उसका उठना बैठना, वेशभूषण व्यवहार आदि कैसा है ? जो बावमों के फेरे पड़े हुए ही जिसके फेरे बाफ सुघरे हों, जिसका शरीर हाथ पैर आदि ऐसे हुए हों जिसके बाल तरबोके हों जिसके उठने बैठने तथा बातचीत में शिष्टाचार को भूलकर ही उठे हम सम्प्रदाय कहेंगे, हममें हम उसकी बाह्य प्रतिक्रिया पर ही ध्यान देते हैं, आन्तरिक गुणों की बीर नहीं।

संस्कृति हमारे वास्तविक गुणों का सूत्र है, वह एक प्रेरक शक्ति है। संस्कृति हमारे सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषा को बनाती है, हमारी संस्थाओं को कम देती है। संस्कृति बतलाती है कि हम अपनी सुस्पष्ट चित्त वृत्तियों का कितना विकास कर पाये हैं। पशु जीवन से हम कितना ऊँचा उठ गये हैं।

संस्कृति के विभिन्न स्वरूप और विशेषण

भारतीय संस्कृति का विकास कृष्य की पूर्णता की ओर रहा है, और हमारी उस पर वास्तव भी पूर्ण है। अतः संस्कृति के द्वारा पूर्ण ब्रह्म की कल्पना की गई। ऐसा कि ईशावास्योपनिषद् का कथन है कि वह ब्रह्मपूर्ण है। उसकी दृष्टि पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण का आगमन हुआ है, पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है। भारतीय संस्कृति काट काटकर निकली हुई नहर नहीं वह तो विविध प्रीतियों की साथ से अपना ज्यादा पाट और धारा निर्मित करती हुई निश्चित कम में प्रवाह पात्र प्रोत्पन्नित है। अन्तर्हीन बाधाओं की पराजित करने के भी वह अविच्छिन्न प्रवाह लम्बे लम्बे में नहीं विभक्त हो सका।

यह सत्य है कि सदियों से काहिल हमारा शत्रु बन निगारियाँ बरबाद रहा है, फिर भी हमारी हस्ती गिट्टी नहीं हथकी तरह में कोई बात है। भारत का भूतल उल्लास शरीर है, वह परबल हीला रहा है, परन्तु संस्कृति उसकी अन्तरात्मा है। वह बाह्यतः पाकर भी बनो रही है, कही ब्रह्म बात है।

अतः स्पष्ट है कि यदि कृति का अनुभव मविष्य का सुक हो सकता है, तो सर्व पूर्ण बाला करनी बाहिर कि मविष्य

में पश्चिम और पूर्व से बाहे किन्ने भी बाधों के बाधात बाहर से हमारी संस्कृति को न मिला जैसा और न उसकी नींव को ही दिया जैसा ।

मानव जाति के साहित्य में हमें पुरानी कस्तो तक रचना देव है, जो प्राचीन लोग देव की कथाओं को ही अपना मान बल मानते और उन्हीं के द्वारा प्रभु और प्रकृति का मान करते थे, उनका सामुदायिक नाम कार्य का , कार्य संस्कृति भारतीय भूतल में बाहर, कार्य और ब्रह्म संस्कृतियों का ही सम्बन्ध रूप उभर कर आया, वही भारतीय संस्कृति का प्राचीन रूप है। उसका प्रतिनिधित्व हमारी प्राचीन भाषा संस्कृति करती है। स्पष्ट स्पष्ट है कि कार्य ने कार्यर बातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की वही कार्य कथा हिन्दुओं का प्रसूत समाज हुआ और कार्य तथा कार्यर संस्कृतियों के संमिश्रण से जिस संस्कृति का जन्म हुआ वही भारत की भूतल संस्कृति वसिष्ठ की गई जो देव लोक बातियों एवं उनके कर्तों के कृत्यों के मिलन भूमि रहा ही, उसका कोई भी नितासी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि उसने कृत में किसी अन्य जाति का रूप नहीं मिला है। वही प्रकार जिस धर्म में विश्वास करते हैं। जिस संस्कृत को मानते हैं तथा जिस विचारों को हम राष्ट्रीय कथा भारतीय कथार और से अपनाये हुए हैं । उनके उत्पन्न का भी कोनाम नहीं है, भारतीय कथा न ही तब कार्य बल की है, और न ब्रह्म बल की । वह उन सभी बातियों की संततियों का समूह है, जो समय समय पर इस देश में आयी और वहाँ बस गई ।

“ भारतीय संस्कृति लोक संस्कृतियों के योग से बन हुआ मनु है। यद्यपि उसके ऊपर कार्य का महत्त्व उतना ही है जितना मनु निर्माण में मनु मयित्यों का होता है। यह सुचित संगत है कि संस्कृति का

कल्प तब हुआ जब कल्प ने अपनी प्रकृत वाचकताओं से युक्त पाँच, अर्थात् कल्प ने प्रकृति पर अपना नियन्त्रण कर लिया है कि उसके वह अपनी वाचकता की पूरा कर ली। तब उसने कुछ समाज की स्थापना की। समाज का निर्माण करते ही कल्प वास्तुतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। इससे यह भी अनुभव होता है कि स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा बाधक हैं, और वास्तुतिक जीवन बाध्य, किन्तु वास्तविकता यह है कि समाज के निर्माण तथा वास्तुतिक जीवन के उदय की इस प्रकार एक दूसरे से कानन नहीं किया जा सकता, वेति प्रायः सभी देशों की संस्कृतियों में वादान प्रदान के उत्पन्न होती हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति ही ऐसी संस्कृति है, जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है, जो अधिक से अधिक भिन्न बातियाँ की मानसिक एवं वाय्यात्मिक स्वता का प्रतिनिधित्व करती है।

निष्कर्ष यह है कि भारतीय संस्कृति का विस्तृत रूप कोई एक नहीं है, वह तो विभिन्न संस्कृतियों का समन्वित रूप है, किन्तु भारत में संस्कृतियों का जो समन्वय हुआ उसकी विशेषता इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है- " भारत में समन्वय की प्रक्रिया बोटियों की प्रक्रिया नहीं, मधुमक्षियों की प्रक्रिया रही है। बोटियाँ जहाज के कर्णों को एकत्र तो कर देती हैं। किन्तु उनकी एक दूसरे में विलय नहीं कर पाती, किन्तु मधुमक्षियाँ अनेक फुल्लों से एक बनाकर उसे ऐसा रूप दे देती हैं कि कोई एक फुल्ल वहाँ सबके ऊपर नहीं खींचता । काः स्पष्ट है कि इन्हीं विभिन्नताओं का समन्वित रूप हमारा सबसे बड़ा उत्तराधिकार है, और विश्व की भागी स्वता कीभूषिका भारत की सामाजिक संस्कृति में है।

संस्कृति और साहित्य

जिस प्रकार भाषा और संस्कृति का घनिष्ठ

सम्बन्ध है, उसी प्रकार साहित्य और संस्कृति का भी, साहित्य तो भाषा का एक विशिष्ट एवं सुरक्षित रूप मात्र है, जो संस्कृति भाषा के द्वारा व्यक्त होती है। वह साहित्य में बाकर सुरक्षित हो जाती है।

प्रत्येक साहित्य के ऐसे बड़े सन्दर्भ होते हैं जिनका अन्य भाषाओं में अनुवाद करना असम्भव हो जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'वार्म' के लिए मीमोजेस का प्रयोग भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। कवि सन्दर्भ की जो उदात्त महिमा है, उसे प्रकट करने के लिए दूसरा सन्दर्भ कहाँ है तबल्लि, 'यस' सन्दर्भ की अर्थ गति में पूरी भारतीय संस्कृति ही समा जाती है। अतस्त वैदिक साहित्य का तत्त्वार्थ एक मात्र 'देव' सन्दर्भ से भरा हुआ है।

डा० बासुदेवजरण अग्रवाल के सन्दर्भों में "यदि यह कहा जाये कि संस्कृति जीवन की प्रेरणा लेकर जो उमंग युन युन में लपटो है उसके अन्तिम निष्पन्न सन्दर्भ है, तो भी कल्पित न होगी, संस्कृति के विकास के साथ साथ सन्दर्भ और उनके अर्थ भी अन्य रीति और बढ़ते हैं।"

कवि और उसके युग का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए, डा० विजय पास सिंह ने उक्ति ही कहा है कि "कवि की कला का स्वरूप उसकी परिस्थितियों पर बहुत बुर निर्भर है, अपनी चारों ओर के वातावरण की कवि की कला और उसके व्यक्त पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है।"

१- साप्ताहिक हिन्दुस्तान १६ सितम्बर १९६२ पृ० ६

२- " " " " पृ० ६

३- " " " " पृ० ६

४- कैलाश और उनका साहित्य पृ० १०५

प्रत्येक कवि अपने युग का साहित्य तत्कालीन मानव भावों, विचारों और कार्यान्वाहों का ही प्रकटीकरण है किसी काल के साहित्य की स्थिर करने वाली तीन बातें होती हैं।

(१) जाति (२) स्थिति (३) काल

(क) जाति से तत्कालीन समाज

(ख) स्थिति से सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, व्यवस्था तथा

(ग) काल से तत्कालीन परिस्थितियाँ ही साहित्य के रूप की स्थिर करती हैं।

डा० शान्तिशुमार नाथुराम व्यास के अनुसार वैष्णव साहित्य स्वभावतः युग बंधित है प्रकट होता है वह वही समय के सामाजिक वादों की प्रकट या प्रतिक्रिया करता है। समाज से उदासीन या विरक्त कवि भी अपने गुण की परिस्थितियों की ओर लक्ष्य हो कर देता है। पुरदास जैसे भक्त कवि के साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए डा० प्रेम नारायण टण्डन ने एक तथ्य की ओर लक्ष्य किया है।

डा० रामचोखल उपाध्याय ने किसी भी देश या काल की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के ३ साधनों में से साहित्य की भी एक साधन के रूप में सम्मिलित किया है। वास्तव में किसी काव्य के समाज और संस्कृति का सही चित्र साहित्य के कलम पर ही उतरता है, उस साहित्य के माध्यम से उसका अध्ययन करना पूर्णतः वैज्ञानिक है।

- १- १५ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक हिन्दी साहित्य के काव्य रूपों का अध्ययन - डा० राम नाथ वर्मा पृ० २
- २- रामायणकालीन समाज पृ० ४
- ३- पुर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ६

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

जाय के सफ़ाई वर्ण पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, जिस प्रकार कि भारतीय संस्कृति जाय भी एक समन्वित संस्कृति है, जो संस्कृतियों की विशेषताएं उसे इन्द्रधनुषी जाय का महत्व प्रदान करती हैं। उसी समन्वित भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण हम निम्न प्रकार से कर रहे हैं।

(क) विस्तृतता

भारतीय संस्कृति सदा से एक ही रूप में रहने वाली स्थितिशील है। भारत का धर्म जाय भी वैदिक धर्म है। जाय भी यज्ञों में वेद मंत्रों के साथ देवताओं की आहूतियाँ दी जाती हैं। उपनिषदों तथा नीति का वि महान् धर्म ग्रन्थों में ज्ञान की जो भारी जाय के सफ़ाई वर्ण पूर्व प्रमा-
सित हुई थी वह जाय भी भारतीयों के हृदय सीपल करने में पूर्ण समर्थ है। बुद्ध और महावीर जैसे दिव्य पुरुषों के 'वसिष्ठा परमी धर्म' जैसे उपेक्षित जाय भी भारतीय अपनी जीवन में उतार रहे हैं। राम और कृष्ण जाय भी हमारी आदर्श हैं, सीता, सावित्री जाय भी भारतीय स्त्रियों की दृष्टि में अनुकरणयोग्य हैं, दिव्य हैं। यह धार्मिक विश्वास ही यहाँ के जीवन का आधार स्तम्भ बन कर उसे भयंकर परिस्थितियों के बाधात प्रतिघातों से भी सुरक्षित रख सका है।

देवदत्त मोतिलाली के शब्दों में " वैदिक संस्कृतियों से बार बार बल्वायी उत्तरों के भारतीय संस्कृति ने अपनी की वंशित करो का प्रगाढ़ किया तथा अपनी मान्यताओं का मयन स्थापकता तथा सर्व-

संवितमान की अन्तः सवित की नींव पर लड़ा किया है। भारतीय संस्कृति की इस प्रकृति अपने धारण विचार तत्त्व की क्रांति रही हुए युगानुक्रम परिवर्तन तथा विकास की रही है किन्तु कारण प्रकृत विचार तथा आवर्तन के युग-प्रकृत नवविकसित बाह्य रूपों में अभिव्यक्त होकर उनके दीर्घजीवी बनाते रहे हैं।

(स) आध्यात्मिकता

भारतीय जीवन की सर्वाधिक अनुप्राणित करने वाली आध्यात्मिक आकांक्षा ने उसे जीवन का चरम तत्त्व ही नहीं बनाया, प्रकृत संपूर्ण जीवन की ही उस विज्ञा में मोड़ देने का प्रयत्न किया है। अतः आध्यात्मिकता ही भारतीय जीवन की मुख्य धृति है तथा अन्तः की भावना ही उसकी अन्तः भावना है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भीतिक जीवन की क्रांति उद्घोषित की गयी है। यद्यपि अरविन्द के अनुसार भारत के भीतिक नियमों तथा सवितरों की नींव के रूप में भीतिक विज्ञानों के विकास की नींव उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाता है। सामान्य जीवन की सवितरों की कला से अती भीति परिचित रहा है, परन्तु इसके साथ ही उसने भी आकांक्षित किया था कि आधि-भीतिक सवित पर अधिष्ठित हुए बिना भीतिक अकांक्षा की परिपूर्णता संभव नहीं है। उसके पीछे प्रमाणित तथा मानव के अन्तर्गत भी अन्तः देखी सवितरों वर्तमान हैं किन्तु प्रायः अपरिचित आत्मसवित के बहुत छोटे से क्षेत्र से ही परिचित है तथा उसके अन्तः यह अन्तः दृश्यमान एवं अन्तः अन्तः अन्तः एवं अन्तः सवितरों द्वारा बाधित हैं। अन्तः यह रहस्य की ज्ञात करती ही भारतीय

१- इंदिया : ए साईविधि बाफ कस्वर- केवल नीतमानी पृ० १७२

२- काउन्सिल बाफ इंदियन कस्वर - अरविन्द पृ० १३८

३- इंदिया : ए साईविधि बाफ कस्वर - केवल नीतमानी पृ० १७४

४- उपरिष्ठ पृ० १७४-७५

चिन्ताधारा ने यह अनुभव किया था कि मानव जीवन तब तक वृद्ध है, निःस्तर तथा कम्पारपूर्ण है, जब तक बाध्यात्मिकताकी ज्योति से ज्योतिष होने से वंचित है। अतः स्पष्ट है कि भारतीयों ने भीतिक क्षेत्र में ज्योति उज्ज्वल करके जीवनगत चरम साध्य, बाध्यात्मिकता को ही स्वीकार किया था। यह भारतीय संस्कृति की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है।

(ग) शाश्वत जीवन क्रम

भारतीय समाज व्यवस्थापकों ने संपूर्ण जीवन की जो बहुस्तरीय व्याख्या की थीका की है वह भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता है जिसे अनुसार व्यवहित के जीवन की चार स्वाभाविक अवस्थाओं जन्मा बाल्य में विभाजित कर दिया गया है। यह विभाजन बचपन से लेकर बुढ़ावस्था तक की सभी अवस्थाओं से सम्बन्धित आवश्यकताओं, साम्प्रदायिक, वैशिष्ट्यों तथा सामाजिक समीकरण के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित है।^१

अतः उपर्युक्त बातें किसी भी व्यवहित में समान नहीं रहती। अतएव उनके ज्योति विकास तथा प्रभावी व्यवहार के निर्माण के लिए उपयुक्त जीवन पद्धति आवश्यक है जोर सभी व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को सम्यक् करके ही भारतीय दृष्टांतों ने उपर्युक्त बहुस्तरीय जीवनक्रम द्वारा समाज के प्रत्येक व्यवहित के जीवन का समुचित नियन्त्रण किया है। जिसका उद्देश्य संतोष में जीवन का समन्वित विकास करना है। अपने व्यावहारिक चिन्तन तथा अनुभव द्वारा भारतीय ऋषि इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष

पर पहुँचें होंगे कि समुचित रीति से जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सँ बर्ष की वायु प्राप्त कर सकता है। अतः जीवन की स्पीडा उपस्थित करते समय उप-सुंनत चारों अवस्थाओं कच्चा कामपों के लिए पक्कीस पक्कीस बर्षों की काता-बधि निश्चित की गई । प्रथम बाधक यस्तुही जीवन निर्माण के लिए आवश्यक शारीरिक तथा मानसिक योग्यता के निर्माण का है। इसे प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य नाम दिया गया था किंवा यह स्पष्ट उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है कि उपसुंनत योग्यता के सम्पादन के साथ उसमें चरित्रता, नैतिकता, संयम तथा जीवनगत पवित्रता के संस्कार भी डाले जायें क्योंकि यही ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य अधिक संस्कार-पाय होता है और जिसे सत्य कहें उसे वैसा चाह वैसा बनाया जा सकता है । एक निश्चित अवधि तक परिवार में वास्तव पोषण के पश्चात् बालक की ऐसी पवित्र वातावरण में रखा जाता है तथा बाहरी व्यक्तित्व वाले का साम्प्रदायिक मित्रता था, जिससे कि बचक होने पर जीवन संग्राम में प्रविष्ट होते समय वह पुष्ट पृष्ठभूमि प्राप्त कर सके, इसके पश्चात् 'गृहस्वाग्रम' का जीवन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का है, मावी संतानों का भविष्य उस पर निर्भर होने के साथ ही यह सामाजिक जीवन की पूर्वनिर्दिष्ट मूलभूत प्रवृत्तियों के सम्बन्ध निर्वाह का काल भी है। गृहस्थ की नैतिक शिक्षाएँ तथा निश्चित अनुशासन का पालन करना पड़ता है और इसका ध्यान रखते हुए वह अपनी सम्पत्ति का रक्षण करता है जिससे परिवार का भरण पोषण करने के साथ साथ देश तथा समाज के हित में भी उसका सदुपयोग कर सके । इसके बाद वानप्रस्थी पारिवारिक जीवन की सीमा से ऊपर उठकर समाज सेवा तथा कल्यात्म साधना में प्रवृत्त होता है। गृहस्थ जीवन से एकदम बहिर्गत हो जाता मनीषैज्ञानिक दृष्टिकोण से हुकर सम्पन्नकर उसी क्षम से वानप्रस्थ तथा संन्यास की योजना की गई है । चतुर्थ अवस्था में पहुँचकर व्यक्ति वास्तव तत्त्व की प्रतिष्ठा के साथ साथ भीतिक

कार्त्तिकी का त्याग करते लोक कल्याण में प्रवृत्त होकर सभी वर्गों में सम्यक्सी
 कर्मात् वागतिक सम्बन्धी का सम्बन्ध प्राप्त करना त्याग करने वाला मानव बन
 जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्त्तिकी का
 यह जीवन क्रम योग्यता तथा सामानुसार कर्तव्य कर्मात् की उपर्युक्त व्यवस्था
 के साथ साथ डा० राधाकृष्णन् के लक्ष्यों में यह भी निर्दिष्ट करता है कि
 उसके द्वारा सात्त्विक जीवन की प्राप्ति के लिए वह एक प्रकार की तीर्थ यात्रा
 है।^१

(घ) लोकमंगल की भावना

यह हम प्राणिमात्र के प्रति स्वात्मकता की
 भावना से अनुप्राणित हो उठते हैं तो हमारे कर्त्तव्यकरण में स्वाभाविक रूप
 से उनके प्रति अनुभावना एवं सहानुभूति की दृष्टि उदय हो जाती है। सहानु-
 भूति के द्वारा हम प्राणिमूर्तियों के हित में बान्धित होते, उनके कष्ट में बसेल का
 अनुभव करते तथा यह कामना करने लग जाते हैं कि वे कष्ट से विमुक्त होकर सुखी
 जीवन बिताएं। इस कर्त्तव्यरति का पूर्ण विकसित रूप है, लोकमंगल की भावना।

भारतीय संस्कृति में लोक मंगल की यह भावना
 कतनी प्रबल रही है कि उसका दिव्य प्रयास करने वाले राम कृष्ण ने दुष्टों का
 संहार तथा लोक मंगल करने वाले साधु पुरुषों की रक्षा में जीवन व्यतीत कर
 दिया है। लोक कल्याण की भावना के इस संस्कृतिक तत्त्व द्वारा देश व समाज
 की सेवा, परीकार, त्याग, उदारता वापि शिक्षाओं का निर्माण हुआ है।
 जो कि आज भी सम्यक् एवं सुसंस्कृत समाज के बीच अपना सर्वोत्कृष्ट महत्त्व काट

हूँ है। इसी सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि भारतीय विचारधारा में भी सामा-
 विक ही नहीं आध्यात्मिक महत्त्व भी प्राप्त है। इस तत्त्व के सम्बन्ध में स्वामी
 विवेकानन्द के शब्दों में भारतीय दृष्टिकोण यह है कि 'संसार नहीं, हमी
 संसार के शक्ती हैं। यह हमारा अभिप्राय है कि हमें संसार में कुछ कार्य करने
 का अवसर मिला है संसार की सहायता करने के वास्तव में हम स्वयं का ही
 कल्याण करते हैं।' क्योंकि दूसरों के लिए किए गये कर्म का मुख्य फल है अपना
 स्वयं की आत्म शुद्धि। परोपकार का प्रत्येक कार्य, सहाय्यता का प्रत्येक विचार,
 सहाय्यता किया गया प्रत्येक यह संपूर्ण आत्म त्याग ही हमारी समस्त नीति
 की नींव है जो समस्त वैदिक आदर्शों में व्याप्त है। जो भारतीय संस्कृति की
 मुख्य विशेषता है। भारतीय संस्कृति की संसार की प्राचीनतम और महानतम
 संस्कृति होने का गौरव प्राप्त है, जबकि इसकी समकालीन संसार की बहुत सी
 संस्कृतियाँ गर्भ में समा चुकी हैं। भारतीय संस्कृति महत्वपूर्ण विशेषताओं के
 कारण एक अन्य संस्कृतियों से भिन्नत्व और महत्त्व प्राप्त करती रही है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि भारतीय
 संस्कृति के विकास तथा उसकी विशेषताओं का जो विवरण प्रस्तुत किया
 गया है उससे प्रकट है कि मानव जीवन के सभी पहलुओं की संस्पर्श करते हुए
 उसके सर्वांगीण विकास की नींव है। अतः निष्कर्षतः भारतीय संस्कृति
 स्वभावतः बढ़ा के ही प्रगतिशील रही है और रहेगी, अपने सभी जीवन की
 जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह भविष्य के वैश्व - अन्तरा-
 ष्ट्रीय मानवता के हित के आन्दोलनों का स्वागत करते हुए अपनी परम्परा को
 रखा करते हुए आगे बढ़ती जायेगी, इसी भारतीय संस्कृति में हमारी वास्था
 है।

संस्कृति और सभ्यता

‘संस्कृति’ और ‘सभ्यता’ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। वे अर्थ इतने भिन्न और विविध हैं कि इनके कुछेक विग्रह में यह बाँटी है, किन्तु जब सभ्यता शब्द पर दृष्टिपात करते हैं तब सम्यक् रूप से स्पष्ट होता है कि यह भी किसी देश या राष्ट्र की प्रगति का चीतक है। परन्तु इसका वह संस्कृति की तरह सुस्पष्ट न होकर स्थूल है, फिर भी संस्कृति और सभ्यता मानवता के विस्तार भूमि के दो पुष्प हैं, दोनों की सुगन्धि एक ही है, रंग अलग अलग हैं। संस्कृति मानवता का चिर नवीन और चिरन्तन तत्त्व है, जबकि सभ्यता परिवर्तनशील गति का कारण है, एक का सम्बन्ध आन्तरिक गहराई से है दूसरे का बाह्य की व्यापकता से, किन्तु सभ्य शिष्ट और विकासशील समाज के लिए दोनों ही आवश्यक तत्त्व हैं।

समाजशास्त्रियों के मतानुसार ‘मनुष्य का जीवन प्राथमिक अवस्था में बाँध बैठा न था। सभ्यता उसके जैसे जीवन से बढ़कर समाज की ओर बढ़ने की स्थिति है। सोच तथा आविष्कार उसके विकास की नींवें हैं। डा० मन्वत्तरण उपाध्याय के शब्दों में - ‘एक पिता में बढ़ते हुए हम आदिम अवस्था से कितनी ही दूर सामाजिकता की ओर बढ़ते जाते हैं, उतनी ही सभ्य कहलाते हैं। डा० बन्दीप प्रसाद मिश्र ने सिलिगमेन के विश्वकोश में बाँट हुए संस्कृति तथा सभ्यता विनायक विवेकन का उल्लेख करते उनके आधार पर यह निष्कर्ष

१- कस्कर एण्ड स्पाचंस - मैथ्यू बार्नल्ल पृ० ४५

२- पृ० ६६

३- पृ० ४६

प्रस्तुत किया है कि ' संस्कृति एक प्रयत्न नहीं है, किन्तु एक विशिष्ट स्थिति
 हुई सभ्यता का ज्ञानप्रदक की नहीं किन्तु सभ्यता उसके ज्ञानप्रदक की से उद्भूत
 हुई है। ' इसी प्रकार कतिपय विद्वानों के अनुसार सभ्यता की कोई परिभाषा
 इस प्रकार की जा सकती है। ' सभ्यता व्यावहारिक तथा बौद्धिक ज्ञान का
 विकास एवं प्रकृति का नियन्त्रण करने वाले यांत्रिक साधनों का समुह है। अपनी
 प्राथमिक अवस्था से मनुष्य जिस प्रकार सभ्यता के क्षेत्र में अग्रसर हुआ है, ठीक
 उसी प्रकार वह अभी से संस्कृति के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ होना, इस तथ्य की
 अत्यन्त समीचीन उदाहरण से इस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। वादि-
 ह्युक्ति बरकर मनुष्य अपनी शिकारी जीवन में ' शिकार से बने हुए समय में अवकाश
 के क्षणों में जब अपनी फरार के उपायों की मूठ पर रेतारें तथा वाकृतियाँ
 बोलकर उन्हें वाक्यार्थ बना देता था। तब संस्कृति का रूप विरचता था।
 जब बन्धु बन्धुओं के टोने टोटके के लिए आवश्यक अपनी गुफा की दीवार पर
 उनका चित्र सीप रेतारों में रंग भरता था, तब वह कला की दिशा में प्रवेश
 करता था। जब वह अपनी स्वर की उत्साह की स्थिति में, वानन्द के बतौर
 में बोलने ना ना उठता था और बार बार गाने के स्वर की एक ही प्रकार
 से बुराना और उत्तरोत्तर मधुर बनाता जाता था, तब वह संगीत की धूमि
 पर उग भरता था। संस्कृति तथा सभ्यता दोनों के विकास क्रम से इस महत्व-
 पूर्ण तथ्य पर प्रकाश पड़ता है, कि ये दोनों ही मानव विकास के दो फल हैं,
 एक उसकी अन्तर्लक्षितता औन्नत्यानुभूति एवं वानन्दोत्साह वादि वार्षिक तत्त्वों
 से सम्बन्धित है, तो दूसरा उसकी तथा नैतिक मूल सामग्री के संयोजन और उसके
 लिए आवश्यक संगठित प्रयत्नों की ओर कृत करता है, दूसरे शब्दों में संस्कृति
 का सम्बन्ध मानव की वास्तविक परिस्थिति तथा जेतना है। किन्तु सभ्यता,
 सामाजिक तथा वार्षिक परिस्थितियों से बंधी हुई है। इसी वैशिष्ट्य की तत्पण

कहते डा० प्रह्लाद कुमार बाजपेयी ने संस्कृति का सम्बन्ध वात्सा से तथा सभ्यता का सम्बन्ध कार्य कलावी से माना है।

संस्कृति तथा सभ्यता सम्बन्धी विभाजन को सत्य कहते उपाध्याय जी ने दोनों के सुस्पष्ट अन्तर को अत्यन्त सुनिश्चित संगत ढंग से प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि - 'सभ्यता और संस्कृति मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और विनय के परिणाम है, जिसमें से प्रथम वादिम बनेली स्थिति से सामाजिक जीवन की और मनुष्य की प्रगति का नाम है और द्वितीय उसी प्रगति की सत्य, तब औरतुल्य परम्परा का। संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा सूक्ष्म वस्तु होती है। यह सभ्यता में उसी तरह व्याप्त रहती है, जिस प्रकार घृह में मकान या फलों में सुगन्ध और सभ्यता के उद्धारण बस्ती से बटोरि भी जा सकती है। मगर उनके उपयोग के लिए ही उद्युक्त संस्कृति बाहिर वह तुरन्त नहीं जा सकती। इस प्रकार संस्कृति व सभ्यता के विस्तृत पक्षों पर विचार करने से और विभिन्न मनोविज्ञान के विचारों के सम्बन्ध से निष्कर्ष निकलता है कि 'सभ्यता वह दार है जिसमें से हीकर मनुष्य सामाजिक जीवन के चौर में प्रवेश करता है, किन्तु संस्कृति उद्युक्त विशेषता के कारण मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। समस्त परिभाषाएं अपनी विशेषता रखती हैं, चाहे वह सभ्यता के पक्ष में ही चाहे संस्कृति के, अतः सभी परिभाषाएं मानवता के विकास के साथ सभ्यता और संस्कृति को सीमा निर्धारित करती हैं। विद्वानों ने संस्कृति को उस शक्ति के रूप में स्वीकार किया कि मनुष्य अपने संस्कार और वातावरण से पाता है परन्तु सभ्यता मनुष्य की प्रगतिपथ की ओर से जाने का उद्देश्य रखती है। अतः कहा जा सकता है, संस्कृति जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य है, जबकि सभ्यता उसके बाह्य साधनों की सुविधा संस्कृति तथा सभ्यता के विकास के पूर्वनिर्दिष्ट तथ्यों से प्रभावित होता है कि ये दोनों

मानव विकास के दो पक्ष हैं- एक उसकी अन्तर्लक्षितता सीन्दर्यानुभूति एवं बान्-
न्दोत्साह के आन्त्यान्तरिक तत्त्वों से सम्बन्धित है, तथा दूसरा उसकी स्थूल
तथा भौतिक पुनर्धाराओं के संयोजन तथा उसके लिए आवश्यक संगठित प्रयत्नों
की ओर लक्षित करता है। दूसरे शब्दों में- संस्कृति का सम्बन्ध मानव की बाह्य
एवं आन्तरिक परिस्थिति तथा अन्तर्लक्षितता से रहता है किन्तु सभ्यता सामाजिक
तथा वार्षिक परिस्थितियों से बंधी हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने
भी 'सभ्यता की बाह्य प्रतीक' की शब्द सभ्य करने का विधान तथा संस्कृति
के अतिरिक्त बान्धव की अभिव्यक्ति भी बतलाया है। फ्रीजियर्स ने वहाँ सभ्यता
की शरीर तथा संस्कृति की वात्सल्यमाना है, वहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि किस
प्रकार आत्मा व शरीर में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। उसी प्रकार सभ्यता
और संस्कृति में है। अतः सभ्यता और संस्कृति में जो बाह्य अन्तर दिखाई देता
है और उसे इस प्रकार छद्म में लिपिबद्ध किया जा सकता है :

- १- संस्कृति तथा सभ्यता सम्बद्ध होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं
- २- संस्कृति आन्त्यान्तर तथा सभ्यता बाह्य तत्त्व है
- ३- सभ्यता साधना है और संस्कृति साध्य, किन्तु साधन तत्त्व का उसमें
भाव नहीं है।
- ४- सभ्यता की सवःकल की जा सकती है, किन्तु संस्कृति की अपनाने में
धैर्य लगती है।

उपरोक्त तत्त्वों की व्यापकता में रहकर जब सभ्यता
व संस्कृति के बाह्य एवं आन्तरिक पक्षों पर विचार करते हैं तब स्पष्ट होता है,
कि वास्तव में काफी भेद है। हमें ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो एक दूसरे की पुनर्-
रखते हैं।

परिभाषाओं के कृपाओं से हमें यह नहीं भूत जाना चाहिए कि सभ्यता एवं संस्कृति में पर्याप्त अन्तर होता है, उनका वाक्य में सम्बन्ध नहीं होता जिस प्रकार प्रबन्ध कुमार वाचार्य ने सभ्यता को शरीर तथा संस्कृति को वात्मा माना है। स्पष्ट है कि शरीर और वात्मा का कटू सम्बन्ध है। बिना वात्मा के न तो शरीर का ही महत्व है और न बिना शरीर के वात्मा का ही। इस तरह शरीर व वात्मा को तरह दोनों का अन्वयोन्यासित सम्बन्ध है। सभ्यता सीमित एवं संस्कृति असीमित है। परंतु यह स्मरण योग्य बात है कि विभिन्न सभ्यताओं के बीच से ही संस्कृति का निर्माण होता है, यदि मान माना एक प्रकार की सभ्यता कहा जाय तो वह भी ध्यान रखना चाहिए कि उस मान को खाने के लिए जी खजा तथा कलादृष्टि अपनायी जाती है, वह एक हमारी संस्कृति का अंग है। जैन, बौद्ध, आर्य, ब्रह्मि, हिन्दू मुस्लिम सभ्यता ही हमारी भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहायक है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि दोनों कल होकर भी एक है, दोनों का शरीर व वात्मा, मधु व इत्ता, सागर व नदियों का सा सम्बन्ध है। संस्कृति और सभ्यता किसी भी राष्ट्र के विकास के कारण हैं, पहला कारण है सभ्यता, दूसरा कारण है संस्कृति, मानवता के विकास के लिए दोनों कारण आवश्यक हैं, जिस देश की सभ्यता जितनी विकसित होगी वह देश उतना ही सुसंस्कृत समझा जाएगा।

संस्कार

हिन्दू संस्कारों का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का बहुमुखी एवं पूर्ण विकास है। हिन्दू समाज के कुछ अपनी आदर्श हैं। वह जाहता है कि व्यक्ति को सबसे कम में विकसित होने की स्वतन्त्रता न देकर उसे विभिन्न आदर्शों के अरूप डालना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं

किया बाधना तब तक वह अपनी प्राकृतिक स्वभाव को त्याग करके परिकृत और संस्कृत बोलन को अपना नहीं करता है जो कि क्षितान्त आवश्यक है तथा जो समाज के समूह और निर्माण में सहकारिता लाने के लिए उपरिष्ठाय है। संस्कार विश्व के प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं। यही ही उनका रूप निम्न निम्न समाजों में पुनः पुनः ही, हिन्दुओं के 'यज्ञोपवीत' संस्कार मुसलमानों के 'सुन्नत' तथा ईसाईयों के 'बपतिस्मा' से हममें से अधिकतर लोग परिचित हैं। किन्तु हिन्दू समाज में संस्कारों को अपनी निम्न विशेषता है, हिन्दुओं में संस्कारों को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। यहाँ जर्म से लेकर पुत्र्य के बाद तक के लिए जीके मुख्य संस्कारों की व्यवस्था की गई है।

संस्कार का तात्त्विक तर्क

'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के सम्प्रदाने (कृष् + धातु से 'नष्' प्रत्यय करके की गई है। (सम् + कृ + धातु - संस्कार)। वस्तुतः संस्कार शब्द के साथ विलक्षण वर्णों का योग ही गया है, जो उनके बीच इतिहास क्रम में संयुक्त हो गए हैं। इसका अभिप्राय शुद्ध धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के वैदिक मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले कृच्छ्रानों में है। जिनसे समाज उस समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके, किन्तु हिन्दू संस्कारों में जीके धारमिक विचार, धार्मिक, विधि विधान उनके सत्वर्ती नियम तथा कृच्छ्रान ही समा-विष्ट हैं, जिसका उद्देश्य केवल बौद्धादिक वैदिक, संस्कार ही न होकर संस्कारों व्यक्त के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार शुद्धि और पूर्णता भी है। वास्तव्य में संस्कार का प्रयोग क्षिता, संस्कृति, प्रशिक्षण, संवर्धन, पूर्णता, व्या-करण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोध, वापुषण, स्वभाव,

स्मरण शक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव शुद्धि भावना धारण कार्य का परिणय किया। विशेषतः वादि वर्णों में हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कार व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के लिए एक प्रकार के धार्मिक कृत्य हैं, जो निर्वाधान से लेकर मृत्यु के बाद तक से सम्बन्धित हैं। करपात्री भी ने इसे 'मस्तकमन' और बतिलयाधान' से सम्बन्धित किया है। जैसे किसी मेलि वर्णण पर पूर्ण वादि भिन्न कर उसको साफ करना मस्तकमन संस्कार कहलाता है। तैत्तिरीय द्वारा हस्ती के मस्तक या काष्ठ की किसी वस्तु को चमकीला तथा सुन्दर माना बतिलयाधान संस्कार है।

इस प्रकार मानव के संस्कार मन, बुद्धि, इन्द्रिय कर्म, ऊर्तुपादि से उत्पन्न होती हैं। श्री देवराय मठाराय की दृष्टि में संस्कृति और संस्कार में कोई भेद नहीं है, जिस प्रकार संस्कार शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि के साधन हैं, उसी प्रकार संस्कृति भी शरीर और मन की शुद्धि के द्वारा मनुष्य को कल्याण में प्रतिष्ठित करती है।

डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि संस्कृति और संस्कार में एक साध्य है तो दूसरा साधन, एक बीजन की और ईक्षित करता है और दूसरा विधि विधानों की ओर, इस प्रकार संस्कारों का मुख्य उद्देश्य मानव के संस्कृत बीजन का निर्माण करना है, इसका अर्थ है उन्नत, उदात्त, दिव्य बीजन, मानवता का परिष्करण परम उज्ज्वल से उज्ज्वल ज्योति स्वरूप शक्ति का मानव काया में अवतरण करता है।

१- कल्याण - हिन्दू संस्कृति की पृ० ३५

२- स्वार्त्थ वर्तन- डा० हरशंकर लाल शर्मा पृ० २३३

३- वैदिक संस्कृति और संन्यास पृ० ४६

संस्कारों का उद्देश्य

हिन्दुओं के संस्कार करने वाले अधिक प्राचीन हैं कि उनके मूल रूप और उद्देश्यों के सम्बन्ध में अधिकारपूर्ण रीति से कुछ कहना सम्भव नहीं है किन्तु फिर भी संस्कारों के उद्देश्यों की इस प्रकार वमिहित किया जा सकता है।

(क) व्यक्ति का पूर्ण विकास

हिन्दू संस्कार का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का बहुमुखी और पूर्ण विकास है, हिन्दू समाज के कतिपय अपने बादर्श हैं वह चाहता है कि व्यक्ति को सबसे रूप में विकसित होने की स्वतंत्रता न देकर उसे विशेष बादर्शों के अनुरूप ढालना चाहिए, जब तक ऐसा नहीं किया जायगा तब तक वह अपने प्राकृत स्वरूप को त्याग करे परिष्कृत और संस्कृत जीवन को अपना नहीं सकता, जो निरान्त आवश्यक है जो समाज संगठन और निर्माता में एक रूपता लाने के लिए अपरिहार्य है।

डा० राजकसी पाण्डेय ने अपने हिन्दू संस्कार में उद्धृत करते हुए कहा है- 'संस्कार मार्गदर्शक का कार्य करते थे जो वायु के बढ़ने के साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विविध पक्ष होते हैं, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, शैक्षणिक, वाय्यात्मिक आदि हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी न किसी पक्ष के लिए होता है। उनकी व्यवस्था

ऐसी होती है कि व्यक्ति नभं से ही संस्कारों से प्रभावित होने लगता है। संस्कारों को अनिवार्य बनाने में हिन्दू समाजशास्त्रियों का उद्देश्य संस्कृति व बलि की दृष्टि से समाज का एक रूप विकास तथा उसे समान वास्तव से अनु-प्राणित करना था, हिन्दू अपनी सांस्कृतिक पुष्टभूमि के साथ संसार की एक विशिष्ट सांस्कृतिक जाति है।

(क) नीतिक समृद्धता

संस्कारों का दूसरा उद्देश्य नीतिक समृद्धता का प्राप्ति करना होता है। समाज के साधारण मनुष्य सभी उद्देश्य से प्रेरित होकर विभिन्न संस्कारों को प्रेरित करते हैं हिन्दू धर्मशास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि 'वाराधना और प्रार्थना के माध्यम से उनकी इच्छाओं को देवता समझ लेते हैं और मनु, सन्तान, धन, स्वास्थ्य तथा सुन्दर शरीर और तीक्ष्ण बुद्धि के रूप में उनकी प्रीति करते हैं।

(ग) बाध्यात्मिकता

हिन्दुओं के सामाजिक जीवन का मूल आधार बाध्यात्मिक है। उनके प्रत्येक कार्य का उद्देश्य बाध्यात्मिकता के महत्त्व को और उच्चर करना होता है। संस्कार भी परम सत्य जीवा की प्राप्ति के साधन माने गए हैं, क्योंकि हिन्दुओं का विश्वास था कि अविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे वैदिक बन्धन से मुक्त होकर मृत्युधाम की पार कर लेंगे।

कर्तव्य के अनुसार की व्यक्ति विद्या तथा अधिवादीनों को वास्तव है वह अधिवा से मृत्यु की पार कर विद्या से अमरत्व

निम्नवर्गीय कार्य सम्पन्न जाता है। कबीर ने भी संस्कारों की महत्ता का प्रति-
पादन किया है। यह कथ्य है कि समाज की कल्प रुढ़ियों और बाह्याह्वयों
से उन्हें पिटु थी, जहाँ कहीं कबीर ने बाह्याह्वयों की संस्कारों को फटकार
पी दिया है। फिर भी हिन्दू संस्कारों का उन्होंने अपने साहित्य में बहुत
प्रयोग किया है और महत्ता भी स्वीकार की है। उपर्युक्त विवेचनों का समन्वय
कर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दू सांस्कृतिकों का वह वह था
कि जीवन का प्रत्येक पक्ष निरन्तर होना चाहिए। अतः उन्होंने संस्कारों
की ऐसी व्यापक योजना की कि वे व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित हो
गए। उनके मूल उद्देश्यों में यही सुनिश्चितता तथा उपायिता का समावेश था,
उनकी महत्ता के सम्बन्ध में निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट किए जा सकते हैं :

(क) संस्कार मानव जीवन के परिष्कार
और शुद्ध होने में सहायता पहुँचाते हैं :

(ख) व्यक्तित्व के विकास की सुविधाजनक
करते हैं।

(ग) मनुष्य शरीर की पवित्रता तथा महत्त्व
प्रदान करते हैं।

(घ) मनुष्य की समस्त भौतिक तथा बाध्या-
त्मिक महत्वाकांक्षाओं को गति देने वाले तथा जन्म में उसे जटिलताओं और
समस्याओं के संसार से सरल सानन्द मुक्ति प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इन उपयोगी
संस्कारों का कबीर के वास्तविकी युग में वास्तविक रूप नहीं रह गया था।
उनमें कीचड़ कुंजताओं और विकृतियों का समावेश हो गया था। उनके स्वस्थ
स्वरूप का स्थान रुढ़िवादिता ने लिया था, पातण्ड रुढ़िवादिता तथा बाह्या-

संस्कारों से ही कबीर की श्रुति थी, नरक जातही वार्तकयुक्त एवं मनुष्यों में दुःखानुत्पन्न पूर्ण क्रोध तत्कालीन समाज का स्वरूप था। तत्कालीन समाज की सभी कार्य या सेवाएँ को कलम करने के लिए साफ करने के लिए कबीर एवं बाधक कबीर विन्दगी पर झुलते रहे, कबीर ने अपनी साहित्य में कतिपय संस्कारों का उल्लेख किया है। कबीर ने उन्हीं महत्वपूर्ण संस्कारों का वर्णन प्रस्तुत किया है, जो अमुक्त एवं अप्रतिम संस्कार हैं। कबीर ने अपनी वर्णन में संस्कार सम्बन्धी बाहुलाकम्पर और रुढ़ियों की जातीयता की है। संस्कार की पुनर्जात्या और पवित्रता पर उनकी पूर्ण जात्या है उनका विरोध केवल पण्डितों और मुत्तावीरों के पातण्डों से है। संस्कार सम्बन्धी 'मन्त्राई' पर उनकी प्रदा है किन्तु मन्त्र पढ़नेवालों पर उनकी कटा है, कबीर ने अपनी साहित्य में किन संस्कारों का उल्लेख किया उनके नाम इस प्रकार से हैं :

१- जन्म संस्कार

२- उपनाम संस्कार

३- विवाह संस्कार

४- मृत्यु या अन्त्येष्टि संस्कार

१- जन्म संस्कार

भारतीय समाज में जन्म से मृत्यु तक की संस्कार सम्पादित हैं। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध जन्म से है, जिसमें गर्भ से लेकर जन्मीत्पक्ष तक को सभी परिस्थितियाँ जा जाती हैं। यथा- गर्भाधान, पुंस्यन, शीमान्तीनयन, जानकन या जन्मीत्पक्ष ये समस्त संस्कार सभी के अन्तर्गत वर्णित किए जा सकते हैं। गर्भाधान संस्कार के विषय में धर्म ग्रन्थों में वर्णित है कि "जिस कर्म के द्वारा पुत्र-पुत्री के जन्म की स्थापित करता है उसे

कर्माधान कहते हैं। एहिसे कबीरदास ने "माँ का उबर पिता का प्य" कहकर "कर्माधान संस्कार का स्पष्ट निरूपण किया है। शीनक तणि ने "कर्माधान संस्कार" के विषय में अपनी कविता प्रकट किया है जिस कर्म की पूर्ति से स्त्री (पति द्वारा) अमृत सुधारण करती है। उसे कर्माधान कहते हैं। शीनक तणि की परिभाषा को कबीरदास ने अपनी कविता के समाज सुधारक एवं सुधारक के भेद भाव को समाप्त करने के उद्देश्य से अपनी नीति प्रविभा से उसे दूसरे रूप में प्रकट किया है :

“देखा भेद विमूलन मारी।

भेद क्षीय नीन बह दुनियाँ, नीन पुरिष नीन मारी।

कबीर समाज को उपबोधित करते हुए कहते हैं कि भेद बुद्धि ने मारी विलम्बाबाध लगा कर रखा है, इस भेद बुद्धि ने मारी विविध धर्म ग्रन्थों को स्व देशों में विभक्त कर रखा है। वास्तविकता समाज को बसाते हुए वे कहते हैं कि समस्त स्त्री पुरुष में भी कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, सब ही उस परब्रह्म की हैं, समस्त मनुष्य जिस कर्म की पूर्ति से स्त्री (पति द्वारा) बर्धन धारण करती है। समाज ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, सबमें एक ही कर्म और माँस समाज ही है। सबका ब्रह्म परम ज्योति स्वभाव एक ब्रह्म से ही है। फिर कबीर अत्यधिक शीघ्र के साथ कहते हैं कि भला ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर क्या ? इस प्रकार कबीर ने तत्कालीन समाज को उपदेश देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है- “नर्म बास नहि कृत नहि जाती।”

अन्त के कबीर ने अपनी साहित्य में "दुखन" और "धीमन्तोन्मयन" संस्कार का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने माता के उबर में दस पास तक शिशु किस कष्ट और कठिन परिस्थिति से रहता है। उसका वर्णन प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं -

‘ नरम कुंडलित जब तू बसता, उच्छ्रब्ध ध्यान त्याँ लाया ।
उरध्र ध्यान भूत पीठ लि जाया, नरहरि नाव भुलाया ॥

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि कबीर तत्कालीन समाज के लोक चेतना कबीर और समाज सुधार के रूप में व्यक्तित्व हुए थे । अतः वे नर्मदास के कष्ट की भाव दिलाते हुए बीज की हरि भजन के लिए प्रेरित करते हैं कि जब तू नर्मदास में उस्ता लटका हुआ दाहण दुःख बीजता था तब प्रभु का भजन करता था, किन्तु जब बाहर जाने पर तू हंस्वर की शक्ति को विस्मृत कर बैठा । हंस्वर की महत्ता प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि जब तुम माँ के उदर में बस मास उर्ध्वमुख लिए हुए कष्ट सह रहे थे । वहाँ तुम्हारी प्रभु ने रक्षा की थी । अब यहाँ जाकर उसे भुला दिया ।

डा० राजकली पाण्डेय की अपने हिन्दु उत्कार में लिखा है कि लोक दुष्ट तथा सुदर्शन शिपिनियाँ तथा राक्षसियाँ नर्मिणी स्त्री के गर्भ के भक्षण और रुधिर पान के लिए तत्पर रहती हैं। अतः शुचिता पवित्र, मन्त्रों के सतत तथा सुरमित माला वादि के द्वारा सदा उछकी रक्षा करनी चाहिए, इस कथन में वर्णित ‘ शुचिता ’ और ‘ पवित्र मंत्र ’ ही हंस्वर का दूसरा रूप है जो गर्भ की रक्षा करता था । कबीर के कथन का तात्पर्य है गर्भ में स्थित पिण्ड में स्थित तुम्हारी रक्षा और रक्षा कवचाधार प्रभु करता रहा । अब तुम्हें उसे विस्मृत कर दिया, कबीर ऐसे मानवों के कृत्यों पर विस्मित है, विमुग्ध है कि माता के उदर में बस मास मर्यान्त कष्टों को सहन करने पर यह सर्व किया था कि हे प्रभु मेरे इस कष्ट का विनाश कर हम वापसी भक्ति करेंगे किन्तु जाने पर विस्मृत कर दिया ।

डा० राजकली पाण्डेय ने ‘ कर्म वेद ’ की उक्ति का उद्धरण दिया है, प्रभु कहते हैं - योनि मार्ग में स्थित दो नादियाँ

को फूट करवाई, नावा वीर उस को फूट करवाई तथा जटायु से शिशु को फूट करवाई विष प्रकार बाहु, का तथा बड़ी बाहर निकलकर उड़ने लगते हैं। उसी प्रकार बस बास पर्यन्त गर्भ में रहने वाले शिशु तु जटायु के साथ बाहर आया।

प्रसव के समय नारी को कितनी वेदना और पीड़ा सहन करनी होती है, कबीर नारी की इस प्रसव पीड़ा को अपनी दृष्टि से बोधित नहीं कर सके हैं। उसे लोकगीत के रूप में अभिव्यक्त किया है :

उपधि बिना कहूँ उपधि न परहं, बाँक न बाने पीरा।

बन्ध्या की प्रसव वेदना की कल्पना क्या होगी ? बन्ध्या क्या बाने प्रसव की पीड़ा ? इस प्रकार का मुलावरा भी प्रचलित है, अथर्व वेद के एक सूक्त में सरस तथा सुरमिय प्रसव के लिए भी प्रार्थनाएं तथा उपकार वर्णित हैं। व है पुण्यः। प्रसूति के इस अवसर पर विद्वान् तथा वैद्य लोग मन्त्र करें, नारी भली भाँति शिशु का प्रसव करें। नारी के शरीर के उन्मि स्थान प्रसव करने के लिए विशेष रूप से ढीले हो जाते हैं। पीलीक चार बिलारें हैं तथा विष प्रकार धुमि की चारों बिलारें धरे हुए हैं, सभी प्रकार गर्भ की चारों से चिरा हुआ है। वेब उठे गति देते हैं, वे ही प्रसूति के लिए उसे गर्भास्थ से बाहर करें। इस सुविध से स्पष्ट होता है कि प्रसव वेदना असह्य होती थी, उसकी वेदना ताँति के लिए प्रार्थनाएं की जाती रही हैं। शिशु धरती में किस रूप में अवतरित होता है, उसका चित्र स्पष्ट करते हुस्कबीर ने कहा है -

मुट्ठी बंधे गर्भ से बाहर, हाथ पसार जावोगे ? १

यह सत्य है कि प्रत्येक मानव पैदा होती समय मुट्ठी बंधीर जाता है। और हाथ फैलाकर चला जाता है। इसे यह ज्ञाता होता है कि उसे मुट्ठी लीक में डेस्वर वहाँ है मुट्ठी में बहुत दृढ़ देकर मेवते हैं, किन्तु मनु मानव प्रभु की दी हुई वस्तु नैवा कर लाती हाथ बापस चला जाता है। कुवाहू का पता करने वाले पण्डितों की कबीर ने अपनी कथकली भाषा में कहा है-

कहि पाहे कैसे भुवि कीनि ।

भुवि कीनि ती नाम न लीनि ॥ १

क्योंकि गर्भावस्था में मनु श्रुतों के मध्य रहना पड़ता है और प्रसवहीने पर ज्ञाता माना जाता है। ऐसी स्थिति में कबीर ने पण्डितों के पातण्डों पर लायात करते हुए कहा है कि कुवाहू से दूर रहने वाली- चण्डिका की डोंगि मारने वाली कम्म क्यों लिया ? पण्डितों की ललकार भरी भाषा में कहते हुए विस्तृत विश्लेषण किया है -

काहे की कीनि पाहि हीति विचारा ,

हीतहि ते उक्ता सब संसारा ॥

हमारे कैसे लीक तुम्हारे कैसे दूध ,

तुम्ह कैसे प्रासना हम कैसे दूध ।

हीति करता तुम्हकी बार, ती गर्भावस्था काहे की बार ॥ २

वाराणसी के उस समय के पण्डितों का लातण्ड और बाहुबाहम्बर चरम सीमा पर था। अस्पृश्यता पुरय का दिलाये रूप में बहुत प्रसन्न था। क्योंकि कबीर की वहाँके पण्डितों से बहुत विद्वत् भी वे करते

१- हिन्दू धर्मकार - डा० रावबली पाण्डेय पृ० ६०

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० २४

हैं : हे पाण्डे । कृत से तो समस्त संसार के मानवों की उत्पत्ति हुई है, और जो तुम अपने को बहुत पवित्र समझते हो तो क्या तुम्हारी धमनियाँ में रक्त का संसार नहीं दूध का संसार हो रहा है और मेरे धमनियाँ में रक्त का , तात्पर्य है दोनों की धमनियाँ में रक्त का ही संसार हो रहा है । फिर कबीर प्रश्न करते हैं तब तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और मैं शूद्र ? यदि तुम्हें कृत से कतना अधिक मय या तो मातृ उदर से होकर क्यों आए ? कहाँ कृत हो कृत है। कबीर की इस प्रकार की उक्तियाँ समस्त मानवों को एकता में समन्वित कराने के लिए सम्बोधित हुई थी । कबीर कृत की विस्तृत परिधि बताते हुए कहते हैं :

‘ जन्मैं भूतक मुर पुनि भूतक, भूतक परम विगोह । ’ १

जन्म से मृत्यु पर्यन्त भूतक ही भूतक हैं उससे कहाँति बन सकते हो । शिशु जन्म के समय माता और शिशु तो अपवित्र रहते ही हैं, उनके साथ ही बारह दिन तक समस्त परिवार के सदस्य जल-पूरण सम्पन्न होते हैं। इसलिए कबीर ने जन्म और मृत्यु के समय भूतक रहने का प्रकट किया है। मृत्यु के समय १३ दिन भूतक माना जाता है। जो जन्म के क्षण पर जन्मीत्यन सामान्य पुरुष मानते हैं, उस क्षण के सिरसानी कबीर का कथन है कि -

‘ पैटा जाया तो का भया, कहा बनावे पास । ’

यदि जो उत्पन्न होता है तो स्वयं ऐसी कौन युक्त अनुभूति कर रहे हो जिससे पास बना रहे हो, जामन्य निमग्न होकर नाच रहे हो, क्योंकि यह संसार नश्वर है, स्वयं जो उत्पन्न होता है वही मृत्यु की प्राप्त होता है, जन्म

हैं। वे किन बातों की भीमता फैला है, उसका उपर्युक्त वर्णन किया जा चुका है। इसीलिए बहुत स्थानों में जन्म के समय हवन करते हैं कि इस अक्षर संसार के महाजात में वाकर कहीं फँस नया और मृत्यु के समय उत्सव मनाते हैं कि इस अक्षर संसार से मुक्ति मिले। वैसे जन्म के समय जन्मीत्सव मनाए जाने की प्रथा भारत में अतीत से रही है और है। इस प्रकार कबोर जन्म संस्कार के विषय में अपनी मौखिक प्रतिभा द्वारा अपने साहित्य में वर्णित समाज की एकता के धुन में बद्ध करने के लिए जन्म पर प्रयत्नशील रहे।

(2) उपायन संस्कार

जीवन के पदार्पण के अवसर पर किन्हीं विशेष संस्कारों का अनुष्ठान सामंकांतिक तथा विश्वजनक है। उपर्युक्त संस्कार और समारोह के साथ सामाजिक जीवन में युवक के प्रवेश का स्वागत किया जाता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों में इस प्रयोजन के लिए कुछ विशिष्ट विधि विधानों का अनुष्ठान किया जाता है। इसका उद्देश्य युवक के नागरिक कर्तव्यों का क्रियात्मक रूप से निर्वाह करने के योग्य बनाना है। इन सामान्य बातों के महत्व को समझने लगता है। वह सामाजिक जीवन के किसी भी मूल्य पर पूर्णरूप से रुका हुआ है, इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जाति के नव विकसित सुमनों को अनुसाधित किया जाता है जिसे वे सम्यक्ता व संस्कृति की रक्षा का भार वहन करने योग्य हो सके।

(3) दीक्षा के प्रकार

विभिन्न धर्मों और जातियों में युवकों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक दीक्षा के विभिन्न प्रकार हैं। कतिपय असह्य जातियों

में उनकी उत्तमशक्ति की परीक्षा द्वारा युवकों की समुदाय में दीक्षित किया जाता है। कुछ अन्य बातियाँ में किसी विशेष क्षेत्र का भेज कर युवक की समुदाय में प्रविष्ट किया जाता है। इस्लाम में अभी भी शिक्षा के लक्ष्य का अलग भाग काटकर समाज में दीक्षित किया जाता है। ईसाईयों की दीक्षा विधि 'बैप्टिज्म' है जो वास्तव की ईसाई धर्म में प्रविष्ट करने का धार्मिक कृत्य है। हिन्दुओं में 'उपायन' संस्कार एक प्रकार से हिन्दुओं के विज्ञान साहित्य में प्रवेश के ज्ञान का प्रवेश पत्र था। समाज में प्रवेश का भी यह साधन था, क्योंकि इसके बिना कोई व्यक्ति कार्य कम्प्या से विवाह नहीं कर सकता था। उपायन के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा दीक्षित व्यक्ति की गणना द्विजों में होती थी। समाज में एकता स्थापित करने तथा संरक्षित करने के लिए समाज सुधारक कबीर ने 'उपायन संस्कार' में पातण्डी और धूर्त पण्डितों द्वारा निहित बाह्यवाहम्बर तथा रुढ़िवादिता का व्यंग्योचित्य से तण्डन किया है। 'यज्ञोपवीत' धारणकर लेने पर ब्राह्मण वर्ग की बहुत पवित्र और निम्न वर्ग की बहुत अपवित्र समझते थे। इसी प्रकार मुसलमान भी 'खतना' करा लेने पर वर्ग की उच्च समझते थे। तत्कालीन युग में ये ही दो बातियाँ प्रधान थीं। इन बातियाँ में पण्डित और काबो वर्ग वर्ग वर्ग का नेतृत्व कर रहे थे। अतः कबीर ने अपनी साहित्य में इन्हीं दो बातियाँ पर व्यंग्यपूर्ण गलत बाण चलाकर जन साधारण के प्रति सहानुभूति दिलाई है, क्योंकि उनका अपना सिद्धान्त का समस्त मानव एक ही परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। पण्डितों ने यज्ञ के अवसर पर यज्ञोपवीत धारण करना परमावश्यक नियत किया था, क्योंकि ब्राह्मण यज्ञोपवीत हीकर जो कुछ पढ़ता है, वह यज्ञ है, इसीलिए यज्ञोपवीत हीकर ही पढ़ना चाहिए जिससे सफलता प्राप्त हो, इस विषय पर कबीर की इसकी सुन्दर यत्नाय स्पष्टीकृत है :

‘वा कारण तुम्ह लीज कीज, पूर लगाइ कातें सब कीज ॥

कबीर कहते हैं वे पुरीहित । जिस पवित्रता कीर यज्ञ हेतु यज्ञीयता धारण किया है । उस यज्ञीयता का पूर निम्न वर्ग की वाति ‘पूर’ लगाकर काततो है । वातय है तुम कीर अपवित्र हो जाते हो किन्तु तुम इसे धारण करते हो पवित्रता का अवतार वपे की सम्पत्ति लेते हो, यहाँ पर कबीर ने यग्य वस्तु की कीर पण्डितों का ध्यान बाकुष्ट किया है , कबीर दूसरी उचित में कहते हैं कि-

‘पंडित धुनहु पाहिं बित्त लाहें ।

कोई पूत के बन्धी कीज , ताकी पास लाहें ॥

वे पण्डित । बित्त लगाकर भवण करी । जिस पूत है तुम्हारा यज्ञीयता बना है, उसी पूत से मैं रीज काही बनाया करता हूँ । तात्पर्य है तुम्हारे यज्ञीयता कीर इस सामान्य पात्रों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है । उनके कथन का पूरा स्वर यह है कि जिस पवित्रता का बाना तुम धारण किथे हो उसे समस्त जन साधारण भी धारण किथे हैं, फिर तुम वपे वापकी स्तना पवित्र क्यों सम्पत्ति लेते हो ।

इसीलिए उन्होंने ब्राह्मण के ‘कीज’ कीर मुसलमानों के ‘स्तना’ की कृत्रिम कम्कर सम्बोधित किया है :

‘कृतप मुनित्य कीर कीज , सिन्दूर तुरक न जानै भेज ॥

इतिनहीं कबीर ने इसके पक्ष में वपे वलीस भी फल की है कि यदि यह कावटो कीर व्यर्थता दिखावा नहीं है तो इसके लिए फटकार की भाषा में कहा है : ‘जो तु बाधन ----- ।

कबीर कहते हैं कि यदि मेरी बात सत्य नहीं है तो कनकाधारण जिस योनि के फल से वाया है तो तुम ब्राह्मण थे तो उसी फल से क्यों नार ? यहाँ क्यों नहीं हूत का विचार किया और मुसलमानों के लिए कहते हैं कि तुम अपनी को मुसलमान धिद करने के लिए बाहु उदर में हो क्यों ' लतना ' नहीं कराकर वाया । कबीर ने इस प्रकार के श्रुति में स्वर समस्त मानवीं में ब्रह्मत्व और प्रेम के भाव उत्पन्न करने के लिए निरुतः हुए हैं । कबीर एक युगप्रष्टा थे । कतः वे जीवन में समाज में ब्रह्मत्व लाने का प्रयत्न करते रहे ।

(3) विवाह संस्कार

मनुष्य की प्रकृत दम्भिय तात्वा का संशोध करके उसे एक सीमा में बाध करने के लिए दूसरे शब्दों में भोग से संयम की ओर प्रवृत्ति से विवृत्ति की ओर तथा संसार से भगवान् की ओर बढ़ने के लिए विवाह आवश्यक है । यही हिन्दू का विवाह सत्य एवं उद्देश्य है । हिन्दू विवाह भोग विच्छा का साधन नहीं है । यह एक धार्मिक संस्कार है, संस्कार से कर्मः शुद्ध होती है और शुद्ध कर्मःकरण में तत्त्व ज्ञान एवं भगवत्प्रेम का माहुराज होता है जो जीवन का बरम पुत्र-प्राप्त है । नर और नारी की विधाता की बद्धुत देन है, जिनके संयोग से ही सृष्टि का मूल निहित है , उनका एक दूसरे के प्रति आकर्षण और संयोग वैवाहिक प्रवृत्ति के कारण होता है, जो सृष्टि को दृढ़ आगे बढ़ाने में सहायक होता है। एक बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव है, तथा दोनों के समुचित एवं अनुचित सम्बन्धों पर एक दूसरे का विकास आहित है, एक के बिना दूसरा निश्चल है, समाज ने उनको इस

जीवन मैत्री की " विवाह " की संज्ञा भी दी है। कुछ अधिकार सौंप दिए, कुछ उत्तरदायित्व निर्धारित किये हैं तथा इस प्रकार उनके इस अप्रतिम संबंध की संस्था के रूप में परिणित किया है। कबीर ने जीवन के समस्त पदार्थों की अपनी वाध्यात्मिक साधना की दृष्टि से ग्रहण किया है। इन्हीं में समाज की समस्त प्रक्रियाएँ, संस्कारों का चित्रण प्रकट है। कबीर ने जिन स्थितियों में उनकी साधना को व्यक्त करने की कितनी सम्भावना रही है, उतना ही उपयोग किया है। इस दृष्टि से संस्कारों में " विवाह " का अप्रतिम महत्त्व रहा है और रहना, इस संस्कार के माध्यम से उनकी अपनी प्रेम भावना को व्यक्त करने में सक्षमता हुई है, क्योंकि उन्होंने बीबात्मा और परमात्मा के प्रेम सम्बन्ध की विवाह के रूप के माध्यम से प्रायः व्यक्त किया है। अन्य संस्कार इस दृष्टि से अपनी सीमित परिधि के कारण विवाह संस्कार के विस्तार के साथ कबीर साहित्य में स्थान नहीं पा सके हैं। विवाह के मुख्य उद्देश्यों की इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

(क) विवाह का प्रथम उद्देश्य स्त्री द्वारा की पुरुष धारा में मिलाकर उसे सुखित की अधिकारिणी बनाना तथा दोनों की वर्णन, वनियमित एवं प्रवृत्तियों को नियमित कर दोनों की शारीरिक मानसिक, बौद्धिक, सह लौकिक, पारलौकिक तथा वाध्यात्मिक उन्नति करना और दोनों के मध्य सम्बन्ध से दोनों की पूर्णता सिद्ध करना एवं सांसारिक सुख प्राप्त करना है।

(ख) विवाह का दूसरा उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तान की उत्पत्ति के द्वारा पितृ तथा से उत्पन्न होना तथा प्रभान्तु की रक्षा करना है।

(ग) विवाह का तीव्र उद्देश्य स्त्री एवं पुरुष के मधुर व विविध सम्बन्ध तथा सामंजस्य द्वारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की सुव्यवस्था एवं सुख, स्वास्थ्य एवं शक्ति की रक्षा करना है ।

भारतीय संस्कृति तथा समाज के दृष्टिकोण से विवाह, जीवन का संस्कार होने के साथ ही एक प्रकार का पारिवारिक यज्ञ भी है । भारत को ज्ञाते संस्कृति में व्यक्ति सितु से लेकर गायक होने तक एक ऐसे वातावरण में संस्कारित हुआ करता था जो कि उसे संपूर्ण जीवन संग्राम के लिए तैयार करता था और वह प्रकार उसके स्पष्ट पारिवारिक जीवन का कारण जिस महत्वपूर्ण संस्कार से होता था, वह 'विवाह' है । कबोर में उसका उत्तीत यमपि साधनात्मक रूप के माध्यम द्वारा उनका साधनागत दृष्टिगत प्रकट करते समय ही हुआ है तथापि वह तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्र उपस्थित करने के लिए पर्याप्त है । वैवाहिक विधि का वर्णन करते हुए डा० रामधनी पाण्डेय ने 'बीधान्त गृह्यसूत्र' के अनुसार शास्त्रीय पद्धतियों का उल्लेख किया है । वे निम्नलिखित हैं :

- १- वर प्रस्ताव
- २- ब्रातण मीमा
- ३- नान्दी मुल
- ४- वर का वधू के घर पर जाना
- ५- समीपण
- ६- हस्तग्रहण (पाणिग्रहण)
- ७- संसर्ग
- ८- मधुपर्क
- ९- वर्तकण

८- मधुपर्क ९- वस्त्रकरण १०- कुदयस्पर्श ११- वस्त्र प्रविष्टिणा
 १२- वस्त्रादीहण १३- पुनः वस्त्र प्रविष्टिणा १४- बाहुतिर्या १५-
 विवाहं १६- गृह प्रवेश १७- गृह वर्ग पर बैठना १८- पुन बाहि नवाग्री
 का देना १९- विराज्युत २०- स्थायी पाक प्रेषण २१- पति वस्त्र का
 उपवेश २२- नवाधान ।

किन्तु कबीर ने अपनी साहित्य में सांस्कृतिक
 और लौकिक दोनों रीतियों का विवाह संस्कार के वर्णन में उल्लिखित किया
 है।

उन्होंने जनक धर्म ग्राम धर्म का विश्वास
 अपनी ' विवाह संस्कार ' में वर्णित किया है। ब्रह्म के समुचित पुनाय के
 पश्चात् विवाह सम्बन्धी विधि विधान बारम्भ हो जाते हैं । इनमें बहुत
 सांस्कृतिक होती हैं और कुछ लौकिक । वैवाहिक विधि सम्पन्न कराने के लिए
 कबीर विवाह मण्डप बनाने के लिए कहते हैं :

‘ येन कर्तव्यं मिति मण्डप हायी ॥ ’ १

विवाह संस्कार में परिवार के समस्त परिवार
 उसमें भाग लेते हैं, और मिलकर कार्य करते हैं। यहाँ पर कबीर की साधनापत्त
 उचित पाँच उम्हिर्याँ से है, किन्तु सामान्यतः पाँच लीनों के द्वारा मण्डप
 बनाने की प्रथा व्यवस्थित स्पष्ट है, दूसरी अभिव्यक्ति में कहते हैं कि :

‘ लीनि कर्तव्यं मिति समन सितार्ह ॥ ’ २

१- किन्तु संस्कार - डा० रावबली पाण्डेय पृ० २६०

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० २२६

३- ०० पृ० २२६

तीन व्यक्तित्व मिलकर लगन सिलाते हैं तीन सत्य समुह के प्रतीक हैं, वे बाह्य विधि की तीसरी प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि संगत नाम करती हुई कामिनियाँ कल्याण के पस्तक में वेत और हस्तों बढ़ाती हैं :

सती सैती मील गायें, दुल दुल माये उत्तम बढावें ।।१

यही वीर शेरिया मेल गान करती हुई
 इस विवाहोत्सव में संसार बाग़र को पार करके के लिए दुःख दुःख दोनों प्राप्त
 रहि , यही दुःख दुःख का प्रतीक कन्या के लिए वीर शरीर में बली बहाई
 दुःख दुःख का प्रतीक कन्या के लिए वीर शरीर में बली बहाई जाती है । इस विधि के सम्पूर्ण
 होने के पश्चात् वेदी का निर्माण किया जाता है उसका कबीर ने स्वयं के
 माध्यम से वर्णन किया है - 'यसि शरीर वेदी करिहु ।'^२

आत्मा ह्यी नायिका परमात्मा ह्यी नायक
 ये विवाह सम्बन्ध में कौनना चाहती है, वीर वह कहती है कि शरीर को छोड़ी
 बनाकर कुम्ह का विवाह कुम्ह बनाकर प्रभु से विवाह करेगी ।

कम्पा के गुरु के लिए वर अपनी मित्रों और
बान्धवों के साथ व्यायोग्य वाहन पर वास्तु होकर कम्पा के घर के लिए
प्रस्थान करता है। वहाँ पहुँचने पर नारिवा दीपक और वीनल छट लिए वीनल
मान करती हुई समस्त नारिवाओं का स्वागत करती है :

‘सुलक्ष्मीं नामहू यंगलत्ता र ।

समस्त करि मैं समस्त करि, पंचवत बराती ॥ ३

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २२६

2- 11 45 9

4- 11 44 2

कबीर यहाँ परम पुरुष से वही वाध्यात्मिक
मिलन वर्णन विवाह के रूप के द्वारा करते हुए कहते हैं कि हे सीमाव्यवसी
नारियों । तुम विवाह के मंगलगीत गाबी जब मेरे घर पर स्वामी राम
परम पुत्र आए हैं, मेरी वात्मा श्रु भक्ति में परिपक्व (यौवनपूर्ण) है । अतः
स्वयं श्रु मेरे द्वार पर बसिधि बनाकर आए, मैं उनके प्रेम में रंग, पृथ्वी, जल,
वायु, अग्नि एवं आकाश को बराती बनाऊँगी । इसके पश्चात् वैवाहिक विधि
सम्पन्न कराने वाला पुरोहित वैदिक मंत्रों का उच्चारण करता था- ' ब्रता
वेद उचार ।'^१

कबीर ने ब्रता द्वारा वेद मंत्रों का उच्चारण
इसलिए कराया है क्योंकि उनका विवाह धार्मिक विवाह न होकर एक विशेष
प्रकार का वात्मा का परमात्म तत्त्व के साथ वाध्यात्मिक विवाह है, यही
कारण है कि इसी पद में उन्होंने बरातियों के साथ तीर्थ करीद देवताओं की
उपस्थिति का भी उल्लेख किया है :

‘ छुर तीर्थ कीतिन आए, मुनिवर सह्य जूयासी ॥ २

प्रेमिका (वात्मा) के महा मिलन की वेत्ती के लिए तीर्थ करीद देवता
एवं जूठासी सह्य मुनिवर आए थे, उन सबको साजगी बनाकर गठि जोड़कर
बाँधर फिरने का उल्लेख किया है :

‘ नावा रँग भावरि फरी, गठि जोरि नावे पतितारं ॥ ३

बीर

‘ रामदेव रँग भवरि लेहुं, धनि धनि नाम बनार ॥ ४

१- कबीर ग्रन्थावली पृ ९

२- कबीर ग्रन्थावली पृ ९

३- .. पृ २२६

४- .. पृ ९

कबीर ने अपनी इस उक्ति में विवाह संस्कार का व्यापक विस्तार प्रक्रियाएँ विवक्षित की हैं :

‘ संत कुटुम्ब परिवार, तो संत नावही ।
बहु विधि वाखी सावि, तो बीक पुरावही ॥
मोतियन पार भराव के, कलस लैवावही ॥

यहाँ पर कबीर भारत का संन्यास करते हुए पारिवारिक संस्कारों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। तदुपरान्त नारियाँ वाखी स्वाकर बीक प्र मोती भरी वाखी की स्वाकर कलस स्वाकर बारातियों का स्वागत करते हैं, यह प्रक्रिया लोक भाषा में ‘ दाराबार ’ की प्रक्रिया कही जाती है। इस विधान का वर्णन, पारस्कर ग्रन्थकृत ‘ भी वर्णित है जिसे डा० राजवली पाण्डेय ने अपनी हिन्दू संस्कार में लिखा है- ‘ स्वधुर वर का जो प्रथम संस्कार करता है वह है मधुपर्क देना , यह अत्यन्त दुर्लभ सम्मान का, अतिथि के लिए वासन साने का उपलब्ध पदक स्वधुर वर से कहलाते, ‘ मकासय ’ कृपया वासन ग्रहण कीजिए , हम लोग आपका वर्णन करेंगे । यही ‘ वर्णन ’ संस्कृत लोकभाषा में ‘ बाराबार ’ के नाम से अभिहित किया जाने लगा है । इस अवसर पर नारियाँ स्वधुर कण्ठी के नीचे नाकर वर पक्ष के समस्त बारातियों का स्वागत करती हैं। कबीर ने ‘ बीक ’ में क विवाह संस्कार की रीतियों का वर्णन किया है :

‘ काधू मैं तत्त्व रावत राता, नापे बाजिन बाधु बराता ॥
मोति पाथि दुस्सुन दोन्हीं, कलस जीरि कहाता ॥

०

०

हुतहिनि लीपि नीक बैठायी, निर्भय रूप पर गाता ।

पावे उत्तटि बरातहिं लायी, भली कही कृपताता ।

पाणिग्रहण कही भव पण्डन, सुखमणि धुरति समानी ॥ १

कबीर ने इस तन्त्र में बारात की सत्य और भगत बाप बताते हुए चित्रित किया है। बर के लिए में जुष्ट या पौरी बांधी जाती है, इसके पश्चात् लीप कर बधू की नीक में बैठाकर निर्भय रूप से पाणि-ग्रहण संस्कार सम्पन्न किया जाता है। कबीर ने बारातियों की बावत लिखाये जाने की प्रथा का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार पाणिग्रहण संस्कार बान्धव मय बाजाबरण में मंगलिक गीतों और प्रक्रियाओं से सम्पन्न किया जाता है। कबीर बाणों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'विवाह संस्कार' की निम्नलिखित आवश्यक क्रियाएँ हैं, जो उस समय विशेष रूप से प्रचलित थी -

१- गण्डप डाना

२- गातु हरिछा (यह कन्या बर के तरीरों में रहस्यवत हल्की लगाई जाती है। इसका उद्देश्य बर बधू की ऐच्छिय वासना को बाधित करना होता है।)

३- बिंदी डाना

४- नीक प्रस्ता

५- कस्त पताना

६- पाणिग्रहण और गठबन्धन

७- बालीबाँध और प्राणनार ।

कबीर साहित्य के अनुसार विवाह संस्कार

की ये ही मुख्य क्रियारं है। ये ही क्रियारं लौकिक संस्कार में भी मुख्य माने गए हैं ।

दिरागमन

विवाह संस्कार के अन्तर्गत ही दिरागमन संस्कार भी सम्मिलित है। इस संस्कार का उत्पत्ति कबीर ने अपने साहित्य में अप्रतिम ढंग से प्रकट किया है । बाब के युग में विवाह के साथ ही वधू को विदा कर दिया जाता है, क्योंकि विवाह जीवनत्व को प्राप्त हो जाने पर किया जाता है, पर यह भी प्रया संपूर्ण स्थानों में प्रचलित नहीं है। बाब भी बाल विवाह बहुत अधिक प्रचलित है। किन्तु कबीर के युग में बाल विवाह होता था, एहीलिए 'दिरागमन' की आवश्यकता महत्त्वपूर्ण थी ।

कन्या का जीवन कष्टान, विवाह एवं स्थायी का जीवन होता है। कन्या माँ की धरती में पैदा होती है। पिता के संरक्षण में उभरा अस्तित्व रहता है और भाइयों सहस्रियों के बीच बह पलती है, बढ़ती है । एक दिन उसे सजा पासकी में बिठाकर अपरिचित देस के लिए अपरिचित जगहों के बीच अपनी को पराया और पराये को अपना मानने के लिए उसे विनोत, गुणवन्ती एवं सीमाश्रयतालिनी कहकर विदा कर दिया जाता है, माँ-बाप के अंगन में कमर, वासीय एवं संरक्षण प्राप्त किये कन्या विरह्याँ ऐसे पुन-कती थी, बहकती थी, किन्तु जब उल्लेख 'मम' के दिन आ जाते हैं तो उभरा मन कष्टाना और विचार्य से भर जाता है। कबीर ने कन्या के स्व मन की अभिव्यक्ति की अतीव सुन्दर रीति में व्यक्त किया है :

माता पिता घर कम्य कीतिनि, बाय नवन नमिमाना ।

का ते मिली पिवा अपन से, करिहाँ कीन बहाना ॥ १

१- कबीर सङ्गावली - विविध सङ्घ ४

कन्या के मन की कतलण व्यभिच्यवित है कि माता पिता की कवि में अभी स्वच्छन्द हो रहती थी, प्रिय के घर 'नवन' हो जाने पर जाना पड़ना, वहाँ की बेदना को स्मृति से उठका हुयव दुःख हो रहा है। प्रिय मितन से उसे भय हो रहा है। इस पद में कन्या पिता से थिथक थिथक कर कतलण प्युहार करती है कि 'नवन' की तिथि और कदा की जाय, पिता कन्या की प्रार्थना पर 'नवन' की तिथि नाई तथा ब्राह्मण के जाने पर टाल देता है, किन्तु दूसरी बार पियाही जा जाती है और उसे थिथक होकर जाना हो पड़ता है :

‘तैल से नेहरवा दिन चार ।

पहिली प्यानी तीन जन बाद, नीचा बाम्फन कहरि ॥

बाहुतबी में पैदा लोरी लागी, ककी नवन दे टारि ॥

०

०

धरि डोलिया बाह कन माँ उतरलि, कोह नहीं ली

हमार ॥ १

अपनी साथ किये गये व्यवहार को कन्या व्यथित होकर कहती है कि बबरन मुनि डोली में बैठा लिया। मैं थिथकिया और थिथकिया भर भर कर बिल्लाबी पर मेरी कतलण पुकार सुनने पर भी लोग न धुल गये। डोली में बैठाकर वहाँ से गये वहाँ मेरा कोई नहीं था। पिया के लिए प्रियमन ने पातकी छवा दी है :

‘साहं भी छावि रहँ एक डोली ।’

पातकी में पाँच कहार हैं जो अपनी मन से ऊपर उधर से जाती हैं :

१- कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २५

“ पाँच कठार का वरम न जाना । ”

पातकी कभारीदार सुती से बनी है -

“ एक कभार धम छूट लटोता । ” १

यहाँ पर कबीर ने मानव शरीर को एक कण्ठ छूत से निर्मित लटोते के समान बताया है। जिसके चारों ओर पुच्छा घूमती फिरती है, जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, रसना, स्पर्श बिना समस्त चारों ओर विषय दृष्टि में भटकती रहती है। सुसंरक्षित होते समय स्व-कर्ता से प्रयत्न होने का बहुत स्वाभाविक जेदना का वर्णन कबीर ने स्पष्ट किया है :

“ डोलिया उठाने की बीजा बनवा, जहाँ कोई न बनार ।
पह्यां तीरी लागीं कहरवा ही, डोलो पर दिनवार ॥
मिल लै छतियां छतर, ही मिली छूत परिवार ॥ २

कन्या अपनी पुण्य की परीक्षाओं व्यथा व्यक्त करते हुए कह रही है, मुझे डोलो में बैठाकर उधे अपरिचित पतवार परिवारों के मध्य लिये जा रहे हैं, जहाँ मेरा कोई भी परिचित नहीं है। यहाँ कन्या के झुठार के व्यथा की कद की जाती है जब वह ले जाने वाले कठारों के पाँच पक्षों लगती है और कहती है- एक साण भर के तिर डोलो रत की जिससे मैं अपनी छेतियाँ और स्वकर्ता से एक बार पुनः मिलूँ। कन्या के कष्टों प्रार्थना पर कठार डोलो रत देते हैं किन्तु किन्तु साण बाद ही प्रियतम वाकर कहते हैं :

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६०

२- कबीर - कबारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ २७४

‘हा हिवा फेदाय धनि सुर, मिहि सेह सहेली ॥ १

वीर कल्याण है दि -

इस दिन तो हि पिय के घर जाना ।

काहे रोखी काहे गाखी, कहहे करत बहाना ॥ २

यहाँ पर फक्कड़ कबीर ने पत्नी में बाकर
फक्कड़ाने हंग से क्यापं और सत्य भाषण कर दिया है ।

ब्रह्म के विद्या का विग्रह ' ज्योतिषं वेद ' में भी मिलता है । ब्रह्म सुन्दर वस्त्र तथा उत्तरीय धारण कर नेत्रों को लम्बे रीति कर तथा अपनी बलियों के साथ उनके रूप में अनीष्ट पति के घर के लिए प्रस्थान करती थी ।^१ पितृ गृह छोड़ते समय निम्नलिखित वाणीविष्णुओं का उच्चारण किया जाता था- ' पतियों तथा कृपायु सुहृदों को प्राप्त कराने वाले ज्योतिष की हम प्रार्थना तथा स्तुति करते हैं , जिस प्रकार ठीक से फल फलू किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हें यहाँ (पितृ गृह) से मुक्त करता हूँ । मैं उसे पितृ गृह में पशुर बन्धन से बाधता हूँ वह यहाँ उदार हन्त्र उसे ऐश्वर्य तथा सुखों के फल प्रदान रहे ।^२ लोकगीतों में भी विद्या के समय पिता कन्या को शुभाशीर्वाद देता है :

“मह विवाह परा पिर सेंदुर ,

ਹਧਕਾ ਕੀਫੀ ਬੀਤਾ ਠਾਕੇ ।

- १- कबीर- कवारी प्रभाव दिव्यो- पृ० ३१५
२- पृ० ३३१
३- कर्म विद १४।१।६ -२३
४- .. १४।१।१० - २०

सुधा नहावी घेटी, पुस्तक फसेऊ,
कोसिका भाकर लागू रे ॥ ९

लोकगीतों में पिता कृष्ण हृदय के बप्पी
 ताइती कच्चा की दूध के नहाने और पुत्री के कलने का वासीन देता है ।
 विवाह के समय नर्मस्पर्शी कलण गीत भी लोक गीतों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध
 है :

बाबा के रोये न पिया बखित हउ ,
 माया के रोये तलवा ।
 मइया के रोये दिया फाटत हउ,
 बखित जलो है परियत ॥ २

कन्या के कल्याण सुदन के मानव पशु, पशुति यहाँ तक कि पृथ्वी तक की धन-
निर्या इस्ती हैं।

का लिंगास ने अपने वर नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में लक्ष्मणा के विवाह के समय बहुत ही मनोन्मत्ता कल्पना दृश्य उपस्थित किया है-

उद्गसित वपः वलाः हरिण्यः परित्यक्त वक्ता प्युरीः ।
वपसित पाण्डुका , मुष्टय मुण विस्तताः ॥ ३

(सङ्कलना की विधा की वेला में हिरण सङ्कलना के कल्याण लयन की प्रवण

- १- बधेली लोक रागिनी - डा० मनमती प्रसाद शुक्ल पृ० ६६
२- " " " " " " पृ० ६६
३- वभिज्ञान शाकुन्तलम् - का लियाम् - चतुर्थे की

कर व्यक्ति की वृत्ति के द्वारा की उन्नत होती हैं। नाचती हुई मयूरियां तपता नृत्य बन्ध कर देती हैं और सतारें पीछे पत्ती गिराकर खुद विमोचन ही करने लगती हैं।)

जान के लिए कहीं कहीं कबीर ने कन्या के
हृदय की प्रसन्नता भी व्यक्त की है :

* चायी दिन गीने के ही, मन होत हुआस ॥ १

यहाँ पर कन्या 'गवन' के दिनों की समीप सम्झकर मन में हर्षित हो रही है। एक अभिप्रेत में कन्या स्वयं अपनी पुतले 'गवन' जाने के लिए लम्बा प्रयत्न करती है और प्रियतम के पितर जाने-नियत होना चाहती है :

कहे कबीर हम गीने धेरे, तरब कंत से तुर बजाये ॥ २

एक दिन उसकी भावना पूर्ण हो जाती है
वीर बल्लहस्तो है कि :

‘सर्वे सं साधु जाते ॥ ३

किन्तु उस प्रकार की अभिव्यक्ति कबीर साहित्य में न्यून है। कन्या की प्रसन्नता कम प्रकट है व्यास की अधिक अभिव्यक्ति पाई है। कबीर ने नय वधू के नय पीलाकट का क्षीय सुन्दर और व्यास ने निद्र स्पष्ट किया है :

नहं बहुरिया गीने वारहं ।

ਲਕਖਰ ਲਕਖਰ ਹੀਰੰ ॥ ੪

१- कबीर- हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० २७४

२- ५० रु॥

3- " " 90 71

नवानगता बधू तर्पित्वी होती है। वह तज्जायत अपनी पीताक की टीक से संभात नहीं पाती है। इसलिए उसकी पत्थिनी दुःखें साड़ी लहवर लहवर होती रही है, कबीर के इस चित्र से ऐसा महसूस होता है। मानी नेत्रों के सामने नवानगता बधू की साड़ी लहवर लहवर कर रही है।

सुहागरात

विवाह संस्कार और दिरागमन के पश्चात् पति अपनी सज्जायत करते थे। रात्रि में बधू अपनी सयन कक्षा में ले जायी जाती थी। यहाँ वह और वह एक दूसरे के नेत्रों की अभिषिक्त करते थे। बधू अपनी पति की मनुवात वस्त्र पहनाती थी। घर मन्त्रों का उच्चारण कर उठे अपनी सेवा पर बाध होने के लिए कहता था और समुचित मन्त्रों के उच्चारण के साथ वे दोनों संयोग करते थे। साधक कबीर ने आध्यात्मिक भावना के माध्यम से 'सुहागरात' के चित्र अपनी साहित्य में स्पष्ट किए हैं जो तत्कालीन समाज के 'सुहागरात' के प्रति रूप हैं। प्रथम चित्र के स्वाभाविक भयाङ्कान्त के हलकन का चित्रण कबीर ने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है :

रेनि नई भीत दिन भी बाईं, भवर उड़े नम बेठे बाईं ।

०

०

घरहर घरहर कंजी बीब, नई बानू का कारहँ पीब ॥ २

रहस्यवादी कवि कबीर ने यहाँ प्रिय चित्र से पूर्व की मनःस्थिति की अभिव्यक्त किया है जो नवीदा बधू प्रथम समागम के भय से प्रिय चित्र में संकीर्ण करती है। बधू बीजती है, रात बीज नई थी,

१- हिन्दू संस्कार - डा० राजकली पाण्डे पृ० २५

२- कबीर ग्रन्थावली - बाबाबं सवारी प्रभाव दिव्यदी पृ० २३६

बीर दिवस भी व्यतीत हुआ था रहा है। रात्रि आनन्द मुक्त बिदुष प्रकट होने लगे हैं। अमर पराग से उठ उठ कर उड़ चले बीर बंगला पवित्रकट होकर अपनी स्थान की लौट चले। यद्वा कहती है मेरी आत्मा घर घर काँप रही है, क्योंकि पता नहीं प्रियतम (ब्रह्म) प्रपन्न मित्तन में किसे भाँति व्यवहार करना ? नव दुस्स्व की स्वाभाविक भय की अभिव्यक्ति कबीर ने इस उक्ति में की है :

निबिदिन देखत रही वलियन वन मोहि बड़ा डर लागे ।
 मोरे बाह्य की जेची कटरिया , बढ़त में जियरा काँपे ॥
 वो सुत चाहे तो तज्या त्यागे, पिया से विलसित लागे ।
 छूँट तोल के भर भेटे, नैन वांछी लागे ॥ १

नवागता नवीदा दुस्स्व कहती है मैं तो अभी तक अपनी बहिर्या के बाध लेलती रही हूँ, मुझे प्रियतम से मित्तन में बहुत भय लग रहा है। मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ, जाने कहती है कि मेरे प्रियतम की सेवा उत्तुंग कटारी पर है, वहाँ बढ़ते हुए मेरा बीध काँप रहा है, दुस्स्व की उपेक्षा कहती है कि यदि तुम्हें प्रियतम समानता का सुत प्राप्त करना है तो तज्या की त्यागकर प्रिय से प्रेम से मित्तन ? मेरा मैं प्रेम की वांछी सेवा, छूँट तोलकर प्रियतम से वांछित कर ? कबीर का यह विश्लेषण बहुत ही मनी-वैज्ञानिकपूर्ण व्यक्त हुआ है।

सुखानराय का दूसरा चित्र स्पष्ट करते हुए कबीर कहती हैं :

‘ न्याय धीय दुस्स्व होय कैठी ,
 मोहे पिया की बाट रे ।

तनिक छुटका विलास सबी री ,
बाज बीजान की रात रे ॥ १

उस पल में कबीर ने प्रतिपादित किया है कि
नव- बंधू बीसवीं तुंगार करके अपनी प्रियतम के जाने का वाक्य सेवा में प्रतीक्षा
कर रही है। उसका प्रियतम जाता है और उससे कहता है बाज बुझान रात्रि
की तुम सेवा में छुटका पट तोलकर सुन्दर सुत का वर्तन करी में , प्रथम वर्तन
के दिन और प्रथम मिलन के दिन नवबन्धु कहती है :

‘ हम तो तुमरी बाबी बनना , तुम हमरे भरतार । २

हे प्रियतम । हम तो बाकी चरणबादी हैं
और बाज हमारे स्वामी ही, मालिक ही, नवबन्धु अपनी तुम की कृपुति व्यक्त
करती हुई कहती है :

‘ चरन पसारै कवन निहारै ,
तब मन धन सब बाईं पे नाजै ॥
बा दिन पाये पिया धन सीई ,
हीय जिय परम सुत हीई ॥ ३

नवबन्धु कहती है प्रथम मिलन के अवसर पर प्रियतम
के चरण धीकर और उनको मोहक इति का वर्तन कर अपना समस्त जीवन उनके
चरणों में समर्पित कर दिया , और जिस दिन वे प्रियतम की प्राप्ति किया है,
उस दिन से परम सुत की प्राप्ति कर रही हैं । दूसरे प्रकार का चित्र है, अपनी

१- कबीर- बा० हजारी प्रसाद दिविवी पृ० २२

२- पृ० ३३०

३- पृ० २२

फिरुगुड से बातें बातें बहुत रास्ते पर की कठिनाइयाँ से भरी रहती हैं और अपनी स्वप्नों की स्मृति भीषण बनती रहती है। ऐसी परिस्थिति में कभी नाकी नाकियां सुहान रात के कपड़े में बांध ली जाती हैं, अपनी श्रम की नाक सेना नहीं बना पाती है, कभी कमिश्नरिज कबीर ने कहीं अग्रिम रूप से की है :

‘बान पियारी कलक छोड़े, कबहुँ न पिय की सेवा खोरी ।
तैं बीरी बीरान कीन्ही, पर जोन पिय अपन न कीन्ही ।
बन बैल पिय ऐन न तेरे, तोहि कीहि उठि गर खरी ॥ १

नवानता बहुत जीवन से पूर्ण होने पर भी अपनी श्रम की सेवा न बना सकी कर्ता प्रिय से मिलन न हो सका श्रम के जाने पर भी होती रही। श्रम बाधा और भी होती ही उसे होती कल्याण में ही होकर बना गया, वह श्रम समान की सुलभुति से वंचित रह गई। कबीर ने अपनी आत्मा रूपी बहुत की सम्पत्ति करते हुए स्पष्ट किया है। परन्तु ताँकि सामान्य नाक को संपूर्ण गतिविधियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। इस प्रकार कबीर ने ‘विवाह संस्कार’ का वर्णन अपनी साहित्य में प्रस्तुत किया है। उन्होंने शाधना के माध्यम से समाज के ‘विवाह संस्कार’ उन्नीही रीति रिवाज, बाजार व्यवहार, दिरा-गमन, सुहान रात्रि आदि पर कथुत कथनीय एवं वाक्यिक ढंग से वर्णन किया है। जिसमें समाज की रीति नीति के साथ ही काव्यत्व में संपूर्ण गुण परिलक्षित हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष

रूप में ' विवाह संस्कार ' के मूल उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट किये जा सकते हैं :

- (क) विवाह बीभक्ष्य दम्पति का स्वीकरण
- (ख) विवाह एक नवीन सम्बन्ध
- (ग) विवाह एक समाप्त या स्थायी सम्बन्ध
- (घ) विवाह विधाय भीम का अनुमति यह नहीं
- (ङ) विवाह एक सामाजिक परिवर्तन तथा यत्न ।

(७) अन्त्येष्टि संस्कार

मानव जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है, जिसके द्वारा वह अपने ऐहिक जीवन का अन्तिम क्रियाय समाप्त करता है । मनुष्य द्वारा अग्नि के वाहिकार तथा उसे अपने उपयोग में लाने के पूर्व तब या तो निष्कृतः फेंक दिये जाते थे , अथवा भूमि में गाढ़ दिये जाते थे या पवित्र पहाड़ी पर्वतों की चोटी पहाड़ियों के लाने के लिए लुप्त मैदान में गाढ़ दिये जाते थे । डा० राजवल्ली पाण्डेय का कथन है कि ' दाह ' की प्रथा बहुत अन्त में ही अस्तित्व में आयी होगी । एक अन्य विश्वास की दाह क्रिया के सम्बन्ध में प्रचलित सिद्धांत है कि दाह की प्रथा के प्रसार में सहायक हुआ प्रतीत होता है, यह विश्वास प्रचलित था कि भूत प्रेत अधिकृत भूमि में गाढ़े हुए मृत व्यक्ति की आत्मा से उत्पन्न होती है ।

अतः लोगों ने व्यापक रूप से दाह की प्रथा के प्रसार और उसके द्वारा मृत व्यक्ति की अपनी कर्मा का दण्ड या पुरस्कार प्राप्त करने के लिए यत्नशील में लेकर मृत्युशील में उनकी ईर्ष्या कम कर देना

१- हिन्दू संस्कार - डा० राजवल्ली पाण्डेय पृ० १०६

२- पारस्कर श्रद्धा सूत्र - ३।१।२

आवश्यक समझा, जिसे भी कुछ तथा निष्ठावान् होते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार की हानि से रहित सम्पत्तकर उनके लक्ष को माहता जाता है। बाह्य क्रिया बिना किसी मूल आत्मा अपनी मूल पूर्ण निवास स्थान का चकर काटता रहता है। बीर बिना आत्मपना के कष्ट जाता तथा प्रेस के रूप में महान् संकेत में प्रस्तुत रहता है, यह विश्वास बाव भी बहुत मात्रा भारत में हिन्दू लक्ष को "बाह्य" क्रिया से सम्पन्न करता है, इसलिए बीर मुक्तमान माहते हैं।

उत्सव बीर त्योहार

भारतीय लोक जीवन आधुनिक काल के पूर्व एक अपेक्षाकृत अधिक सुनम बीर उत्सव आर्थिक ढाँचे पर स्थित था। यहाँ तक कि जीवन की समस्त सामाजिक विधायिता संस्कार का बीज थी। इस कारण इसकी वैधी चेतना नहीं थी, वैधी तान है, मन्त्रकाल में इस भावधूमि पर लोक अपनी आनन्दोत्साह केरुके लोक व्यवस्था से स्वीकार करता था। जिनमें समस्त लोक समाज उत्सव ही एक रूप ही जाता था। ये व्यवस्था लोक प्रवृत्ति साधन, विडोला, हीली काल बीर दीवाली वैध त्योहार बीर उत्सव के थे। संदर्भ में लोक भावना के इस स्तर से उनके आनन्दोत्साह की आध्यात्मिक साधना के पक्ष में अपनी काव्य में ग्रहण किया है। समस्त कबीर ने इन त्योहारों के वर्णन एक मात्र श्रु का ही वर्णन प्रस्तुत किया है। कबीर की साधना श्रु चरणों की प्राप्ति के लिए रही है, इसलिए उन्होंने बहुत बहुत बीर प्रत्येक उत्सव बीर त्योहार में भी उल्लेख लीक रहे हैं।

हिन्दुओं के त्योहारों के साथ उस युग में कुछ मुक्तमान्यी त्योहारों का प्रचलन भी था। वस्तुतः ईद, सैयरात, बाराबकात तथा मोहरम त्योहारों का लोक में प्रचार ली हुआ, परन्तु उनकी वह लोक

स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी। सभी तथीयार्थों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक भावना ही रहा है। सभी दृष्टि से कबीर काव्य में उनके सम्पूर्ण का सत्य में है, केवल शक्तिविक भाषा में मिलते हैं।

(१) मौलिक पक्ष

रस सख

विनयार्थ से सम्बन्धित निर्देशों का कबीर काव्य एवं सम्पूर्ण सन्त काव्य में ज्ञान दृष्टिणीपर होता है। भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से ज्ञान व्यवस्था द्वारा व्यवित का जो जीवन क्रम निश्चित किया गया था वह इस युग में जाकर पूर्णतया विरुद्धित हो चुका था। इस काल सन्त के पूर्व ही जबकि एक ओर देश के सांस्कृतिक केन्द्र नष्ट प्रष्ट किधे जा चुके हैं तथा दूसरी ओर जनता का जीवन जतना नीम हीम और हिम हो गया हो कि वह अपने उदर पोषण की विन्ता से अधिक कुछ सोच समझे की स्थिति में ही न रही हो, तब ऐसी स्थिति में उस जीवनक्रम के निर्वाह करना समाज के नेताओं द्वारा उसकी प्रतिष्ठा की जाता ही नहीं हो जा सकती। उपर्युक्त प्रकार से जब विन्ता में मान भारतीय जनता के जीवनक्रम के जो सम्प्राप्त रूप निजी परिस्थितियों के कारण कुछ निम्न परिवर्तन के साथ प्रकाश में आते हैं। वे इस प्रकार हैं- शिष्टा व्यवस्था, गृहस्थ तथा संन्यासी या वैरागी वैसा ही दृष्टिगत किया जा चुका है कि ये अपने मूल रूप से निम्न विवाह पड़ते हैं। किन्तु वस्तुतः वे प्राचीन परम्परा के विकसित रूप ही हैं और वह निम्नलिखित विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है।

कबीर काव्य में स्वदिग्गज निर्देश पूर्ण रूप

से नहीं मिलते, फिर भी उनके बाधार पर उसकी तत्कालीन दशा का सम्यक्
 स्थिति अनुशीलन किया जा सकता है। सम्बन्धित निर्देशों के अनुसार पन्द्रहवीं
 तथा बीसवीं शताब्दी में विषाध्यपन के लिए स्थानीय पाठशालारें खुला करती
 थीं जिनमें गुरु बदार ज्ञान से लेकर समकालीन स्तर के मुख्य शिक्षा दिया
 करते थे। उच्चशिक्षा के सम्पर्क में अध्ययन कराये जाने वाले विषय व्याकरण
 वैधव्य, वेदशास्त्र तथा विविध दार्शनिक मतवादी के थे, किन्तु यह प्रतीत
 होता है कि इनका ज्ञान केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित था^१। क्योंकि स्त-
 दिभ्यस्त निर्दिष्ट केवल ब्राह्मण वर्ग के सम्पर्क में ही आया है। कतः यह अनुमान
 बाधार ही कहा जायेगा कि या तो स्तर जातियों में उच्च शिक्षा का प्रसार
 न था क्योंकि ऐसे विचार्यों के अध्ययन से वे प्रायः वंचित रहती जाती थीं फिर
 भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों में उच्च शिक्षा की
 अवस्थिति परम्परागत रूप से किसी न किसी मात्रा में बनी जा रही थी।
 उनके अतिरिक्त इन रचनाओं में सामान्य शिक्षा के अन्य उपकरण भी प्रति-
 विम्बित हुए हैं। उक्त युग में प्रारम्भ में पढ़ती या (तस्ती) तथा सैली
 द्वारा बदार ज्ञान कराकर आगे चलकर कानन बीर सैली से विषाध्यपन कराया
 जाता था। अध्यापन में आवश्यकतानुसार शाली को दण्डित करने के लिए
 कड़ी का प्रयोग होता था जो आज भी प्राचीन पद्धति की पाठशालाओं में
 दिखाई पड़ता है। यहाँ तक सन्त कवियों के निजी दृष्टिकोण का विषय है,
 वे ज्ञानार्जन की साधनज्ञान कथा विद्वत्ता प्रदर्शन के लिए आवश्यक मानते थे,
 किन्तु उनके प्रति उनका दृष्टभूत विरोध नहीं था जो कि बारम्भ में उल्लिखित
 उनके साहित्य की विशेषताओं से प्रमाणित है।

सन्त कबीर के विचार से गुरुत्व का अनिवार्य
 गुण उपायता है जिसके बिना उसका जीवन सफल नहीं हो सकता। यह उल्लेख-

१- जो मुख्य वैदिक ज्ञान ---- । कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २५८

नीति है कि नीतिज्ञ जगत् के प्रति वलित्वता का दृष्टिकोण अपनाकर भी सन्त कवियों ने गृहस्थ जीवन की उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखा, वे जन की संभाव्य निर्वृत्तता तथा जीवनगत व्यावहारिकता को नहीं भाँति समझते थे, बलिकारण है कि उन्होंने घर छोड़कर बन बाकर रहने की भी ज़ावरक उद्योग पर ही परमात्म्य प्राप्ति की कामना की है। सन्त कमात ने घर छोड़कर वैरागी हुए। योग कमाने वाले शास्त्र की सत्य कहें कहा है कि 'ऐसा योग शास्त्र करने से क्या लाभ जबकि बन में निवास करने की र मृत्यु रमाने के बाद भी तुम पुनः बीराही सात योनियों में भटकना पड़ा। इसका शास्त्र अत्यन्त कठिन है तथा एक बार नीति गिरे तो पुनः सुधारना बीर भी कठिन है। अतएव मुक्तपूर्वक अपने मस्तमें ही रहकर राम बन करना तथा सच्चा ध्यान लगाना उत्तम है। क्योंकि हममें किसी प्रकार के भय कीवार्त्तता नहीं है, हमसे प्रकट है कि सन्त कवियों ने गृहस्थ जीवन के प्रति एक सुग्राह्यता के रूप में स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है।

ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिप्रिण में यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने स्त्री-बावर्त को निजी जीवन में अपनाया भी था।

वैश्वभूषण

कबीर वैश्वभूषण की कोई महत्त्व नहीं देते। क्योंकि उसका वाचरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वाचरण की परत वैश्वभूषण के बाधार पर की जायगी तो मनुष्य धीला जा सकता है जिस प्रकार वह धन कूट भी चमकता है वह सीना नहीं होता। स्त्री प्रकार की उज्ज्वल बीर तुल्य वस्तु धारण किए फिरता है, वह निर्मल वाचरण वाला ही ही,

ऐसी छिड़ नहीं होती, इसलिए कबीर अपने दृष्टिकोण को बढ़ी दृढ़ता से व्यक्त करते हुए कहते हैं :

उज्ज्वल देख न धीबिये, बग ज्युं मडि ध्यान ।

बीर बेठि चपटबी, तू ते ठूठे ग्यान ॥ १

कृष्ण लोग फैलन के लिए बेल बनाये फिरते थे, वे उनकी टेढ़ी फाड़ी या कड़े जूड़े की बेलकर उन्हें केवल भासा ही मानते हैं । ये बीनई चीथें फिर की सीमा नहीं बढ़ाती हैं, वरन् फिर का भार ही बढ़ाती हैं, वे फिर की सीमा प्रष्टा के सम्बन्ध से मानते हैं, वो फिर कन्तर से प्रष्टा की धारण करता है, जन्मा वो जन्तुभाव में उसके लिए मत होता है, वही पुन्वर फिर है। क्योंकि जूड़ा बीर फाड़ी के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं ।

कबीर के समय में बहुत से लोग वैष्णुणा की ही धर्म मान बैठे थे, कृष्ण लोग भासा धारण करते थे, कृष्ण शुभ वस्तु धारण करते थे । कृष्ण केत रल्ले थे, कृष्ण मुंडाते थे । इसी प्रकार नाना प्रकार के वैश्वों में लोगों ने धर्म का निवास मान लिया था । कबीर उनकी भी धारण की सिखा देते हैं । उनका कहना है कि धर्म बेल में नहीं किम बीर मन में है। इसलिए कबीर की दृष्टि में कोई भी मनुष्य शरीर या वैष्णुणा से योगी नहीं हो सकता । मन की योगी बनाने से ही योग छिड़ होता है। इस प्रकार कबीर वैष्णुणा की महत्व नहीं देते , क्योंकि वे मानसिक उन्नाहं की पतन्य करते हैं, वाधना मन को हीनी बाहिर बेल की नहीं । कबीर ने उपर्युक्त विचार प्रस्तुत किए हैं। कबीर ने अपने काव्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित विविध

१- ०- कबीर ग्रन्थावली पृ० ६०।३

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० १८८। २६४

प्रकार के परिधानों का उल्लेख किया है जिसका वर्णन हम यथास्थान कर चुके हैं। परन्तु फिर भी कबीरसाहेबों के समय में स्त्रियों एवं पुरुषों के वस्त्रों का भी निम्नलिखित रूप में चित्रण प्राप्त होता है।

(क) पुरुषों के वस्त्र

धोती, कसरता, फाड़ी, जोत्ता आदि ।
 और वस्त्र कम्बल, गुदड़ी, केसा, छात, कुलाहे तथा चादर साधू एवं संन्या-
 सियों के वस्त्र कीपनि और लंगोटी इत्यादि ।

(ख) नारियों के वस्त्र

साड़ी, चुनरी, बीड़नी, कंकुकी, बंगिया,
 जोत्ती, धावरा आदि ।

चुनरी का वर्णन इस प्रकार है। यथा-

‘मोरी चुनरी में परि नयी दाम दिया ।
 पाँच तत्त की बनी चुनरिया सोरह से बंद लाग दिया ॥

०

०

कह कबीर दाम कब टुटिहै, जब साहब अपनाय लिया ॥ १

कंकुकी का वर्णन निम्न प्रकार मिलता है-

‘बिना जोत्तन बिना कंकुकी, बिनही लंग छंद होई ॥ २

बंगिया नारी का वस्त्र होता है, जो नाभि

१- कबीर - सवारी प्रसाद दिग्विदी- पृष्ठ संख्या १६५

२- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १५६

के ऊपर पल्ला जाता है, वर्णन स्वप्नकार मिलता है। क्या-

“ वासना की पेली बैगिया विलन दाग परि जाई ।

यहाँ बैगिया मन की मलिन वृत्ति या वासना का भी प्रतीक है।

शृंगार प्रबोधन और बाधभ्रमण

कबीर काव्य में भी वह तन्त्र सोलह शृंगारों की पूर्ण हुई है। जैसे कबीर ने कई स्थलों पर “नवसत” का स्पष्ट प्रयोग किया है। यद्यपि कहीं भी उन शृंगारों का विवरण नहीं दिया है। क्या-

“ नवसत छाये कामनी, तन मन रही संजीई । १

कबीर प्रन्धावली के अनुसार पायल और बिहुवा के प्रसन्न के साथ दाँत में काकल, मँजन, और भाँग में सिन्दूर का प्रयोग किया जाता था -

का काकल स्रुद्धर के दोधि ।

सोतह शिंगार कहा भयी कीयें ॥

० ०

कैसे हो रही सी पियहि पियारी ॥ २

यहाँ कबीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि

१- कबीर प्रन्धावली पृ० ४।७

२- .. पृ० १३६

पतिव्रता स्त्री के लिए सीसह झुगार करना अनिवार्य नहीं है, वह चाहे वैसी रहे प्रिय की प्यारी होसी है।

श्रीत काव्यकारों के प्रसुत कवि कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना में लीन रहते हैं। नारी तो ब्रह्म की प्राप्ति में बाधक रही है, काव्य 'नारी निन्दा' करते हुए नारी से दूर रहना स्वका धर्म था। वह सब होते हुए भी श्रीत साहित्य में प्रचारात्पर से नारी झुगार तथा वैश्वदेव का उत्प्रेत रूप तथा भित्ति है, कहीं कहीं यह उत्प्रेत सीधा, कहीं प्रिय के भित्ति हेतु कहुरिया के रूप में कहीं प्रतीक और कहीं उपमान के रूप में गया-

नवप्रसन्न धावे काँझिनी तन मन रही सीसह ।

पीस के मनि भावै नहीं, पटम कीयै क्या सीसह ॥ १

कबीर ने 'सीसह झुगार' का भी उत्प्रेत किया है :

'सीसह झुगार, स्त्रीगार कहा मयी कीयै ।' २

कबीर ने इसके अन्तर्गत दूरा, पायल, बिहना इत्यादि वायुचरण तथा काकल, कंव, भोजन आदि मुख्य प्रसाधनों की वर्णनित किया है।

काकल का प्रयोग 'कन्धकार' के प्रतीक अर्थ में भी भित्ति है।

'काकल तेरी कोठड़ी, काकल ही का कोट ।' ३

कहीं कहीं घुरे झुगार के अर्थ में 'काबर'

१- कबीर ग्रन्थावली - भेष काँ की पृ० २३

२- कबीर ग्रन्थावली पद १३६ पृ० १३३

३- कबीर ग्रन्थावली पृ० ६

का प्रयोग है और कहीं प्रतिकारक बाहरी बाध शून्य है। बाहरी प्रभाव, का बाधक है। क्या -

निज पोषण की बाध नहीं है, नाशक कारक पारि ॥ १

0

0

हाथ में नारियल मुँह में बीड़ा, नीतिमान पाँव परी ॥ २

कैम के तिर घुमन्धित जल, उबटन तथा धातुन का उपयोग किया जाता है, घुमन्धित तेल के अतिरिक्त जल, चीना, जलना, चन्दन आदि का प्रयोग किया जाता है।

बाधुचणों के नारों का उत्प्रेत भी किसी विद्वान्त के प्रतिपादन में उदाहरण स्वरूप मिलता है या किसी नारी की निम्ना में, कबीर जीभायकृतक तीन प्रधान बाधुचणों का उत्प्रेत एक साथ किया है। गति में माला के प्रयोग की भी कई हैं, कानों में कूँडल तथा हाथ में बार्शी का भी उत्प्रेत मिलता है। कूँडल की संत भी धारण करते थे :

कैम के कूँडल की ऊपर लाल कड़ाउ ।

बीसहि पीढ़े कान ग्यौ बिस कन नाहो नाउ ॥ ३

भास्तीय बाहुमय में सामाजिक जीवन में तरीर की सम्यगीय बनाने की प्रक्रिया क्या से विशेष महत्वपूर्ण रही है। इस उद्देश्य से तरीर की बाहुतः स्वच्छता करना, उस पर लेप या पुर्ण लगाना, कूँडल धारण करना, कर्णधार धारण करना आदि सुव्यक्त नागरिक के कार्य रहे

१- कबीर - हजारी प्रभाव दिव्यो पद सं० ११

२- पद १८८

३- कबीर ग्रन्थावली - शास्त्री संख्या १६ पृ० २५०

नाम बिकाली बावरी है जिसे नाम या धीमन्त भी कहते हैं। अथवा धिम्पू
झिम्पू कभी धिम्पूर भरती है।

उ०- अन्धन नयनों में काजल लगाने का उल्लेख
कबीर ने विविध बार किया है।

ब- धिम्पू की ओर तिलक के साथ वर्णन का
भी वर्णन आया है। बाधुचणों में कबीर ने केवल ना रियों के बाधुचणों
का ही वर्णन किया है। क्या-

१- शीत के बाधुचण- टीका या शीतपूत

२- माथे का बाधुचण - बैदी

३- कान का बाधुचण- पुष्पका या पुष्प

४- गले के बाधुचण- हंसल, गव, मोतिन,

हार, हरे का हार, मोती माता कीर आमान्य हार ।

५- पैरों के बाधुचण- गुपल . वृषुर,

पैनी, बिहूना कीर बँडठा ।

कबीर ने अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति में जो
उन ठूँकार कीर बाधुचणों का वर्णन किया है । वह तत्कालीन संस्कृति
कीर सभ्यता का स्पष्ट परिचय कराता है। कबीरदास की यह परिकल्पना
कितनी कर्मयोग कीर साथ ही कितनी बहुमुख है। अद्भुत ही समझ सकते हैं।

इस प्रकार कबीर साहित्य में परीक्षार्थ
के व्यापक शैली में पर्याप्त सामग्री मिलती है जिसे तत्कालीन ठूँकार तथा
वस्त्राभूषणों का प्रचलन ज्ञात होता है।

तान पान का स्वरूप

कबीर साहित्य में भोजन सामग्री का ऐसा विस्तृत वर्णन नहीं है, जैसा जायसी आदि कवियों के साहित्य में मिलता है, उन्होंने प्रसंगानुसार अपने समाकालीन समाज में प्रचलित विविध व्यंजनों की सूची दी है। जायसी की प्रबन्धात्मक प्रशस्ति के कारण उनकी ऐसा करने की बहुत कसर मिल गया था। जायसी ने हिन्दू पुरुषमानों की भोजन सामग्रियों को बहुत कम वर्णन किया है। इन्होंने (बावल, मधि, पान) इतना विस्तृत वर्णन किया है कि उनके नामों से लक्ष्यता का मन जब जाता है।

कबीर साहित्य में विविध व्यंजनों की भी सूची मिलती है। उसमें प्रायः मिष्ठानों तथा मधिलारों के नाम उनकी कटु बालीयता के रूप में आए हैं, इसके यह समझना प्रसूयण होगा कि वे जनसाधारण के सामुहिक फार्म थे। जनसाधारण की स्थिति ही ऐसी थी कि किसी विधि से अपनी उदरपूर्ति कर लें, वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति पीढ़े बाटा दात में ही संतोष का अनुभव करते थे। अतः कबीर साहित्य में निम्न वर्णित सामग्रियों समाकालीन जीवन समष्टि से सम्बन्धित है।

(क) निरामिष भोजन

सन्तकबीर ने बहुत जीवन पद्धति की ही स्वीकार किया है। वे प्राणी के लिए भोजन आवश्यक मानते हैं, किन्तु स्कादशी का व्रत दूध पीने तथा चिपकाटा ताने के लिए भी करते थे, ऐसे

पाठ्यही बाह्यावारी लोगों के उनका बीर विरोध था -

‘ हिन्दू व्रत स्थापति बाधे, दूध पिमाहा होती ।

बन्धन की त्यागि फल नहीं बटके, पारन करे बनीसी ॥ १

एक उदाहरण में एक बीर तत्कालीन बाधकों का एक चित्र है, जो कुचरी बीर कच्छक कबीर का अपना बाधन भी व्यक्तित्व है। कबीर के कुचर भीषण शरीर धारण का बाधन मात्र है। वे भीषण के सम्बन्ध में विविध व्यक्तियों की बाधनित से बन्ने का उपदेश देते हैं :

हृदय लडि है तीक्ष्ण, मांसि फे टुक टुण ।

फेड़ा रोटी लार्न करि, गला करावै कौण ॥ २

तिक्ष्णही जैसे साधारण भीषण में गोला जग नमक फेड़ा ही, वही लडि के समान मधुर भीषण है, फेड़ा बीर रोटी लार्न करि बाध में मृत्योपरान्त अपना गला कौन बटावै, यहाँ फेड़ा रोटी लार्न करि बटाने की बात कबीर ने इसलिए कही कि ऐश्वर्यमय जीवन बिताने के लिए कुचित बाधन अपनाकर धनीपाजन करना पड़ता है। एक पाप के लिए उसे मृत्यु के पश्चात् दण्ड भोगना पड़ता है। अतः एक दण्ड से बन्ने के लिए बाधा बीर सबन जीवन व्यतीत करना आवश्यक बताया है, व्यतीत तुल्य से यह परम्परा रही है कि धनी गरीब ही जाते हैं बीर गरीब कबीर ही जाते हैं। हुत दुःख तो पूरा हाँड या रात दिन के समान है। इसलिए कबीर ने तानपान में सात्विक एवं सत्य रहने के लिए उपदेश देते हैं। जीवन भर मित्री, लडि बीर हुचारा नहीं मिला पाता है। क्या-

१- कबीर बीक - शब्द २३

२-कबीर प्रत्यावर्त्ती - बी २२ बाली १२

बिनके खाना बचन धराएन, भिखरी लडि कुचरि का ।

बन वी खाने बख्त गुबारा, दुखड़ा खानि छरि का ॥ १

इस नश्वर शरीर की नश्वरता छिद करते हुए कबीर ने कहा है कि इस मिथ्या शरीर की बिल्का अस्तित्व मृत्यु के एक पाण काल्तर नहीं रह पाता, उसे क्या खेदारा बाय, शीर मिछाएन फूट जादि कैस स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थों से जिस शरीर का पोषण किया मृत्यु ही जाने पर उसी की पर से बहुत दूर स्थान में ले जाकर बल्लन कर देते हैं। यथा-

‘शरीर लडि फूट प्यंड खेदारा, प्राननर से बहरिबारा ॥ २

कबीर की उपर्युक्त वाणियों से दृष्टिगत होता है कि वे जीवन में अत्यधिक सहजता की महत्ता स्वीकार करते हैं, पाप ही तत्कालीन वा मिजात्य वर्ग के खान पान का भी परिज्ञान होता है कि उच्च वर्ग, लडि, शीर, फूट तथा मिछाएन का ही भोजन करता रहा है, खान पान में मस्त रहने वाले और मगवान् को विस्मृत करने वालों के लिए कबीर ने उक्त करते हुए कहा है कि :

‘सुबरी लफडी बाय खेदारे, बारे उदा राय छरारे ॥ ३

इस उक्ति से लुहरे (लुडी) एवं लफडी जैसे उत्कृष्ट भोज्य पदार्थों का फटा चलता है। आत्मानन्द से अधिक बानन्द प्राप्त करने के लिए उद्युक्त एवं वज्रानी लोग बायनायवी लडि के लिए लालाछि

१- कबीर ग्रन्थावली - देवावनी ११

२- .. पृष्ठ ६३

३- .. पृष्ठ १३५

रहते हैं। यथा-

बाट निकारे लोमिया गुहरे पीठी लहि ॥ १

संयम एवं संतोष से उपायित बन्ध के कण लहि के सुकुल सुमधुर एवं वसुधैव कुटुम्बकम् प्रदान करने वाली होती हैं, वृष्टुस्ति एवं वातके द्वारा उपायित मधुर लब्ध व्यर्थ है, शुष्क है। यथा-

पीठा लीण मूकरी, भाँति भाँति की नाय ।

बाबा किचड़ी का नहीं, बिन विसय्य कह राय ॥ २

सुधारक कबीरदास निर्देश करते हैं कि भिक्षा में भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र विभिन्न साधन प्राप्त होती हैं, जो लहि के समान सुमधुर लगते हैं। इस प्रकार संन्यासी बिना किसी भी प्रसन्न के ही राजा के रूप में अपनी कृपय साम्राज्य का उपयोग करता है। वास्तव यह है कि वह वात्सव्य-मीमांसा एवं परम संतोषी होती है। कबीर ने एक जनक माया की सुग्धा नायिका के समान व्यक्त करते हुए उसकी मधुरता लहि से दी है। यथा-

कबीर माया पीछी, बैस पीठी लहि ॥ ३

इस वसिष्ठविरचित में कबीर ने सर्वगुरु की महत्ता प्रतिपादित करते हुए तजानी एवं लखत गुरुगर्वा की मर्त्यता करते हुए 'सीबा' सुग्धा तथा इहि बैस साध एवं भय फलार्थ का उत्प्रेषण किया है। यथा-

साध कटीरा लीबा मरा, मरु पीछत दिन जाय ।

कबिरा उतरा बिल्ल सो, इहि दियानहि जाय ॥ ४

१- कबीर बीजक - पाली ४८

२- कबीर ग्रन्थावली - की ३५ पाली १३

३- " " - माया की की पाली ७

४- कबीर बीजक - पाली १२७

उनका मत है कि गुरु विमुक्तानिमानी का नाश होता है क्योंकि जैसे किसी के हाथ में लोहा, दूध का परिपक्व चार भरा हुआ कटोरा हो और वह किसी खाने वाले योग्य उत्पुत्राण का पत्र देखा हो कि कोई उत्पुत्राण आवे तो उन्हें खाने के लिए दूँ परन्तु जो पुत्राण उस दाता के चित्त से उतरा रहता है उसके प्रति उसके हाथ भी नहीं दिया जाता है। उसी प्रकार सद्गुरु भी वात्मानन्द रूप लोहा ज्ञान कटोरी में भर कर कृपय कभी अपनी हाथमें रखे नहीं हैं, और उनको वाकांक्षा रहती है- योग्य अधिकारी को इस वात्मानन्द रूप का पान कराऊँ, परन्तु जो अनाधिकारी गुरु विमुक्त उनके चित्त से उतरे हैं, बिना सद्गुरु समझते हैं कि इस भ्रष्टारहित बहिर्मुख दूर को वात्मन वस्तु आदि का उपदेश देने से बड़ा परिणाम नहीं होगा, उनके प्रति उनके हाथ खुल जाँकि ज्ञान उपदेश भी नहीं दिया जाता है, न देते हैं। इसके वह बोध मानव उन से ही नष्ट होता है, पानन की कमी-धता एवं अज्ञानता की स्मृति दिलाते हुए रूप के रूप में मनु मन्त्रों का नाम लेते हुए कबीर ने 'मनु' का भी उल्लेख किया है -

मनुमाणी जन संग्रहे, मनुवा मनु से जाई रे । १

इस उक्ति में मनु नाम की महत्ता प्रतिपादित करतबुर 'दुग्ध' का वर्णन किया है -

बीर रूप हरि नीब है, नीर ज्ञान त्याहार ।

इस रूपीउ साध है, उस का जानिणहार ॥ २

कबीर की धारणा है कि इस संसार में दूध के रूप में मनु का नाम है, और संसार के अन्य किसी व्यवहार जल के समान

१- कबीर ग्रन्थावली पद १२७

२- पद ३२, शाली १

है- ये दोनों साथ ही साथ तो मिले हुए हैं, कोई ईशान्या तत्त्वविद् बाधु ही धारतत्त्व , प्रथ (दुग्ध) की माया बात से पुष्क कर प्रवृत्त कर पाता है। कबीर ने योग साधना की प्रक्रिया की बताते हुए ' कदा ' का वर्णन किया है -

हरि के चारो बड़े फार, विनि चारि विनि चार ॥ १

नीला स्नान के बाहुबाजार पर ध्यान करते हुए उन्होंने ' सतुवा ' और ' बहुरी ' का उल्लेख किया है। क्या-

' सती है कृत बोली नीला नहाय ।

सतुवा कराज बहुरी मुवास्त, प्रेष्ट कीटे मयस्त बाय ॥ २

यस शब्द में बायि हुए ' सतुवा ' और ' बहुरी ' की बहुत ही सामान्य परिस्थिति बाते लोग ताते थे । यह उच्च वर्ग का भोजन कदापि नहीं था । ' सतुवा ' और ' बहुरी ' निम्नस्तरीय भोजन था । अधिकांश वर्गीय समाज के अज्ञानता एवं विभीषिका का प्रियण करते हुए उन्होंने ' कदाबा ' का वर्णन किया है -

' बेहिं घर बाधु पीत न पावे , महुवा तात कदाबा । '

कबीर के उपर्युक्त निर्दिष्ट थे स्पष्ट होता है कि वेत एवं अल्पम मानवी का तत्कालीन युग में कोई महत्व नहीं था । वस्तु पुस्तकों का सांप्रदायिक था ।

१- कबीर प्रवृत्तावली पद १२

२- कबीर सवदावली - सवद ३६

(क) शांतिमयी भावना

कबीर ने अपनी युग के समाज में शांति मदाण करने वाले और पातण्डी मानवों के प्रति व्यंग्यपूर्ण वाणियाँ से उपर्युक्त निर्दिष्ट किया है, कबीर के इस निर्दिष्ट से स्पष्ट परिज्ञान होता है कि शांति प्रचुर मात्रा में लोग मदाण करते थे। अज्ञानी एवं दुर्बल मानवों को बोध कराते हुए कहा है कि समस्त दृष्टि के प्राणी एक हैं, चाहे वह नर हो चाहे पशु हो या पक्षी -

जब शांति नलकी तब शांति पशु की,
रुधिर रुधिर एक सराबी।
पशु के शांति भले सब कोई, नलहिं भले बियाराबी।
ब्रत कृतांत भेदिनी भइया, उबधि बिनधि कित नइयाबी।
शांति महरिया बी ये लखी, ज्यों तेन में बोइयाबी ॥१॥

ये कहते हैं वे मानवी। जैसे नर का शांति बहुत है वैसे ही पशु का भी शांति घुणित एवं तुल्य है, और मनुष्य के रुधिर के समुक्त पशु का भी रुधिर है, मनुष्य के शांति रुधिर को किस प्रकार नहीं लाते ही उसी प्रकार पशु के शांति को भी नहीं लाना चाहिए, कबीर उन्हें स्पष्ट ज्ञेय करते हुए कहते हैं कि यदि तेन में बीर हुए धम्मादि के समुक्त करे और नलकी लावीने तो तुम्हें भी नलका देना पड़ेगा।

सामंत ब्राह्मणों पर व्यंग्य प्रहार करते हुए कहते हैं- शांति मदाण का वर्णन निरूपित करते हुए कहते हैं कि -

सन्धी पछि निपुण कथार्ह ।

करा भारि मेठा पर धारि, पित नई बर्न न बाई ।

•

•

•

•

कहहि कबीर सुनहु धी की, कलिपई ब्राह्मण लीटे ॥ १

पाण्डे । बीन करा करियों को भाकर
मेठे पर धाया करते हैं, लका तात्पर्य यह हुआ कि अपनी स्वार्थता करे जादि
के देवी के नाम से नाकर मेठे जादि को भी मारते हैं।

कहणाग्र होकर कबीर कहते हैं कि कथम्व
उन प्राणिमों के कष्टों को देखकर भी उनके दुःख में दर्द नहीं होता है, ये
कथाक्यों के रूप में उठे गिये हैं। तुलक बीर ब्राह्मणों की तुलना करते हुए बताते
हैं कि तुलक गाय का बध करते हैं बीर ब्राह्मण करे बीर मेठे का, ये दोनों
कबीर की दृष्टि में एक ही समान हैं, ये कहते हैं कि ऐसे लीटे ब्राह्मण कलि-
मुन में हुर हैं। प्रथम के ब्राह्मण बहिष्क, दयाहु बीर मेष्ठ थे । दूसरी अपि-
व्यक्ति में कहा है -

पापी पूजा बेधि करि, भोज भक्षि मद दीई ।

तिनकी बस्या मुक्ति नहीं, कोटि नरक फल दीई ॥ २

पापी लोग पूजा के नाम पर बानन्दपूर्ण
बैठकर भक्षि बीर मदिरा का सेवन करते हैं, ऐसे पापियों की मुक्ति संभव नहीं,
उन्हें करोड़ों नरकों की वातनाई भोगनी पड़ती है, उपर्युक्त विस्मयजनक से
निर्दिष्ट किया जा सकता है, कि भक्षि लोग की पूजा बहुप्रचलित थी ।

पञ्च पदार्थ

साधक कबीर ने "मदिरावान" का वर्णन साधनात्मक रूप में किया है, प्रभु भक्ति रूपी प्रेम की "मदिरा" पीने के लिए जिस साधना की आवश्यकता पड़ती है, उसकी अभिव्यक्ति करते हुए कबीर कहते हैं :

‘राम रक्षाञ्च प्रेमरस, पीबित वक्षि रसात् ।

कबीर पीषण दुसय है, मानि सीस कसास ॥ १

शुभचिन्त का प्रसार भी बड़ा जरूर है,
वे कहते हैं कि इसका पान करना बड़ा कठिन कार्य है, क्योंकि दूर सभी
क़सात एवं बाधना के लिए सर्वस्व त्याग चाहता है।

कबीर ने सद्गुरु की कृपा तथा मदिरा
पनि पाति की बाध के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा-

कबीर पाठी कसास की, बाहुन बंटे बाह ।

दिर सति सीरं पिने, नहीं तो पिया न बाह ॥२॥

कभीर कहते हैं कि मदिरा मिश्रित गुरुमुनी
 कलाह के यहाँ (भट्टी) बहुत से मदिरापान की लम्बा (साधक) में वही
 पान कर सकते हैं। जो अपना लीला साधना की बेदी पर चढ़ा दे, पाव यह
 है कि प्रभु मन्त्र के लिए सर्वस्व त्याग करना पड़ता है, प्रत्येक सम्भव कष्ट
 के लिए तैयार रहना पड़ता है। साधारण मदिरा का नशाकुश ही जाना रहता
 किन्तु ब्रह्मानन्द की मदिरा का पान पिबने कर लिया उसकी सब संसार से मुक्ति

१- कबीर प्रभावशाली - कवि व वादी २

३- ॥ वासी ॥

ही जाती है और बिन्दनी पर उलका नकारता है। क्या-

“हरि एव पीया जालिये, ये कबडू न बाह हुमार ।
भक्ता पूछत रहे, नहीं तन की वार ॥ १

कबीर की धारणा है कि ब्रह्मानन्द की मदिरा का पान उन्हीं ने किया समझने बिना नशा कभी नहीं उतरता । यह रंग ही ऐसा है जिस पर दूसरा रंग नहीं पड़ता वह ही मयमस्त हाथी के समान ऊपर उधर घूमता है (जिसे केवल श्रुति के प्रयोग) तथा उसे अपनी शरीर की सुधि नहीं रहती , वास्तविक मदिरा पीने वाला मनुष्य भय में मस्त होकर घूमता है, भगवत्ता है और नहीं जाती में निरता है, किन्तु श्रुति की मदिरा पीने वाला वास्तविक नशा में कभी न घूमता है, न भगवत्ता है और न निरता हो है, यदि वह निरता भी है तो श्रुति के बीच में निरता है। कबीर ने उपलब्ध मदिरा और नकार का वर्णन तत्कालीन युग के सामंती और बहि-जात्य वर्ग के विलासिता का जीवन करता है, क्योंकि समाज में लोग अपनी मदिरा पीते थे और नहीं में मय मस्त रहते थे, इसलिए प्रधारक कबीर ने उन लोगों का ध्यान अपनी कमर बाणी से बाकूट किया और सुझाव दिया कि श्रुति मदिरा की मदिरा पीने से कभी नशा नहीं उतरता है और पीना की प्राप्ति होती है । कबीर के इस उक्ति का प्रभाव तत्कालीन जन सामान्य पर किस रूप तक पड़ा । यह समझने की बात है किन्तु इतना जरूर परि-रक्षित होता है कि बाध से अधिक जन सामान्य का ध्यान कबीर की बाणी एवं उनके उक्ति से प्रभावित और भावुक हो गया था । एकाग्रचित्त जन इस दृष्टि से कर सकते हैं कि यदि जनसाधारण पर कबीर का प्रभाव न पड़ा होता तो “ छिन्दर सीदी ” जैसे पुस्तक को कबीर का जीवन समाप्त करने की

कहीं वावरेकता महसूस हुई थी। इस बात को पूर्ववर्ती पृष्ठों पर स्पष्ट किया जा चुका है। अतः स्पष्ट है कि किताबी एवं पाठ्यपीठ मानकों पर कबीर की वाणी का प्रभाव पड़ा था और उनके क्लेश हुए एवं निर्दोश पर एक साधारण निर्देशित हुआ था।

पान सुपारी

भीषन और पान के अतिरिक्त कुछ सुदि के पदार्थों में पान सुपारी की चर्चा व्यसन के रूप में आयी है-

‘ऊबल कपड़ा पहिरि करि, पान सुपारी खाहि । १

माया या कपुल नारो के वर्णन में कबीर ने लिखा है -

‘पाति गयल मोर पान खात । २

इसीसे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समय में व्यसन के रूप में पान सुपारी का प्रचलन प्रचुर मात्रा में था।

वैचारिक और भावनात्मक पक्ष

विचार और कर्म का सम्बन्ध

कबीर ने सामाजिक वास्तविकता की जो निस्धारता व्यक्तार्थ है इसके जो रूप उनकी वाचनिकी में पायेवाते हैं एक ही

१- कबीर ग्रन्थावली वॉल १२, पृष्ठ ४४

२- कबीर बीक - बसन्त ६

हिन्दुओं के बाहुबाचारों का विरोध, दूसरा मुसलमानों के बाहुबाचारों का विरोध, ब्रह्म (ईश्वर) की उपासना में कबीर ने बाहुबाचार एवं पातशुद्ध की कोई आवश्यकता नहीं मानी है। कबीरवास की की मुसलमानों एवं हिन्दुओं से कोई व्यक्तिगत बैर नहीं था, कबीर की दुःख केवल उन्हीं बातों से होता था, जहाँ हिन्दू और मुसलमान धर्म के नाम पर मियाबाचारों की ही क्लृप्ता दे रहे थे, वे व्यक्ति जाति जाति एवं समाज समाज में परस्पर लड़ते फगलते मरते मरते स्वीकृति के नाते क्लृप्ताचार करते थे। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक बाहुबाचारों का लट कर विरोध किया है।

कबीर ने हिन्दू समाज के बाहुबाचारों एवं पातशुद्धों के लिए पीठित एवं ब्राह्मणों की विशेष रूप से क्लृप्ताया है, कबीर के होंगियों का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि ' ये सादे तीन गज लीची पत्ते , पैरों में तिहरी धागे लपेटे , गले में बज माता डाले और हाथ में लीटा लिये रहते हैं, उन्हें हरि का संत नहीं कहना चाहिये, ये तो कबीर के उन हैं। टोकरे भर भर के तो ये भेड़ का नाते हैं। ऐसे संत मुक्ति कल्प नहीं समझते। जलन मज्जर खाना खाते हैं, लकड़ी धोकर क्लृप्ताते हैं , पुष्पी लीच कर बूल्के क्लृप्ताते हैं, फिर सब मितकर खाने बैठते हैं किछी का मुत देखकर ही ये उसे बर-पुश्य मानते हैं और फिर स्नान करते हैं। ये बमिमानो क्लृप्ता उधर क्लृप्ताते हैं और वफे साथ वफे कुटुम्ब की भी दुवाते हैं। ये जहाँ तक ब्रह्म खाते हैं, वह तो क्लृप्ता होजाता है -

गज सादे ते ते धीतिया तिहरी पखिन फा ।

०

०

कहु कबीर बिसे बसिगुरु भेड़ि पुरापि कलमि न बाधे । २

ब्राह्मण की अपनी उन्नता का मन है,
 कबीर कहते हैं कि 'बा तु उन्न है तो नीच के घर भीजा क्यों करता है
 तू, निकृष्ट कार्य करके अपना घट भरकरवा है तू चौदस बीर ब्रह्मचर का
 डोंग लेकर बान मानता फिरता है, हाथ में दीपक लेकर कूर में फिर रहा
 है तू ब्राह्मण है बीर में कासी काक फुलावा है तेरी भरी बराबरी के के ही
 समती है। हमारे संगी तो राम नाम लेकर उदार पा गये बीर तेरे बाबी
 वेद पढ़ पढ़ कर भर भर -

बापतउ नीच धरि भीजनु बडे, करम करे उपस भरहि

०

०

हमरे राम नाम कहि ऊचरे वेद भरीये पाहि दुनि

भरहि ॥ १

कबीर ने जो कुछ भी कहा है, वह हिन्दू
 धर्म की जायार बहुलता की लक्ष्य करके कहा है, कबीरदास की डोंगी मनुष्यों
 के बुझा बी। पाण्डे या पण्डित की संबोधित कर उन्होंने कहे पर कहे हैं,
 उनका पण्डित एक साधारण स्तर का प्राणी है। बात: वे उसे संबोधित करते
 हुए कहते हैं कि 'पण्डि' झूठी बात कहता है, राम कहने मात्र से यदि दुनिया
 गति पा जाती तो सँकर कहने मात्र से लूँ न पीठा ही जाता। पानी कहने
 से प्यास बुझ जाती, आवनी के पास कम तक लीता हीता है तब तक हरि
 नाम लेता है, लेकिन बंगल में उह जाने के बाद वह उस आवनी की याद नहीं
 करता -

पण्डित पाव बढ़ते झूठा, रामा क्यूँ दुनिया गति पावे ।

०

०

जो कबहुँ उह जाय बंनस से बहुरि न सुते जाने ॥ १

हिन्दू ही नहीं मुसलमानों के बाह्याचारों पर भी उन्होंने आघात किया, दुम्नित, बाग, कुरबानी आदि की उन्होंने तरी आलीचना की, काबी कितान पड़ते पड़ते नर गया यद्यपि बाहर से संस्कार सुनत कर कबीर का तरीर मुसलमान बना लिया गया था, किन्तु यह क्रिया ऊहरी थी, उन्होंने भक्ति का दामन काम लिया था, इसलिए काबी भास मार कर भी उन्हें अपनी मार्ग से विचलित नहीं कर सका था। एक बार भक्ति का रास्ता पकड़ लेने पर कोई भी बाह्याचार उनका मार्ग नहीं रोक सकता था, बागि वे कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ने राह नहीं पाई है, हिन्दू अपनी सगर्भ करते हैं और पड़े से हाथ नहीं लगाने देते हैं, वे देशवालों के पापों के पास तो पड़े रहते हैं। यह उनकी हिन्दु-बाईं देती, मुसलमानों के पीर- बीलिया मुर्गी- मुर्गी लाते हैं, लाला के घर ही अपनी बेटिका विवाह कर देते हैं और वहीं सगर्भ करते हैं, बाहर से कोई चीज मार कर लाते हैं और उसे धीकर सब लाने बैठते हैं। हिन्दुओं की हिन्दु-बाईं देत सी और मुसलमानों की मुसलमानियत देत सी।

मन्युष्य के समाज की स्थिति बहुत ही नीच-नीच थी, उस समय के बाह्याचारों के प्रवर्तक मुल्ला और पंडित दोनों ही थे, उस समय कबीर ने इन दोनों का ही बहिष्कार किया। कबीर कहते हैं कि -

“पंडित मुल्ला बी सित दिया।

अदि बलै हा कहू न लिया।” ४

१- कबीर - कबारी प्रसाद द्विवेदी- पृ० ११०

२- पृ० ३२६ पृ १६

३- ईश सुधाचार - कबीर पृ० १०६

४- कबीर प्रवचनसौ पृ० २०२

कबीर ने कानपटी बेल धूना का भी विरोध किया । क्या-

‘ कर छेती माता बपे, हिरै बहै उदुल ।

०

०

राम नाम कहू क्या करै, ते मा के बीर काम ॥ १

कबीरदास जी ने जब संसार को छीन के फल के समान बाण मँसूर बरसाया है और संपूर्ण मानव जाति को ललित किया है कि अभी बपे विचार कुछ रहीं तथा उन्हीं के अनुसार कभी कभी कर्म भी करें, यद्यपि संसार में हाथी, हन, सभी प्रकार का धन विद्यमान है, फिर भी वह सब एक मुलावा मात्र है, जब संतोष सभी धन मनुष्य पर विद्यमान रहता है, तो उसके समक्ष वह सब धन निराधार है।

कस्ती बीर कस्ती में भी कहा कस्तर है ।

कबीर के विषय पर वे स्पष्ट होता है-

‘ कस्ती मोठी लहि ली, कस्ती बिज की लीय ।

कस्ती तबि कस्ती करै, बिज से बनत लीय ॥

कस्ती मोठी लहि के समान है, कस्ती बिज की लीय के समान है, कस्ती की त्यागकर कस्ती (कर्म) कस्ती बाहिर, कस्ती बिज भी कस्ती के समान ही जाता है। कस्ती बीर कस्ती दोनों की त्याग कर कस्ती की ही चित्त में रहें जैसे कान्ती के प्यास की प्यास का है ही बुझनी, मनुष्य की बात भी कुछ है निकाले उस पर प्रती तरह ललित होकर कार्य करे ,

तो उसे उस कार्य में अवश्य सफलता प्राप्त होगी ।

छैती ने अनुभव ज्ञान (सत्य) का समर्पण एवं सत्य का विरोध किया है, कबीर कहते हैं कि हे पीड़ित तु कामब की सिली कहता है मैं जाँती की देखी कहता हूँ तु उस-भाने का प्रकल्प करता है मैं पुनः-भाने में प्रकल्पशील हूँ । छैती का प्रधान लक्ष्य सत्य का पावन करना और उसकी शीघ्र करना की रहा है सत्य को हम छैती के हाथ की बन्धि की लकड़ी कह सकते हैं- एक बार धिक्कन्दर लोदी ने कबीर को बहुत खताया था धिक्कन्दर लोदी ने उनके हाथ की बन्धियाचार किये थे । कबीर ने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर उनका खेद किया है।

‘ बधि ब्याह फल नहिर नबीर, बधि कबीर ठाढ़े हैं कबीर
फल की तल उठि करि है कबीरा, हरि सुमित छठ बैठे
हैं कबीर ॥ १

छैती ने दुर्कर्मों पर जो कुछ भी लिखा है वह न तो उनकी बन्दना है न प्रशंसा की है वरन् उसमें दुष्टों के हृदय, स्वभाव, व्यवहार एवं बहुलता का क्लेश वर्णन हुआ है। कबीर द्वारा उल्लिखित ‘ दुर्कर्म की कल ’ जैसा ‘ दुष्ट का कल ’ उनकी मौलिकता वाक् वाच्य एवं मौखिकता का सुन्दर परिचायक है। कबीर ने सत्य का विरोध करते हुए कहा है कि मुझे मनुष्य से तो बोलना नहीं बाहिर और सठ व्यक्तित्व के भी सफलता नहीं मिलती है बल्कि कथर में तीर मारने से कोई श्रेय नहीं होता है।

संतों ने धर्म की सतत और व्यावहारिक बातों को जनता के सामने रखा, धर्म में जो कुछ भी प्राप्त होता था। वह उसकी बाजार और नीति के कारण ही प्राप्त होता था। संतों के हृदय में कभीम साहस और कल्प उत्साह का जहाँ कहीं मानव के व्यवहार में उन्हें कल्याण के बर्तन हुए उसका ही उन्होंने विरोध किया। उन्हें यह सुनने की क्षमता नहीं थी, कि संसार के कल्प कल्प क्या करते हैं, धर्म के नाम पर जो जनता को ठग रहे थे। उनके विपरीत कबीर आदि संतों ने अपनी स्वर सुलभ किए। पांडे और मुस्ता उनकी बातों पर हँसे, किन्तु कबीर का कल्प था कि -

‘हम हैं इसके मस्ताना हम को होतियारी क्या।’

सबसे तीव्र स्वर कबीर का था उनके प्यार सही चीट किसी ने नहीं की है। कबीर का साधक कल्याणी और कल्याणारी से सम्बन्ध या सम्पि करना जानता ही न था, उनका आंतिकारी सिंह नाम का प्रकार है :

‘कविरा लहा न्यार में, तिर लहूटी साय।

जो पर कुँके बापनी बले हमारे साय ॥ १

संतों में सादा सान पान विचार की भावना पाई जाती है, वे ऊँठी सान में रहना पसन्द नहीं करते थे। उनका रस-सहस और सान पान सादा था लेकिन वे विचारों में ग्रेष्ठ थे। कबीर एवं अन्य संतों ने सादा सान पान एवं सादा वेशभूषा को ही सर्व पसन्द किया था, वे अपनी नामदानी से अधिक लक्ष्य करना पसन्द ही नहीं करते थे। लकी-सिर कबीर कहते हैं। क्या-

‘तृप्ता भूता बाह के, ऊँठा पानी पीव ।

देव परायी बूझी, मर ततपार्थ बीव ॥ १

साधु का स्वभाव भूत के समान होना चाहिए जो बार बार की ग्रहण करते और पीपी वस्तु को उड़ा दे । ईश कबीर की इस बाख़्शी श्रुति ने उन्हें समाजद्वार की ओर प्रेरित किया था ।

ईश तीन सत्य के पुवारी थे । सत्य के समर्थक एवं झूठ तथा कपट के विरोधी थे । ईश कबीर ने कहा भी है कि सत्य के बराबर तप नहीं और झूठ के बराबर पाप नहीं है।

ईश तीन लोक संग्रह में विश्वास करते थे । ईश कबीर लोक संग्रह की श्रुति की संशरीय प्रेरणा मानते थे । उनका कहना था कि संसार ने उन्हें संसार में लोक संग्रह करने के लिए ही भेजा है। ईशों ने सहायकरण के निम्नलिखित पक्षों पर प्रकाश डाला है :

१-सहज वैराग्य

२- सहज कर्म

३- सहज त्याग

४- सहज विचारता

५- सहज ज्ञान

६- सहज प्रेम

७- सहज साधना

१- ईश वाणी संग्रह भाग १ पृ० ४७

२- कबीर ग्रन्थावली पृ० १६६

‘सह्य सह्य सब कोहं करे, सह्य न चीनि कोह । १

निष्काम भाव से कर्म करना ही सह्य कर्म माना है, समस्त धर्म
हंस्वर की समर्पित करके करने बाहिर ।

ईश्वरी ने सह्य प्रेम साधना को अधिक महत्व
दिया है। जब तक साधक का हृदय सह्य रूप से परमात्मा में लीन नहीं होता
तब तक उसे पूर्ण सफलता नहीं मिलती । ईश्वर कबीर ने लिखा है कि जो साधक
बादि से अन्त तक सह्य भाव से परमात्मा में लीन है। और उसे सह्य साधना
गम्य सफलकर छंदीय रहती है वे ही सत्य साधक हैं।^२

बासि के विरभाव और वास्वार

कबीर कासीन सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन
किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन बाणियों को रूप देने
में मध्यकासीन सामाजिक स्तर में की कठोरता का बड़ा हाथ है । प्रायः
सभी अन्त समाज के उस स्तर से जाये वे जो बाणिक और सामाजिक दोनों
ही दृष्टिसे से अत्यन्त निम्न भाग में था । व्यवस्थित रूपि और संस्कार
के कारण इस कठोर स्तरमय की प्रतिक्रिया निम्न निम्न रूप में हुई है, पर
सर्वत्र इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव है। केवल मात्रा का ही भेद है ।

मध्यकासीन में बासियों और उफासियों की
सीमार की बढ़ती गयी, और कठोर से कठोर होती गयी, उसके बीच कारण
है। मध्यकासीन इस विशेषता को समझने के लिए दो प्रकार से प्रभाव किया

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० ४१

२- “ ” पृ० २२०

का ऊँचा है। प्रथम तो यथासम्भव पुराने बसाने के कई विस्तृत इतिहास से हम प्रभा का मूल और उसका क्रमविकास देखकर हम उसका व्यवसायीय रूप समझ सकते हैं, परन्तु हममें कठिनाई यह है कि 'पुराने बसाने' की कोई सीमा नहीं है, और उसके बारे में हम जो कुछ भी खोज करते हैं, उसकी पूर्णता के बारे में संदेह बना ही रहता है। हमें बहुत कुछ छूट जाने की सम्भावना मनी रहती है। हमें अज्ञात पर बहुत अधिक परीक्षा न करके ज्ञात का अध्ययन करना चाहिए।

जिन पण्डितों ने मूलतत्त्व विज्ञान की दृष्टि से भारतीय जनसमुह का अध्ययन किया है। उन्होंने तथ्य किया है कि हम समूचे जन समूह में सात प्रकार के बहरी पाये जाते हैं :

१- तुर्क- ईरान टाइप, जिसमें सीमांत और मध्य-हिन्दुस्तान के मूल, ब्राह्मण और अफगान शामिल हैं, साथ ही पार्श्वी और तुर्की जातियों के मिश्रण से बना है।

२- हिन्द आर्य टाइप, जिसमें पंजाब राव-प्रताप और काश्मीर के राजा रावपुत्र और बाट शामिल हैं।

३- एक- द्रविड़ टाइप, जिसमें पश्चिम भारत के मराठे ब्राह्मण, कुनबी, कुर्मे आदि शामिल हैं, एक और द्रविड़ जातियों के मिश्रण से बना है।

४- आर्य द्रविड़ टाइप, जिसमें उत्तरप्रदेश, कुछ रावस्थान, बिहार आदि प्रदेशों के लोग हैं, इनका उच्चतम स्तर हिन्दु-स्थानीय ब्राह्मणों से और निम्नतम स्तर बमारों से बना है, ये आर्य और द्रविड़

वातियों के मिश्रण से बने हैं।

५- मीनत द्रविड टाइप- विश्व में मीनत

उद्दीप्ता के आश्रय और कायस्थ तथा पूर्वी मीनत और कर्म के सुलभमान हैं, शायद मीनत द्रविड और आर्य स्वतः के मिश्रण से बना है।

६- मीनत टाइप- विश्व में मीनत, कर्म,

वर्णों की वातियाँ हैं।

७- द्राविड टाइप- विश्व में मीनत की बाटो

से लेकर विश्व तक पञ्जाब, हैदराबाद, मध्य प्रदेस वादि की वातियाँ सम्मिलित हैं।

वैदिक काल से ही भारतीयों में यह प्रजा लक्ष्मी की किन्हीं भी विधाय का मूल धर्मों में लीन निकालने का प्रयत्न किया जाता है। यह वातियोग की भी धर्मों से लीन निकालने का प्रयत्न किया गया है, वातियोग का मूल बीजैविक वास्तव्य में वर्तमान है, वस्तुतः वाति प्रजा का कोई मूल नहीं है। उस युग में यह प्रजा धर्म और समाज का लक्ष्य वर्तमान की निश्चय ही नहीं थी, किन्तु उसकी बड़े मध्यकाल में वाकर बन गयी थी। वर्ण व्यवस्था की वातियोग के पटित होने का महत्वपूर्ण कारण रहा था। इसी वर्ण व्यवस्था के कारण समाज में हुआ लक्ष्मी वाति भेद की भावना पर कर गयी है। हुआ लक्ष्मी का विशेषण किया जाय, तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि उनके चार मोटे मोटे स्तर हैं।

८- वे वातियाँ जिनके देखने से ऊँची वाति

के बादमी का कर्म और शरीर बीजयुक्त की वाति हैं।

२- वे बातियाँ किन्हीं दूरी से पानी या जल-
पत्रक जलन दीक्षानुगत हो जाती हैं।

३- वे बातियाँ किन्हीं दूरी से ऊँची बातों
के वादमी का शरीर वषणित हो जाता है।

४- वे बातियाँ किन्हीं दूरी से पानी या जल-
पत्रक जलन तो नहीं, परन्तु कण्ठों रसों से दीक्षानुगत हो जाती हैं। वे उत्तरीतर
प्रेष्ठ होती हैं। व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती
रहती है।

मध्यकास में हुआ जल (बातों प्रवा) की
भावना दृढ़ होती या रही हो, परन्तु उसके विषय में नाना प्रकार के मतों
उस समय भी विद्यमान थे । वैदिक काल में स्पर्शदीप्त जल दृढ़ नहीं या किता
कि बाद में माना जाने लगा । मध्यकास तक बातों बातों तो वह ऊँचाई की
पराकाष्ठा पर था ।

इस प्रकार मध्यकास में बातों के प्रति विश्वास
एवं वास्तव चरण सीमा पर गी, ब्राह्मण वर्णों की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति थे । उन्होंने
समाज में लोक कर्माण्ड फैला रहे थे , लोग तन्त्र विश्वासी एवं जलपूरकता से
ग्रस्त थे , हिन्दू मुस्लिम वैश्याय भी उत्पन्न हो गया था । कबीर ने इस सामा-
यिक कूरोति बातों प्रवा एवं वास्तवों की कद से की उताह फैलने का बोझ
उठाया था । उन्होंने जन- भाषा में जनता की अपनी बातियाँ द्वारा जल
किया था । धीरे धीरे बातों के प्रति विश्वास एवं वास्तव लोगों में कम होती
गयी । सभी का दृष्टिकोण मानवतावादो होने लगा । वाग्वक्ता बढ़ी एवं
जन चेतना का प्रस्तुत होने लगा ।

वातिमेव की प्रथा की रूप देने में यहाँ की पारिवारिक व्यवस्था भी उसे प्रभावित कर रही थी। कबीर का यह भी उक्त युग के सम्बन्धित सभी वातिमेव विस्वास एवं वास्वार्थ व्यवस्था की गठ है। वातिमेव का भयंकर स्वरूप हिन्दुओं में कितना व्याप्त था कितना मुक्तपानों में नहीं था। कबीर भी यह तब इस प्रथा से पीड़ित दीखते हैं।

कबीर का दृष्टिकोण

बाबा जीवन उच्च विचार

कबीर की बाबा तथा सरल जीवन व्यवस्था, ये बाह्यभारों से बहुत दूर थे, ये पन्नामें भी बाह्यभार के पदापाती नहीं थे, उनका कहना है कि सोलहों ठूंगार करके केवल प्रियतम (संस्कार) की नहीं पाया जा सकता है। इसलिए कबीर उसकी प्राप्ति के लिए उपाय बताते हैं कि अपनी स्वामी के साथ अपने कृत्य से व्यवहार करते हुए बीरों से भी सीखा जा सकता चाहिए। यही जीवन का सत्य होना चाहिए।

कबीर बाबा जीवन व्यतीत करने के लिए कहते हैं कि अपना वैभव, अपनी सम्पत्ति या अपनी सौन्दर्य पर गर्व करते हुए प्रतीति नहीं करनी चाहिए। दुष्टों की विषमता वीरता की देखकर उसे न कि कहना चाहिए वीर न होना चाहिए क्योंकि न जाने किस समय किस दुष्ट के नीचे का कूटा जीवन का कटक या प्राणघातक हो जाये ? कबीर का उद्देश्य है कि मानव शरीर तो प्राणिक है, नरवर है, छे में, मेरी का स्वात

१- कबीर प्रत्यावर्त्ती - की २४ पान्नी २३

२- .. की ५४ .. ७

त्यागकर समरक्षता का जीवन व्यतीत करना चाहिए ।

कबीर का सिद्धान्त है कि तुफान में बीफ खर्बूजों में बाव की मिति पर मानव परीक्षा कर सकता है। उनकी स्थिरता पर विश्वास कर सकता है, परन्तु मनुष्य का जीवन सदैव निःसार और शान्ति है । वे कहते हैं कि मानव जीवन पानी के बुलबुले के समान तथा धुवध के तारे के समान है। इस पर गर्व करना और इसके लिए व्यर्थ में लोग के बलीभूत होकर निकृष्ट से निकृष्ट कर्म करना उचित नहीं क्योंकि इस संसार में कुछ भी स्थिर नहीं रहने वाला है। बिना रावण के एक सात पुत्र और सात सात पौत्र थे, उस वैभव सम्पन्न रावण के घर में संन्या की जाती तक चलाने वाला कोई नहीं बन पाया था और न इस संसार में कुछ धाय जाता है। कबीर ईश्वर पर परीक्षा रखते हैं, किन्तु कर्मण्यता उनका सिद्धान्त नहीं है, वह उनका वाक्य नहीं है, उनका सिद्धान्त है कि व्यक्ति को शारीरिक नम करना चाहिए, वे कहते हैं कि 'धन्धा' करने से जो सुस्मातिष्ठान प्राप्ति हो पाय नहीं उत्पन्न है। श्रेष्ठ है, क्योंकि बिना धन्धा किए तो कोई उत्पत्ति ही ही नहीं सकती । ऐसे कर्मण्य लोग जो किसीधन्ध में संन्या होकर कुछ नहीं करते वे भार स्वल्प है और निरुत्त ही जाते हैं।

कबीर के इस सिद्धान्त में यह तत्त्व निहित है कि शारीरिक नम द्वारा धनीपार्क ही होता ही है, साध ही साध आत्म गति भी नहीं होती । मनुष्य का बलिष्ठ गुण रहता है और उसके स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। जो व्यक्ति शारीरिक नम नहीं करते उनका मन व्यर्थ के ६ कार्यों में उत्तम रहता है, उनका बलिष्ठ गिर जाता है। मानसिक रोग ही

१- कबीर प्रभावली की ४६ पाली १४

२- .. की १२ पाली २१

जाते हैं वीर व्यक्ति का स्वास्थ्य तो नष्ट होता ही है। बाहरण भी नष्ट ही जाता है, ऐसा व्यक्ति वास्तव जीवन का पालन करने में सफल नहीं होता, कबीर स्वयं जुहावे का काम करते थे। जो व्यक्ति ईश्वर की मर्ति बना यौग साधना में तल्लीन रहते हैं, कबीर ने निष्काम कर्म करने के लिए उन्हें भी सन्देश दिया है, किसी भी साधक के लिए घर कात्याग करके वन में चले जाना वीर वहाँ तपस्यादि करना, उनको उचित नहीं प्रतीत होता, उनका मत है कि वही मन्त्र सच्चा है जो घर में वीर गृहस्थ धर्म का पालन करता हुआ साधना में तल्लीन रहता है। वे कहते हैं :

‘कमलु झूले की घर लखि, सो जन हम हूँ भावि ।

घर में यौग यौग घर ही में, घर तवि जन नहिं भावि ॥२

कबीर का यह वाक्य नहीं था कि लालों की संस्था में साधक घर छोड़कर जंगल में चले जायें तो उनका भार अन्य लोगों पर पड़ना स्वाभाविक है। किसी वार्षिक ढाँच में कल्पित हो इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को समाज में रहते हुए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए।

कबीर ने वैयक्तिक जीवन का सम्यक् वास्तव निरूपित किया है, भीषिकता का विचर्चन कर, ब्रह्म की वाराधना करनी चाहिए। प्रत्येक घर में तो वही सार्ध विद्यमान है। इसलिए व्यक्ति को मानव मात्र के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए, कर्म करना मगबद् मन्त्र ही सम्भवता है, क्योंकि मगवान् का विनाश अभी भी है। देखो मैं भी देखो मैं भी। का: लोक केना है

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०६

२- “ ” पृष्ठ २१४

३- कबीर साहित्य वीर समीक्षा- डा० मनीरम मिश्र पृष्ठ २५३

मनवान् की ही सेवा होती है -

बी सेवक सेवा करे, बी संग रमै रे मुरारि ॥ १

सेवा एवं परहित साधना की उत्कर्षण्य समझ कर ही करना चाहिए, परहित समझ साधना में दुःख व्यक्त बादि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए उनका मत है कि सन्ने हितैषी, कश्चित् की दुःख-दुःख, यत्न, व्यक्त की चिन्ता नहीं होती, देण, ईर्ष्या, शोध समाप्त की बातें हैं बीर प्रेम का विकास होता है। कबीर का यह वैयक्तिक जन सेवक का वादार्थ नीचा के समुद्र है। कबीर ने अपनी जीवनका वादार्थ सेवाभाव का हस्तितर व्यक्त किया था, क्योंकि उनका स्वामी उन्हें प्रत्येक मानव के हृदय में परितोषित होता था।

कबीर के उपर्युक्त वैयक्तिक जीवन के वादार्थ के विशिष्टता से निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट किए जा सकते हैं।

१- अपनी आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं का उपयोग करना बिना अन्य लोगों के लिए कष्ट न होने पार बीर सभी की आवश्यकतानुसार वस्तुएं पित्तो हैं।

२- धन का संवय न करना बल्कि धन को नादकर न रत्ना वस्तु बर्धित धन को प्रतापमान रत्ना, उस धन की परहित साधक के कार्यों में व्यय करना चाहिए।

३- दूसरे के धन का लालच न करना बीर न

१- कबीर प्रवचनावली पृष्ठ १२४

२- .. पृष्ठ ३३०

इस कष्ट से पुराने जमाने की कृपेष्टा करना ।

४- सादा जीवन और उच्च विचार के साथ समाज सेवा करना ।

५- निर्धन और भयान का जीवन स्वीकार समरक्षता का जीवन व्यतीत करना ।

६- सम्भाव, संतोष, निर्मल तथा निर्बिजब होकर जीवार्थ करना ।

७- निर्मल और स्वच्छ हृदय से प्रत्येक मानव में ईश्वर का रूप देखना । इस प्रकार कबीर के वैयक्तिक जीवनका बावर्त सभी चीजों में समरक्षता का प्रसार करता है। जीवन के सभी चीजों में समरक्षता की व्याप्ति ही से हम सभी मुक्त स्वभाव की प्राप्ति कर सकते हैं, जहाँ हम विषय भुक्त दुःख लाभ हानि का विषय की परस्पर विरोधी कहियाँ समाप्त हो जाती हैं। वहाँ समरक्षता पूर्ण प्रभाव होता है, वह स्थिति कौत स्थिति कभी अभिन्न स्थिति होती है, कबीर के जीवनवाक्यों पर ये दो वक्तियाँ स्पष्ट प्रकाश डालती हैं :

कबीरा लड़ा बाजार भा, सबकी भाँति भैर ।

ना काहु से दोस्ती, ना काहु से बैर ॥

अधिक समझता है कि धर पाव कितना ही अधिक बहुत वैभव होना, उतनी ही अधिक मुक्ति सुखानुपति होनी । किन्तु कबीर का अनुभव बताता है कि विश्व के विपुल वैभव, अन्तहीन सम्पत्ति वाले कहे से

कई हुसतान और कबीर विभिन्न कष्टों को धाय सिर बाति हैं जिस घर में^१
 जितना ही अधिक वैभव होना उस घर में उसना ही अधिक बन्धकार होना ।
 क्योंकि वैभव युक्त व्यक्ति वाचरण भ्रष्ट होता है, उसमें सभी प्रकार के विकार
 समाहित रहते हैं । कबीर को व्यक्ति के वाचरण भ्रष्ट करने का कारण वैभव
 प्रीति होता है, उन्हें यह संसार राम के बिना 'बन्ध बुरैरा' लगता है और
 इस बन्धकार में यदि कोई ज्योति है तो वह कमलेश्वर की है । बिना इस
 ज्योति का वाच्य सिर कोई भी व्यक्ति इस संसार के प्रपेय से पार नहीं हो
 सकता ।^२ प्रपेयों से मुक्त होकर संसार में किस प्रकार रहकर अपनी तत्त्व की
 प्राप्ति की जा सकती है, इस प्राप्ति के लिए कबीर ने वैयक्तिक जीवन के
 वापसी की महत्ता निरूपित की है। वे इस प्रकार हैं :

७७ कबीर के वैयक्तिक वाचार में बहिषा का
 महत्वपूर्ण स्थान है। बहिषा कबीर के भाव और हृदय का विकार है। कबीर
 ने बीव हिंसा तथा उन्हें कष्ट देनेवालों की ओर भर्त्सना की है। सामाजिक
 साधनों के प्रति व्यंग्य से उन्होंने कहा है कि बीव हिंसा धर्म है और बहिषा
 बीव हिंसा करने वाले धार्मिक हैं, मुनि हैं तो फिर कर्मों और कथाओं कीन
 हैं ?^३

इस प्रकार कबीर ने बीव हिंसा वैयक्तिक
 जीवन के वाचार में सबसे बड़ा कर्म माना है। कबीर के अनुसार ही बहिषा
 को महाभारत में परम धर्म कहा गया है। कबीर का स्पष्ट मत है कि जिस

१- कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१७

२- .. कौन ४८ वासी ४

३- .. कौन २२ वासी ८

४- .. पृष्ठ ६३

प्रकार मनुष्य का भीत है उसी प्रकार भू का भीत है। एक ही समान दोनों की धमनियाँ में रक्त प्रवाहित है। इत्यादिने पर जिस वेदना और पीड़ा की प्रतीति मनुष्य को होती है। उसी प्रकार भू को भी होती है।^१ अतः कबीर का कहना है कि भू हिंसात्मक वाचार् को जीवन में कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए, कबीर की बहिषा सखितन प्राणी के प्रति पावन करने की ही वस्तु नहीं है, वस्तु है उसका अन्तर्त्त सर्व निर्जीव रहे जाने वाले पेड़ पौधों उनकी पत्तियाँ के प्रति भी मानते हैं। सभी जीवों के प्रति निर्भर होकर प्रेम भाव के साथ व्यवहार करना, बहिषा धर्म का पावन करना है, जहाँ प्रेम भाव रहता है वहाँ हिंसा भाव नष्ट हो जाता है। कबीर ने प्रेम के साथ सभी के प्रति व्यवहार करना मानव का परम कर्त्तव्य माना है। अतः बहिषा धर्म के लिए प्रेम भाव आवश्यक है।

बहिषा के समान ही सत्य मन का धार्मिक विचार है जब व्यक्ति सत्य ही विचारता है, सत्य ही बीसता है तथा सत्य कर्म करता है, तब वह सत्यहीन व्यक्ति कहा जाता है। सत्य शब्द का धार्मिक है - "स्थिर" सदैव विद्यमान क्योंकि जिसका कभी अभाव न हो जो प्रिकाल बबाधित हो। इसीलिए भूत भावकी परम सत्य कहा जाता है। कबीर के अनुसार सत्य वही है जो स्थिर रहता है, परिवर्तनशील पदार्थ तो असत्य ही होती हैं।^४ कबीर वैयक्तिक जीवन में सत्य को इसीलिए महत्वपूर्ण मानते हैं कि सत्यहीन मनुष्य का कृत्य निर्मल रहता है। सत्य धर्म का पावन करने वाला

१- कबीर बीक- अनुव ५१

२- कबीर-वाचली पृ १६८

३- .. वी २ साली १७

४- .. रमणी ३

निर्भर होता है। कबीर उसी को सत्यवादी कहते हैं, जो सत्य ही जीता है। सत्य ही ग्रहण करता है। असत्य का परित्याग कर सत्य का पालन करता है, ऐसा सत्यहीन मनुष्य निर्भर ही जाता है, अगर फल चाहता है। कबीर का वैयक्तिक जीवन सत्य की पुरुषार्थ पृष्ठभूमि पर विकसित हुआ था। उन्हें सत्य ही अविच्छेद और मुख्यानु प्रतीत होता है, क्योंकि सत्य के काल में अन्य सबकुछ उपाय करने पर भी सुलभ नही हो सकती है। इसीलिए वे अपनी कृपय से सत्य का ही सीधा करने के लिए कहते हैं क्योंकि सत्य के द्वारा ही हीरा प्राप्त होता, झूठा सीधा करने से तो मूल विनाश की प्राप्ति होती है, कबीर ने सत्याचरण पर अधिक बल दिया है, उन्होंने केवल ब्रह्म ही को परम सत्य कहा है। अन्य वस्तु तो मिथ्या है, जो बाधक सर्वत्र सत्य ही को मानता है उसे असत्य मार्ग पर चलना नहीं चाहिए। सत्याचरणहीन मनुष्य कभी भी सत्य को नहीं होड़ता है, वे सत्य के समान दूसरा कोई तप नहीं मानते और झूठ के समान दूसरा कोई पाप नहीं, कबीर का स्पष्ट मत है कि जिसके कृपय में सत्य है उसी के कृपय में ईश्वर का निवास है। इस प्रकार सत्य कबीर के वैयक्तिक जीवन का मूल आधार है।

इसीप्रकार कबीर ने कहा है कि जो वस्तु अपनी नहीं है, जिस पर दूसरे का अधिकार है बिना उसकी अनुमति के लेना गैरि है। गैरी, धन, वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को नहीं बल्कि विचारों तक को भी नहीं होनी चाहिए। जीवन में अस्तेय कर्म का पालन करना उत्तम और उचित है, क्योंकि सभी पदार्थ विश्व नियन्त्रा के द्वारा सभी प्राणियों की आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करना चाहिए, जिसके लिए जितना निर्धारित

१- कबीर जीवक - सारी २५८

२- ४७

है उसे उसी के अनुसार ही मिलता है, और जो बीबी का धन छुड़ता कर जाता है, वह केवल कुछ दिनों तक ही प्रसन्न और सुख से रहता है, फिर अन्त में उसका समस्त नाश हो जाता है।

कबीर ने वैयक्तिक वापार में प्रसन्न्य का विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। कबीर की दृष्टि में नारी छद्माव का त्याग, कामी-भीम या काम केष्टा वादि का निवारण प्रसन्न्य है, व्यक्ति के उत्कर्ष मार्ग के चट्ट कुतुबी (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मय और मात्सर्य) में काम का स्थान सर्वप्रथम है। प्रसन्न्य व्रत पावन के लिए वात्साव की बाधना की जाती है। कबीर ने विविध प्रकार के तामसिक भीजन की शानिकारिक तथा स्वाद सुत की काम वासना की शैली में ही रखा है। बिस्वा वात्सावन एवं नारी संग का बाधक को परित्याग करना चाहिए क्योंकि तहोर कीलानि होती है। सभी प्रकार की विनय वासना कामना प्रसन्न्य व्रत में बाधक है, क्योंकि कबीर उन सबका परित्याग चाहते हैं। धन लिप्सा, स्त्री संग सभी विनय विषय के प्रदाता है। उनके देखने मात्र से ही इनका प्रभाव मनुष्य के मन पर होता है। इनका उपभोग तो छर्नास करने के समान होता है। कबीर ने काम-वासना की विषय की कैतुली कहा है, कैतुली कहा है, कैतुली से नाग बन्धा हो जाता है। वही प्रकार काम वासना से मनुष्य भी बन्धा हो जाता है। इनमें फँसकर मनुष्य कभी सम्मार्ग पर नहीं रहता और यातनाएँ भोगता है। क्योंकि कबीर प्रसन्न्य की छिद्र के लिए सभी प्रकार की विनय-वासना, भीजन, वात्साव वादि का परित्याग चाहते हैं। प्रसन्न्य जीवन कासार तत्त्व है, प्रसन्न्य ही वापारी में सर्व श्रेष्ठ वापार है।

व्यक्ति की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को धर्म, विश्वास और संतोष वादि अनुशासनों को ग्रहण करना पड़ता है,

----- कबीर उचित या अनुचित रूप से धन संकय के पक्ष में नहीं थे । वे कंज की काप्पिनी की ही कीटि में समक कर उसके संग्रह में प्रसूत होना उचित नहीं मानते थे । कंज और काप्पिनी दोनों धनकी हुई वस्ति की ज्वालाएँ हैं। इन दोनों के वर्तन मात्र से ही व्ययित कुलस जाता है। तीर्पण से तो मनुष्य मरम्प ही हो जाता है। कबीर ने शरीर की वाय्वान्तरिक स्वकृता और पवित्रता के लिए इन नियमों का भी अपने जीवन में पालन किया था, क्या-सौम, सन्तोष, तपस्वर्या, धीरुष नामा एवं सत्संग ।

कल मिट्टी बादि के द्वारा शरीर, वस्त्र व्रह बादि की स्वकृता करना बाह्य स्वकृता कही जाती है, बाधक की बाह्य स्वकृता तो कही ही पड़ती है परन्तु उसके लिए वाय्वान्तरिक स्वकृता भी परमावश्यक है। जप, तप एवं हृद विचारों के द्वारा वाय्वान्तरिक स्वकृता की ही सौम की संज्ञा दी जाती है। कबीर बाधक के लिए कर्माकरण की शुद्धि महत्वपूर्ण कार्य समझते हैं। उन्होंने कलुषित हृदय के रहते हुए कही से कही योग सिद्धि की भी तुच्छ बताया है। मुंह से ज्ञान की बात कहना और हृदय की कल कष्ट से परिपूर्ण रहना उच्छिष्ट कबीर पानी से भी निकाली बेसा व्यर्थ प्रवास बताते हैं। यदि हृदय अपवित्र है तो ऊपरी शारीरिक स्वकृता वैलभुषा बाह्यम्प ही है। स्पष्ट है कि कबीर ने जीवन की शुद्धि के लिए सौम नियम का पालन अनिवार्य माना है।

परिणाम क्या फलाना के विचार से रहित होकर स्वकृतंय्य की करते रहना, किसी वस्तु के कथाम पर तिम्प न होना , जिस स्थिति एवं कस्वा में रहने का संयोग हो जाय, उसीमें सहर्ष रहना तथा

१- कबीर ग्रन्थावली वॉल २० पृष्ठी ४

२- .. वॉल २५ पृष्ठी ६

किन्ही प्रकार भी अपनी हल्का के बसीभूत न होना सन्तोष करता है। हल्काई अपरिचित होती है, समुद्र की तरंगों की भाँति वे मनुष्य के मन में अद्वैत विकसित होती हैं, जाती जाती होती हैं। हल्काई के बसीभूत होकर ही मनुष्य विविध व्याधि एवं कष्टों में कैद होता है। क्योंकि कबीर ने सन्तोष नियम का पालन करना व्यक्तित्व के विकार बताया है। व्यक्तित्व की मजबान पर विश्वास रहता चाहिए। यह सामान्यमान है। सब कुछ कर सकता है, मन में वांछा, वृष्णा मोक्ष की स्थान नहीं देना चाहिए। कबीर ने सन्तोष की सर्व श्रेष्ठ धन निकालि लिया है। सन्तोष धन के समस्त व्ययजन भूत के समान है।

मन हन्निप्रय, शरीर वादि के संयम के हेतु ब्रत, उपवास विविध प्रकार से शरीर वादि को कष्ट देकर साधनों को तप कहा जाता है जिस प्रकार से स्वर्णकार स्वर्ण को अग्नि में तपाकर शुद्ध कर लेता है, ऐसे ही कबीर तप के प्रभाव से मन, हन्निप्रयादि का संयम करते हैं। कबीर ने व्यक्तित्वगत जीवन में विनयशील, सहनशील, धैर्यवान तथा शान्तिप्रिय बनने की कहा है।^१ ये गुण कठिन साधना और तपस्या के बाव ही उपलब्ध होते हैं। कबीर की अपनी व्यक्तित्वगत जीवन के लिए धारणा है कि मनुष्य को करना सहनशील होना चाहिए कि उसकी सहनशीलता के सामने सम्प्रदा की शीतलता एवं हिम का शीतत्व भी फीका हो जाय, सहनशीलता की चरम सीमा ही कबीर के तपस्या की कसौटी है।^२ कबीर का यह तप बाहरी नहीं है, आन्तरिक है। क्योंकि तप के द्वारा जीवन के अन्तिम तत्त्व पर पहुँचा जा सकता है।

धीरेन व्यक्तित्वगत जीवन की एकलता का एक

१- कबीर ग्रन्थावली वॉल २० सांती २१

२- .. २० सांती २१

महत्त्वपूर्ण सत्य है। जीवन में बस्वबाजी या धैर्य विहीनता अत्यन्त कष्टकर होती है। कबीर की अपनी धारणा है कि 'मासी' दुष्ट की ही जै है। रोष विहित है, पर उसमें कुछ फल तो अपनी समय पर ही आते हैं। उसी प्रकार व्यक्ति की भी भगवान् की दयालुता पर अत्यन्त विश्वास रखते हुए, बिना किसी की निम्न स्तुति का ध्यान किए अपनी साधना में धैर्यपूर्ण रह रहना चाहिए, उसे अपना फल अवश्य मिलेगा, बिनाधीर्य के जीवनसफल नहीं होता है, इसीलिए कबीर ने इसकी उपयोगिता मानी है।

क्रोध और धैर्य का फल सामा है वह वैयक्तिक वाचार् की सुरमि है। किसी के अपराध की क्षमा करने की प्रवृत्ति व्यक्तित्व की महत्ता का प्रतीक है, इसीलिए कबीर ने क्षमा में ही संसार का निवास माना है :

जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ ताम्र ।

जहाँ क्रोध तहाँ कास है, जहाँ रिमा तहाँ जाम ॥ २

तीर के समान तीरुणा दुष्ट बजनों की सह सेवा संभव नहीं है। पर बजनों का कृपय करना नम्मीर, सीतल और उपार होता है, कि उनका कोई भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। समुद्र में बिकती जाकर गिरे भी तो समुद्र का वह क्या ज्ञान लेगी ?

सत्यमेव जयते मनुष्य के आत्म संनम में सहायक होती है जो किसी संनति में रहता है उसी के अनुसार उसका चरित्र बन जाता है, संनति के प्रभाव से ही मनुष्य ऐसा कर्म करता है, उसी के अनुसार उसे फल

१- कबीर ग्रन्थावली - अंग २० पंक्ति ११

२- संत बानी संग्रह- भाग १ पृ० ५६

भी भीमता पड़ता है।^१ कबीर का निश्चित मत है कि सत्संगति कभी भी निष्कल नहीं होती। उसका फल कश्यप मिलता है और उससे बल की प्राप्ति होती ही है, बन्धन की पुनर्निधि की कोई नीम की गन्ध नहीं कह सकता और इसी प्रकार सत्संगति का प्रभाव कभी व्यक्त नहीं हो सकता।^२ अपनी जीवन में सत्संग परमावश्यक है। कबीर का मत है कि अपनी दुर्बलताओं के प्रति धानरुह होकर उनका सुधार करते रहना चाहिए। ऐसा व्यवहित ही कबीर का ध्येय हो सकता है। इस प्रकार अपनी दोषों के प्रति सजग रहना, साधुजन की सेवा तथा सत्संग द्वारा ज्ञानार्जन करना, मनमग्न का बच करना ही कबीर का लक्ष्य था। कबीर ने सत्संग करने के लिए भी विधिक की आवश्यकता निरूपित की है, क्योंकि शुद्ध वस्त्रों से कलंकित एक रूप में कपटी, इसी और बजाना भी बेल बनार फिरते रहते हैं।^३ सत्संगति में पड़ जाने से मूल उद्देश्य विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार जाकास की निर्मल बुंद भूमि पर पड़ने पर विकृतपूर्ण हो जाती है। इसीलिए कबीर सत्संगति का तीव्र विरोध करते हैं, और सत्संग का पूर्ण समर्पण करते हैं, क्योंकि बिना सत्संग के तो जीवन मरम्भ है, सारर है।^४ जीवन में व्यवहित की कबीर के समान ही सत्संगी प्राप्त करना चाहिए। कबीर के सत्संगी संख्यावत् सर्व राम थे। इसी प्रकार का सत्संग जीवन का लक्ष्य है, जीवन का लक्ष्य है।

मिःसंग होना जीवित कस्या में ही संसार की और से मर जाना है कस्या असम्पुन्य रहना है। 'जीवन मुक्त की वंश'

१- कबीर ग्रन्थावली वंग २६ पानो ७

२- .. वंग २० पानो १

३- .. वंग २७ पानो २

४- .. वंग २५ पानो १

मैं कबीर ने सब विषय पर विस्तृत वर्णन की है। उनका मत है कि मनुष्य की साक्षात्कृत विषयों से निर्लिप्त रहना चाहिए। सब बीबनावस्था में ही मृत्यु की प्राप्ति हो जाय। क्योंकि संसार से पूर्ण तटस्थ रहें। यही जीवन मुक्त अवस्था है, जीते हुए ही मरने का कर्म है संसार के सब काम करते हुए भी उनसे सम्पृक्त रहना, कर्म के फल से जल में है पर जल की लक भी हृदय बन्धी ऊपर नहीं उठती है। यही प्रकार संसार में रहते हुए भी उसे छूटने, चहुँप करों और तटस्थ के लिए जीवन बियाँ। यही कबीर का मानवों के लिए सन्देश था।

कबीर समाज की मस्तिष्क की अपनी पण्डित बाणियों से दूर करने का उपाय करते रहे हैं, उन्होंने मृत्यु में रहते हुए भी वैराग्य वृत्ति की अपनाने तथा उत्कर्म करने की सम्पादित की है, उत्कर्म करने से ही मानव का हृदय धुलना, निर्मल होगा, ऐसी उनकी धारणा है। कर्म करते हुए हमारा ध्यान सदैव उस निर्मलता के निकटन पर केन्द्रित रहे।

अपचित के कर्मों और कर्मों में सामंजस्य की कड़ी आवश्यकता है, वह जो कुछ भी करे उसे कार्य में भी परिणत करे, जो अपचित कहता कुछ और है करता कुछ और है उसका महत्व नहीं होता है, जो अपचित कर्मों के अनुसार कार्य नहीं करता है, वह कृत्य की गति की प्राप्ति होता है। जो अपचित कर्मों के अनुसार करणी करता है उसके पास सदैव ब्रह्म रहते हैं और उसे कृत कृत्य कर देते हैं। यदि मन शरीर और पैर पुष्पा में समानता न हुई, यदि अपचित सोचे कुछ और करे कुछ तो वह अपनी ही प्रति कभी छब्बा नहीं हो सकेगा। अतएव कबीर ने माता, पुत्रा, काया, तिलक

१- कबीर ग्रन्थावली की २३ साखी २१

२- अंग १८ साखी ३

वास, दाढ़ी, कच्छा रंगना तथा नाँति नाँति के साम्प्रदायिक रूप धारण करना वापि प्रवृत्तियों का विरोध किया है, और सत्य भाव से सत्य रहने की पूर्ण प्रतिष्ठा की है।

निकर्ष

सामान्यतया कबीर का यही विश्वास था कि सौख्यन्त, विचारहीन, मज्जा, बाधा, कर्मणा, सेवापरायण, बाधुप्रिय, वाक्ताकारी, दयालु, मधुरभाषी विनीत और सेवागुणी गृहस्थ उच्च कोटि की साधना का भी उज्ज्वल अधिकारी है। यदि कोई गृहस्थी में रहकर ज्ञाना न कर सके, पर हृदय से बाधु सत्तों का डेक ही तो भी उसे ज्ञान और पुण्य सम्पादन में अधिक रूचि न होना चाहना। क्योंकि कबीर ने कहा है :

निरही छै बाधु की, बाधु बुमिरे नाम ।

नाम धीला कह नही, बरे दीऊ की काम ॥ १

गृहस्थ भी अपनी तल्लिप्त भावना द्वारा उसी पुण्यकृत का अधिकारी है, जिसका एक वैरागी होता है। यदि किसी गृहस्थ में वास्तव भाव उत्पन्न हुआ और वैरागी में वैराग्य भावना उदित हुई तो दोनों एक समान मनीषुमि पर स्थित हो गए। यदि भगवान् की सच्चे हृदय से स्मरण नहीं करना है तो घर छोड़कर वन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सप्रेम नाम स्मरण करना है, तो वन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं।

सत्य, दया, धीरज, ज्ञाना आदि कबीर के वाचरण में पूर्ण प्रतिष्ठित था, किन्तु यह वाचरण उच्चता की दृष्टि से नहीं था। वे स्वका नर्त नहीं वाला चाहते थे, क्योंकि कर्मभुनति और फल का मूल कारण है। किसी प्रकार की उच्चता और 'मेरी', 'मेरी' कबीर की पसन्द नहीं थी। उनका विश्वास था कि मानवीय आनन्द की प्राप्ति के लिए नैतिक एवं वाचरण जीवन आवश्यक है तथा व्यक्ति की पूर्णता में ही सामाजिक पूर्णता है, वाचार ही सामाजिक चेतना का वाक्य प्रकाश है। कबीर का अन्तिम निष्कर्ष था कि मनुष्य स्वयं अपना विधायक है, वह नमज नहीं, दीन हीन भी नहीं तथा मानव जीवन व्यर्थ नहीं है, किन्तु सभी मानव जीवन की प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति की वाचार निष्ठ होना हीना। यही कबीर का दृष्टिकोण था कि 'सादा जीवन उच्च विचार' में ही व्यक्ति की विश्वास रखना चाहिए।

...

सप्तम अध्याय

कबीर की साहित्यिक रचना
 सत्त्वान्वेषण पद्धति
 सत्यसत्त्व भावना
 कल्याण विद्या
 तात्त्विक शिक्षा
 सत्त्व बीमर्षि (पुस्तकसत्त्व)
 कबीर का ज्ञान
 बीमात्मा
 कबीर की शक्तिशाली रचना
 कबीर का समाज में स्थान
 समाजवादी भावना का तीव्र
 वाचरण की शक्ति
 कबीर का भाषा पदा

कन्दोयीकता

कर्मकार

निष्कर्ष

कबीर की साहित्यिक पैदा

कबीर की रचनाओं की प्रामाणिकता

संदिग्ध होने के कारण उनका छिद्रान्त छिद्रान्त रूप से नहीं बताया जा सकता, पर वे स्वीस्वभाव, साम्यवाद, भक्तिवाद, कर्मकर्माम्भवाद, बहिष्कारवाद और संसार की व्यथना के प्रतिपादक सर्व मायावाद, पुर्तिपुत्रा, कर्मकाण्ड, ब्रह्म, उपवास, तीर्थयात्रा और ब्रह्मजिम्मे धर्म के विरोधी हैं, वे हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म ग्रंथों और धर्मोक्तियों के दूर प्रतिवादी हैं। प्रायः इनके धर्म-यात्रों पर हरी तरह व्यंग्यमय करते हैं कहीं कहीं इस व्यंग्यमय की भाँसा इनकी कटुशक्ति और व्यंग्यमय है, जो उचित नहीं कही जा सकती।

कबीर के ग्रंथों की अधिकतम कविता साधारण

एक तरह पर में मिलती है। पुरानी बोलचाल और बोलने की कविता निःसंदेह अधिक सरल है, किन्तु कर्मोपनिषद् इतना अधिक है कि जो जगत् जाता है। जहाँ जहाँ व्यंग्यमय भी है कीर्ति कीर्ति कविताएँ इतना व्यंग्यमय है कि उन्हें उद्धृत कर नहीं किया जा सकता। उनकी कविता में कर्मकाण्ड भाषा भी प्राप्त होती है। कबीर के ग्रंथों का वादर कविता की दृष्टि से नहीं, विचार की दृष्टि से है, उन्होंने अपने विचार बुद्धता, कट्टरता, और स्वाधिनता के साथ प्रकट किए हैं।

कबीर न अपने विषय में लिखा है कि "

विषय न पर्यं वाद नहीं जानूँ " तो फिर कबीर का साहित्य से कीर्ति विशेष सम्पर्क न होना स्वाभाविक ही था। फिर उस समय के उस साहित्य से जो

केवल व्याख्यात्मक ही था परन्तु जीवन व्यवहार के क्षेत्र में कम उपयोगी था, कबीर की सीख ही गई थी। हाँ कबीर की धार्मिक साहित्य का ज्ञान था, अपनी कृतियों में उन्होंने वेद, शास्त्र आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कबीर की धार्मिक साहित्य का सुना सुनाया जल्दा ज्ञान था। उस समय साहित्य रचने का कार्य उच्च कोटि के विद्वान् एवं वाचार्थों के हाथ में था, ये वाचार्थ गण संस्कृत भाषा में ही अपनी विचारों की प्रकीर्ति करते थे। धार्मिक विधि विधानों का विषय ही उनके साहित्य रचने का तथ्य होता था।

कबीर का उस साहित्य से भी कोई विशेष सम्पर्क न था। कबीर का जीवन साहित्य जगत से एक प्रकार से विच्छिन्न हो था। वर्णाश्रम धर्म प्रधान तथा साम्प्रदायिक भावना से जीत प्रीत साहित्य के प्रति कबीर की वास्था नहीं थी। पहिली से, जो प्रायः कवि और साहित्य प्रेमज होते थे, कबीर का विरोध ही रहता था। कबीर का सम्बन्ध साहित्य से सीधा नहीं था, किन्तु कबीर की प्रतिभा का वास्तविक मौलिक था। सर्वथा मौलिक, वह प्रतिभा किसी से उधार ली हुई नहीं थी, जो साहित्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध नहीं था, उससे उन्हें बहुत चिढ़ हो गई थी।

कबीर की धार्मिक साहित्य का पर्याप्त ज्ञान था। अपनी कृतियों में उन्होंने वेद शास्त्र आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उन्हें धार्मिक साहित्य का सुना सुनाया जल्दा ज्ञान था।

उस काल में उच्च कोटि के विद्वान् अधिकतर साहित्य भूक्त संस्कृत में करते थे। धार्मिक विधि विधानों की विषय वस्तु ही उनकी कृतियों की आधारभूत थी। हिन्दी साहित्य की भुवनमति

करुण ही नहीं थी। उस समय साहित्य में काव्यानीति का प्रेरक नाममात्र के लिए ही होता था। प्रबन्ध काव्य ही बहुत ही कम रहे जाते थे। मुक्त शीघ्र में बहुत फलत थी। बाबद परम्परा के पुजारी ही कुछ करते बिताते देते थे जिस प्रकार कैतों और चारणों के स्वर में कोई प्रति नहीं दीस पड़ती थी। उसी प्रकार अन्तर्दृष्टियों में भी पिष्टपेचन ही था जो मुक्त रूप में चल रहा था। साधारणतया साहित्य में जीवन के प्रवृत्तिमुक्त तथा निवृत्तिमुक्त दोनों ही दृष्टिकोण विद्यमान थे, फलतः ऐसी साहित्य का वर्णन ही रहा था और वधरा वैराग्य तथा कल्यात्म सम्बन्धी काव्य की प्रेरित कर रहा था। जिस प्रकार वे नानार्हों के हृन्मयार ने निवृत्ति-मुक्त दृष्टिकोण की प्रेरित किया था। उसी प्रकार और के पायापाद ने भी उसे ही प्रोत्साहन दिया था। इसके अतिरिक्त राजनीति के विस्तृत वातावरण तथा समाज की विचलताओं ने भी निवृत्तिमुक्त दृष्टिकोण की ही सामाजिक चलावा दिया था। बमिप्राय यह है कि कबीर का पूर्ववर्ती साहित्य प्रयोगन परत था पर अन्त काव्य अन्तःप्रेरणा से प्रसूत हुआ। यद्यपि इसमें मत के प्रकार और प्रकार की भावना है, पर है जीवन के अनेक भागों में प्रसूततया परिचयी भाग में, जो केन साधु साहित्य रचना करते थे, उनको रचनाओं की प्रेरणा प्रकार और कला कौशल के प्रवर्धन का तीन थी।

कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान पासण्डी धर्म प्रजात्यों को बाड़े हाथों लिया। कबीर की स्वभावगत विवेकता की समय की मान अवस्था की प्रतिक्रिया ने बस प्रदान किया और उनके विचारों ने देश के लम्बे, चौड़े भाग में एक सस्लका मचा दिया। कबीर का सारा जीवन सत्य की लीज और असत्य का लण्डन करने में व्यतीत हुआ जो उन्हें

वपने प्रयोग में सत्य ठहरा। उसकी वास्तव और प्रचार करना उनके जीवन का सच बन गया। कबीर के जीवन में हमें कहीं पर भी निरंतरता या निराशा के दर्शन नहीं होते। बल्कि कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हमें उन्हें पूर्ण रूप से दृढ़ ही पाया है। कबीर स्वयं अपने को अपने गुरुवर मानते थे और अपने गुरुवर का उन्होंने मुक्त कंठ से वर्णन भी किया है। कबीर यहाँ एक और विषय के क्षेत्र में प्राणों पर भी स्तब्ध बाने में उन्हें संकोच नहीं होता यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि कबीर की इस समस्तता में कर्मकृता का बाधावश मिलता है। इसका स्थान कारण तो उनका वास्तविक होना और उनके वर्णित सिद्ध समाज के बाह्यमूर्तों के प्रति घृणा की भावना का होना ही जान पड़ता है। कबीर की निरंतरता और स्पष्टवादिता में हमें भी कर्मकृता मिलती है उसका यहाँ होना स्वाभाविक ही है।

कबीर भारत की प्रतिभा थे। भारतीय वास्तविक विचारों एवं मान्यताओं का कबीर पर पर्याप्त प्रभाव था। भारतीय वास्तविकीय मत- मतान्तरों तथा शास्त्रों से उन्होंने सम्पर्क स्थापित किया था। तत्कालीन बहुचिंत वातावरण राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक वास्तविक तथा वार्तिकीय क्षेत्रों में विघ्नपता एवं अनेकत्व का बाहुल्य देत कर कबीर एकत्व की स्थापना की और उन्मुक्त हुए। सभी और दुःख की ज्वाला प्रज्वलित थी। सभी वर्गों में, धरती में उलझकर घृणा, द्वेष, और संघर्षादि के द्वारा परस्पर कलह व्यवहार में लगे हुए थे। मनुष्य मनुष्यता का परित्याग करके वमानुषिक एवं विद्वेक कार्यों में संलग्न था। कबीर ने इस सामंजसिक दुःख की निचो दुःख बना लिया। वे निरंतर इन समस्याओं के निराकरण का उपचार करने के लिए व्यष्ट थे। वे अपने

ज्याकुल थे कि उनकी लाने पीने सोने तथा किसी भी कार्य में कोई रुचि न रह गयी थी।

कबीर ने व्यक्तित्वगत एवं दार्शनिक दुःख से छुटकारा पाने के लिए ज्ञेयत्व में स्वत्व की लोभो का प्रयास किया। विजय-मत्ता के स्थान पर समरसता तथा ज्ञेयत्व में स्वत्व की उपलब्धि के लिए कबीर ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। विन्हीं वर्तन के दोष में प्रदर्शित किया जा सकता है। दुःख से छुटकारा पाने के लिए किया गया प्रयास दार्शनिक प्रयत्न ही कहलाता है। कबीर ने स्वयं कहा है कि उन्होंने कविता या गीत नहीं लिखे बल्कि केवल निब्रज ब्रह्म विचार किया तथा अपने स्वल्प को परखाने के लिए वात्म संयम की विधि ही बतायी है।

कबीर ने 'हम क्या हैं ? हमारा क्या स्वरूप है ? ब्रह्म क्या है ? आत्मा क्या है ? उसका और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है ? बोधन का चरम लक्ष्य क्या है ? आत्म संयम से परमतत्त्व की उपलब्धि ही सकती है और ज्ञेयत्व में स्वत्व की स्थापना से उपस्थावों का निराकरण किया जा सकता है वादि प्रश्नों की धुन्धलाने के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन दार्शनिक सिद्धान्तों को 'कबीर वर्तन' का नाम दिया गया है।

कबीर ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय वर्तनशास्त्रों के ही ऋतु निर्धारित किए हैं। इस अध्याय में उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन, दार्शनिक परिधि, मान्यताओं तथा वावरण की दृष्टि से ही किया गया है।

सत्यान्वेषण पद्धति

दार्शनिक विचार- क्रिया करते समय कई आन्तरिक अनुभव प्राप्त करता है। उन अनुभवों का प्रभाव उसके तथा समाज के जीवन पर पड़ता है। इस प्रणाली के लिए दार्शनिक को प्रवण, भवन तथा निदिव्यासन करना पड़ता है। विज्ञान श्रुति कला गुरु द्वारा मानव वाति के प्रागाधिक अनुभवों को प्राप्त करता है। तर्क वितर्क की कसौटी पर उन्हें कसता है। मन द्वारा सिद्धान्तों का निरीक्षण तथा परीक्षण करता है। और भूतों की सुधारने के पश्चात् निदिव्यासन तथा वित्तवृत्ति निरीध के द्वारा सत्य की जाँकार करता है यह पद्धति सत्यान्वेषण पद्धति कहलाती है।

कबीर उच्च कीटि के सत्यान्वेषी थे, किसी भी सिद्धान्त का अधानुकरण उन्हें मान्य न था। उनका कहना था कि शास्त्र, पुराण तथा अन्य धार्मिक पुस्तकें, जिनके आधार पर लोग अपनी पत्त निर्धारित करते हैं। जीक प्रमात्क बातों से भरे पड़े हैं। अपनी को जानने सम्भन्ने वाले तर्प्यों को भी सम्भन् नहीं पाते और उनमें उत्कन् उत्कन् कर व्यर्थ हो भरते रहते हैं।

कबीर तर्क को आत्मज्ञान के लिए ठोक नहीं समझते। एक तर्क दुसरे तर्क का निराकरण करे नया ही तर्क उप-स्थित करता है। तीसरा अन्य तर्क उसे भी काट देता है और चौथे तर्क की स्थापना करता है। यह क्रम चलता ही रहता है। तर्क वितर्क से जीकत्व का ही सृजन होता है। इसी से तर्क करने वालों को कबीर ने पीटो बुद्धि वाले कहा है।

वाच्यार्थिक विधानों का निर्णय बाधि-

भीतिक युक्तियों के द्वारा नहीं किया जा सकता। वाच्यार्थिक सौत्रों स्वानुभूति निर्णय ही युक्ति संगत होता है। कबीर सत्यान्वेषण के लिए स्वानुभूति की कक्षाओं पर कूट कर किसी निर्णय का निश्चित करना उत्तम समझते हैं। उन्होंने कहा है कि निष्ठा के साथ ध्वज द्वारा तथ्यों का विचार करना, मन करना, स्वानुभूति के द्वारा परस्पर तथा निर्णय करना, कबीर की सत्यान्वेषण पद्धति थी।

सत्य-तत्त्व-भावना

एक विश्व के कण कण में तथा सर्वत्र, सर्वदा कोई एक तत्त्व है, जो एक रह हीकर व्याप्त है। यह तत्त्व सर्वा-तीत विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है। इस तत्त्व की वात्पगत अनुभूति का नाम ही सत्य तत्त्व-भावना क्या ब्रह्म भावना है। यह भावना तीन प्रकार की होती है। बाध्मीतिक, बाध्दिक तथा वाच्यार्थिक - यह वस्तु वैसा प्रत्यक्ष दोस्तता है, इसे वैसा ही मानने वाले और इसके मूल में किसी अन्य सत्ता की विद्यमानता न मानने वाले जड़वादी एवं भीतिकवादी कहलाते हैं। उनको यह भावना बाध्मीतिक कहलाती है। भारत में जार्वाक दर्शन भीतिकवादी वर्तन कहलाता है। सत्ता का देखीकरण करके उसे साकार रूप में चित्रित करके उसकी वाराधना करना बाध्दिक भावना है। भारत में बहुदेववाद का प्रवृत्त था। उनकी उपासना का प्रवृत्त ही बाध्दिक भावना के द्वारा किया गया। सत्य की निर्गुण निराकार तथा अनिर्वचनीय रूप में ग्रहण कर सत्य मार्ग का अनुसरण करना ही वाच्यार्थिक भावना है। बाध्म इस अनिर्वचनीय सत्ता की विश्व के कण कण में सर्वत्र व्याप्त समझ

की व्याप्त सम्भते हैं। कबीर के अनुसार भुयं और बन्ध प्रकाश करने में असमर्थ हैं। इन दोनों में ब्रह्म व्याप्त है अभी तो वे प्रकाश करने में असमर्थ ही पाते हैं।

वाक्यात्मिक कबीर में वाधिरैकिक भावना का अभाव है। कबीर की वाधिरैकिक भावना भी मान्य न थी। भक्ति की अनन्यावस्था प्राप्त करने के लिए वे बाराह्य में विभिन्न उपाधियों का आरोप करने के ही पक्ष में हैं। बहुदेववाद तथा देवी देवताओं के पूजा पाठ का वे विरोध करते हैं। केवल निर्गुण राम के अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना करना वह अनुचित समझते हैं। वाधिरैकिक भावना की न अपनाने का एक बड़ा कारण था कि अभी साम्प्रदायिक कलह, उच्छेद तथा वर्ण विद्वेष आदि इसी भावना के फलस्वरूप होती हैं। कबीर जानते थे कि अनेक देवी देवताओं की उपासना तीर्थ, ब्रतादि का बाहुल्य, रीवा, नमाज आदि का प्रवर्तन यही सब विधि विधान तो पारम्परिक भगवद्, दैव्य और घृणा आदि के कारण हैं। इन्होंने उसके कारण समाज में अनेकत्व तथा विषमता का विस्तार है। कबीर ने इन सभी बाहुयाहम्यों का गौर विरोध किया।

कबीर ने सर्व दैव्य एवं सर्वज्ञ वाक्यात्मिक भावना की ही अनेकार किया। वे वाक्यात्मिक विचार प्रधान साधक थे। कबीर ने सभी भूत, परात्मिक, आमीव-प्रसीद, धन सम्पत्ता से दैव्य ब्रह्म विद्या की सम्पत्ता और वाक्यात्म विद्या की प्राप्त करने के लिए कठिन

साधना की। दैत्य और भ्रम दोनों ही मृत्यु के सामने होते हैं। बुद्धिमान तो परम कल्याण के साधन की ही ग्रहण करता है और मन्द बुद्धि मृत्यु लीला की भीड़ों की ही उपाता है। कबीर धीर पुरुष है और वे परम कल्याणकारी कल्यात्म विद्या की ही और उन्मुख हुए।

कल्यात्म- विद्या

कल्यात्म विद्या भारतीय मनोविद्या की प्रतिष्ठा की वस्तु रही है। सभी ज्ञान तथा विद्यार्थी में इसे सर्वोत्कृष्ट कहा जाता रहा है। कठोपनिषद् में इस विद्या के सम्बन्ध में लिखा है- ब्रह्म विद्या कीर्तन की तो सुनने में भी नहीं मिलती और बहुत से इसे सुनकर समझ ही नहीं पाते। इस गूढ़ कल्यात्म विद्या का वर्णन करने वाला भी कठिनाई से मिलता है और इसे जानने की चेष्टा करने वाला भी विरला हो जाता है। कल्यात्म विद्या ऐसी ही गूढ़ विद्या है। गीता में उल्लिखित है इस कल्यात्म-विद्या विधानात् कहकर इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इसे राज विद्या तथा राज शास्त्र भी कहा गया है।

गीता में कहा है- 'यह विद्या समस्त गुरुओं में राजा, उपाधिपति है। यह राज विद्या सब विद्यार्थी में श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्षा बोध देने वाली है। यह आचरण करने में सुस्कारक अव्यय और धर्म है। कल्यात्म विद्या कल्या कल्यात्म शास्त्र, आधि-नीतिक शास्त्र के विपरीत है। आधिनीतिक शास्त्र के विषय इन्द्रियाधीन होते हैं जबकि कल्यात्म शास्त्र के विषय इन्द्रियाधीन। आधिनीतिक शास्त्र संसार के नाम रूपात्मक पदार्थों का विवेचन करता है, जबकि कल्यात्म शास्त्र आत्माक ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, माया एवं मोक्ष आदि का विवेचन करता है।

वात्सल्य-विज्ञासा

वात्सल्य नाम प्रीति की प्राप्ति के लिए साधक के हृदय में उसके प्रति अनिताया एवं उत्कण्ठाका प्रादुर्भाव होता है। साधक वांछित प्राप्ति के लिए बालुर होता है। उसे एक पक्ष और साधन पुनः के समान प्रयोजित होते हैं। अपने परम सत्य के हेतु साधक अपना सब कुछ त्यागकर करने के लिए तत्पर हो जाता है। साधक के हृदय की यह स्थिति विज्ञासावस्था कहलाती है। ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए की गयी विज्ञासा कही जाती है। इसीलिए वेदान्त ब्रह्म का आरम्भ बताती ब्रह्म विज्ञासा से किया गया है।

ब्रह्म ज्ञान क्या ब्रह्म विद्या सभी की उपलब्ध नहीं होता। मुण्डकोपनिषद् में कहा है- परब्रह्म परमात्मा न तो प्रसन्न है न दुःखि है और न बहुत सुखी है ही प्राप्त हो सकता है। यह जिसकी स्वीकार कर देता है, उसके लिए ही अपने यथार्थ स्वल्प को फेंक कर देता है। यमाचार्य ने परम विज्ञासा नस्किता की भाँति भाँति के प्रलीनन दिये। नस्किता ने इन सभी प्रलीननों को तैरा दिया और वात्सल्य ज्ञान प्राप्ति के लिए ही यमाचार्य से याचना की। नस्किता ने वात्सल्य ज्ञान की ही अपने जीवन का परम सत्य बताया। कबीर नस्किता से कम विज्ञासा नहीं थे। कबीर ने भी जीवन का परम सत्य ब्रह्म विचार ही बताया है।

विज्ञासा कबीर ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए अपना धुल, धन, वैभव आदि सबका परित्याग करके घर से निकल

१- तुम्हें विनि जानी----- वाचन सार ॥

- कबीर ग्रन्थावली ५० पृष्ठ ६०

कहे थे । वह ऐसे साधक तथा साधकी की लीज में थे, जो उनकी भाँति अपना सब न्यायवाचक करके उनका अनुसरण कर लें । कबीर व्याकृत थे, दुःखी थे । उन्हें माया तो मिली, अमृत के प्राणी, जीवन, मोक्ष, भय, मत्सर आदि में सिद्ध तो मिले , परन्तु उन्हें कोई ऐसा नहीं मिला जो ब्रह्म विज्ञाता के उद्दिष्ट ही । उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं मिला जो परमार्थ तत्त्व के जन्म-मरण की विधि बता देता । योग्य तथा अनुपतिपूर्ण साधक की लीज में कबीर जैसे लोगों पर गये जैसे साधुजनों के घटघन में भाग लिया ।

एक सम्बन्धी कवि के उपरान्त प्रभु की कृपा के उन्हें स्वगुरु की प्राप्ति हुई । स्वगुरु ने कबीर पर कृपा की । उन्हें ब्रह्म प्राप्ति की युक्ति बतायी और कबीर परम सत्य की प्राप्ति में संलग्न हो गये । कबीर ने गुरु की परमतात्त्व सम्बन्धी जानकारी की । उत्कण्ठा की । स्वगुरु ने विज्ञात शिष्य की सब भाँति उपकृत तथा परम अधिकारी जानकर उसे तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान का उपदेश दिया । कबीर ने प्रेम एवं निष्ठा के साथ तत्त्व विचार की छुना । उसे पर मन किया तथा अपनी आनुप्राति की कमीटी पर उसे कच्चा और हरा पाने पर ही उसे काँकार किया और उसका विस्तार किया ।

इस प्रकार कबीर ब्रह्म विज्ञाता के प्रेरित होकर परमतत्त्व के जन्म-मरणार्थ तत्त्व निर्माणा की और उन्मुख हुए और वफा

- १- हम पर बातया --- कहे हमारे साथ ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ६७
- २- माया मिले मोख्यता--- साँह दया सेना ॥ ५० ग्री० पृ० ६७
- ३- ऐसा कोई नाँ मिले--- ताहि रहँ ल्याताह ॥ ५० ग्री० पृ० ६७
- ४- ग्यान प्रकास्या--- मिलिया बाह ॥ ५० ग्री० पृ० २
- ५- पासा फह्या---- लेले दास कबीर ॥ ५० ग्री० पृ० ४
- ६- स्वगुरु तब---- जमै विस्तार ॥ .. पृ० २१६

कुम्भों का प्रसार किया ।

तत्त्वमीमांसा (मुक्त तत्त्व)

बीज का पुष्पी में सड़ जाना, कृूर का निश्कर्षा, उसमें पत्तियाँ, डालियाँ, फूल और फलों का प्रादुर्भाव इस बात के प्रमाण हैं कि विश्व के मुक्त में कोई अव्यय एवं अव्यक्त अस्तित्व है, जो इन कार्यों का संभालन करता है। भेषों का गर्जन, विपुल का तर्जन, बाएँ संभार बाएँ कर्त्तव्य क्रियाओं का संभालन इसी अस्तित्व के द्वारा किया जाता है। अध्यात्मवादों विश्व में व्याप्त, अज्ञान, अव्यक्त, अज्ञान मुक्त तत्त्व मानते हैं। इस मुक्त तत्त्व की अस्तित्व सत्ता एवं अन्ततम सत् (वस्तुस्थिति स्थिति) कहते हैं। नीति में इसे सबसे परम आधार अर्थात् सभी की नष्ट न होने वाला तत्त्व अर्थात् प्रत्येक वस्तु का मुक्त भाग, अध्यात्मक कहा गया है। इसे अव्यक्त के परे प्रचुरा ज्ञात अव्यक्त फलार्थ कहा है जो सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। स्पष्ट स्पष्ट है कि मुक्त तत्त्व अर्थात् सत्ता अस्तित्व, सद्, विद्, आनन्द, बुद्ध, अविभाज्य, अर्थात्, अविच्छिन्न, अमर, अमर, अखण्ड, नित्य, स्वतन्त्र, निरन्तर, स्वतः स्थित, स्वतः प्रकाश, सर्वव्याप्त, सर्वोपरि, अन्त और निरक्षीप है।

सत्ता का कोई अन्य आधार नहीं और न उसके ऊपर कोई अन्य सत्ता ही है। सत्ता ही परम अस्तित्व है। सत्ता के अतिरिक्त किसी भी फलार्थ का कोई अस्तित्व नहीं ।

१- अद्वैत ब्रह्म परम स्वभावी अध्यात्मसम्बन्धी ॥ नीति ८।१

२- परस्तस्मान्नु भावी न्यो व्यक्ती त्यक्तात्स्नात्मः ।

अः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्तु न विनश्यति ॥

नीति ८।२०

कबीर के कुंभार मनुष्य के भीतर एवं ब्रह्माण्ड में जो तन्त्र बंध रहा है और ज्वलि ही रही है, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि में जो गति, प्राप्ति और भावं है, उसके मूल में एक अखण्ड सत्ता है, जिसकी प्रेरणा से यह सब ही रहा है। उसका कर्तव्य ही विज्ञाई देता है, पर वह विज्ञाई नहीं पहुँचा ।

कबीर ने सत्ता की प्रव्य रूप ही बताया है, कबीर का यह प्रव्य भौतिक प्रव्य से उत्पन्न एवं उत्तमोत्तम प्रव्य है, इस प्रव्य से कबीर की आध्यात्मिक पिपासा शान्त हो गयी । यह उनके मन के भीतर की वस्तु है। बाहर की नहीं वह कर्कश है। अन्ततम सत्य के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता । वह मन बाणी के परे की वस्तु है वह अविनाशनीय है, वह अनिवर्णीय है। परमसत्त्व अनुभव से ही जाना जा सकता है। उसके स्वरूप की बताया नहीं जा सकता । उस परम सत्त्व की जानना ही श्रेयस्कर है। सत्त विश्व का ज्ञान उस एक के ज्ञान से कम है। उससे सबकी उत्पत्ति है, स्थिति है। पर सबसे उस एक का ज्ञान भी अनुभव है। उस मूल सत्त्व के ज्ञान से कृष्य सभी फलार्थ का ज्ञान ही जाना संभव है, क्योंकि मूल ज्ञान ही वही है।

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २३९

२- .. पृ० १५

३- .. पृ० ६३

४- .. पृ० १२

५- कबीर एक न बाणियाँ---- एक न हीर ।।

कबीर ग्रन्थावली पृ० १६

६- कबीर ग्रन्थावली पृ० १६

कबीर के अनुसार ब्रह्म तत्त्व अज्योत,

अरूप है। वह परम गति है। बीर नहीं है, अन्ततम ज्ञान, सत् । सत्ता
अथ एवं अनिर्वचनीय है, नहीं परम तत्त्व है। जिसकी प्रेरणा मात्र से
सकल विश्व काव्यापार चल रहा है। सत्ता की वार्त्तिकों ने नाम देने की
चेष्टा की है। कल्याणवादी उसे ब्रह्म परब्रह्म वादि नामों से बताते हैं। कबीर
ने सत्य की जैके नामों से विभूषित किया है। वे उसे साधन, ब्रह्म, परब्रह्म
वादि नामों से भी व्यवहित करते हैं।

कबीर का ब्रह्म

कबीर ने ब्रह्म की ब्रह्म तत्त्व कहा है। ब्रह्म
ही पारमार्थिक सत्य है। वह काम, देह बीर अवस्था से परे वर््यात् सकल
कतीय है। वह अबाधित है, विश्व की कोई सीमा उसे बाध नहीं सकती ।
विश्व के सभी फलार्थ विनाशनीय तथा परिवर्तनशील है, परन्तु विश्व का
बाधार होते हुए भी ब्रह्म अविनाशी है। वह विसातीत तथा दिव्यातीत
है। ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता है। कोई अन्य सत्ता उसके ऊपर नहीं है।

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

२- .. पृ० १३

३- पार ब्रह्म के तेज का कैसा है परवान ।।

- कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

४- ब्रह्म अबरह कहुयी नहीं जाई----- रह्यो समार्ह ।।

कबीर ग्रन्थावली पृ० २३९

५- पैस फारस मरिहें----- । कबीर ग्रन्थावली

६- कस्त कबीर --- राम कि बीर न कोई ।।

कबीर ग्रं० पृ० २१९

कबीर के अनुसार मनुष्य के भीतर एवं ब्रह्माण्ड में जो सम्बन्ध बना रहा है बीर ज्योति ही रही है, क्योंकि व्यष्टि बीर समष्टि में जो गति, प्राप्ति बीर भाव है, उसके मूल में एक अखण्ड रहता है, जिसकी प्रेरणा से यह सब ही रहा है। उसका कर्तव्य ही दिखाई देता है, पर वह दिखाई नहीं पड़ता ।

कबीर ने सत्ता की द्रव्य रूप भी बताया है, कबीर का यह द्रव्य भौतिक द्रव्य से उत्कृष्ट एवं उत्तमोत्तम द्रव्य है, यह द्रव्य से कबीर की आध्यात्मिक विधाया ज्ञान ही गयी । यह उनके मन के भीतर की वस्तु है। बाहर की नहीं वह अकल्पनीय है^२ अन्ततम सत्य के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता । वह मन बाणी के परे की वस्तु है वह अविनाशनीय है, वह अनिवर्त्तनीय है। परमसत्त्व अमय से ही जाना जा सकता है। उसके स्वरूप को बताया नहीं जा सकता । उस परम सत्त्व की जानना ही श्रेयस्कर है। सत्त सत्त्व का ज्ञान उस एक के ज्ञान से कम है। उससे सबकी उत्पत्ति है, स्थिति है। पर सबसे उस एक का ज्ञान ही अमय है।^५ उस मूल सत्त्व के ज्ञान से कृप्य सभी पदार्थों का ज्ञान ही जाना संभव है, क्योंकि मूल ज्ञान ही वही है।

१- कबीर ग्रन्थावली पृ० २३१

२- .. पृ० १५

३- .. पृ० ६३

४- .. पृ० १२

५- कबीर एक न बाणियाँ----- एक न होव ।।

कबीर ग्रन्थावली पृ० १६

६- कबीर ग्रन्थावली पृ० १६

वह किसी वस्तु के द्वारा बनाया नहीं है। वह किसी वस्तु के द्वारा बनाया नहीं गया। उसका कोई आधार नहीं, उसका भेद जाना नहीं जा सकता। वह आनन्द स्वयम् है।^१ इस कारण से परे है। वह किसी वस्तु का कार्य नहीं, किसी इच्छा की शक्ति ने उसे निर्मित नहीं किया उसके माँ नहीं और न बाप ही। वह न उत्पन्न ही होता है, और न नष्ट हो ही शायदहीता है। उसने किसी की उत्पन्न नहीं किया और न किसी वस्तु ने उसे पैदा किया क्योंकि इस कारण कार्य सम्बन्ध है रहित वस्तु, अमर, निर्दिष्ट तथा अविनाशी है।^२ इस सभी अनुभवजन्य कल्पनाओं से परे है, वह अविनाशी है। वह अविनाशी स्वयं व्यापी है।^३ वह अविनाशी है। उसके दो भेद जाना अनुदि का काम है। निराश्रय है, किसी वस्तु से उसकी सत्ता नहीं की जा सकती, कोई इच्छा इस से ही नहीं, जिससे उसकी सत्ता बतायी जा सके।^४ इस स्वयं प्रकाश है, क्योंकि उसमें अपने की प्रकट करने का स्वाभाविक गुण है। काष्ठ में अग्नि व्याप्त रहती है, उस अग्नि के रूप की कोई नहीं देख पाता, जब काष्ठ से काष्ठ लकड़ दिया जाता है, तो दोनों की गर्मी से अग्नि प्रकट हो जाती है, और अपने की अभिव्यक्त कर देती है। सभी प्रकार इस स्वयं प्रकाश है। वह अपने की अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है।

१- अविनाशी वस्तु के निर्धारण----- बारा पारा ।

- कबीर ग्रंथावली पृ० २४८

२- ते तो बाहि अर्थ --- विस्तार अनुपा ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २२५

३- माय न बाप----- बाहि बाबा ॥ .. पृ० २४२

४- बिधि बाध्या----- अक्षर मरपुरि ॥ .. पृ० २४०

५- श्री गुरु दीव----- भेद लाना ॥ .. पृ० २०६

६- बहु विचारि ----- धारित राम ॥ .. पृ० २४९

७- कबीर ग्रंथावली पृ० २३६

कबीर ब्रह्म की अपरिणामीय शक्तिवाला बताते हैं। किसी वस्तु की शक्ति के विषय में पहले से ही ज्ञात ही जाना उस वस्तु की परिणामीय शक्ति के कारण ही जाता है। नाक से नीचे के उपादान वायु आदि यन्त्रों के माध्यम से जब क्लृप्त वादि प्रारम्भ करता है, तो उसके भावों रान, स्वर, ध्वनि और उनके द्वारा ही ब्रह्मन्म नीताओं की प्राप्ति हीमा, उक्ता अनुमान कठिन ही जाता है। स्वना ही नहीं नाक स्वयं भी स्वयं कल्पित रहता है। वह जाना प्रारम्भ करता है, और अपनी उन स्वरों के विस्तार से ही जब तक मुक्त हैं। नवनिर्मित रान के द्वारा ब्रह्मन्म बरहाता है, जगा अपनी कला का परिणय देता है। नाक की यह शक्ति अपरिणामीय है।

कबीर के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक वस्तु है, कल्याण अन्ततम अस्तित्व है। यह सत्, चित् ब्रह्मन्म स्वरूप है। यह जगत् का एक मात्र अधिष्ठान है। ब्रह्म, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, सात्वत अपार, कधीम, कल्याण, कर्ता, विनाशी, इन्द्रियातीत, गुणातीत संस्थातीत एवं सकल कतीत है। यह ब्रह्म से भी ब्रह्म और स्थूल से भी स्थूल है। ब्रह्म के सम्बन्ध में अधिक कहा ही नहीं जा सकता, कधीम की हीमि भाषा के माध्यम से प्रतिपादित करता कर्तव्य ही है। कबीर ने ब्रह्म का वर्णन भाँति भाँति से किया है। ब्रह्म का प्रतिपादन करने के हेतु वे भी उपलब्ध - भाषा, अतावरण, नाम, साधन, प्रयत्न आदि उपलब्ध कर लें। उनकी सहायता से ब्रह्म का वर्णन किया।

कबीर ने तत्त्वबोधन का व्यापक दृष्टि और पद्धति से किया, अपनी स्वानुभूति की कबीरी पर व्यापक

तथ्यों को तपाया और उसी तरह सम्भरकर उनका प्रतिपादन किया। कबीर ने परमवस्तु का वर्णन करने में कठिनाई का अनुभव किया। ब्रह्म की इन्द्रियगम्य एवं भाषागम्य नहीं माना और इसीलिए विरोधात्मक भाषा का भी प्रयोग किया। कल्यात्म विद्या के अन्तर्गत ब्रह्म विचार, वात्म विचार, माया, वर्णन, वस्तु विचार एवं मोक्ष आदि का वर्णन जाता है।

बीजात्मा

बीजात्मा वास्तव में न तो स्त्री है, न पुरुष है और न यह नदीक ही है। वह जिस तरीक़े की धारण करता है। उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। उपनिषद्‌ों में भी वात्मा की ब्रह्म के सम्बन्ध कहा गया है। यह वात्मा ही ब्रह्म है, तथा मैं ब्रह्म हूँ, यहाँ कबीर पर उपनिषद् का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

कबीर की द्वान्द्विकारी चेतना

समाज धर्म तथा वर्त्म सभी में उनके विचार सौधि इस इष्ट रसित सत्य के निष्ठ तथा तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक वातावरण के बिल्कुल उपर्युक्त थे। कबीरदास के द्वान्द्विकारी विचारों का वर्त्म केवल तत्कालीन वातावरण के आधार पर ही नहीं हुआ था ,

प्रत्युत उसके पीछे सिद्धी तथा नापी की एक सम्बन्धी परम्परा थी। उसे ग्रहण करके उन्होंने अपनी शान्तिकारी विचार उपस्थित किये और अपनी व्यक्तित्व की प्रकृति के कारण उस परम्परा से भी अलग होकर उनकी शान्तिभावना मातादीप की तरह दूर से ही चमकने लगी।

कबीर के अनुसार जिस प्रकार नदी प्रतिफल अपनी दोनों किनारों पर अविरत कार्य करती चलती है और साथ साथ अपनी को क्षीय समुद्र में प्रवाहित भी कर रही है, उसी प्रकार संसार और गृहस्थ जीवन की होड़कर साधना नहीं ही सकती। साधना नित्य और वैदिक समय में कीर्ति विरोध नहीं। कबीर ने इस सत्य की हृदय सम्झना की। यही कारण है कि वह संन्यासियों के सिरोमणि भी होकर सुद गृहस्थ की रहे।

धर्म के सम्बन्ध में कबीर ने जो अन्य मत-पूर्ण शान्तिकारी विचार उपस्थित किया है, वह है उनकी बुद्धिवादिता। उन्होंने किसी भी धार्मिक विश्वास की सीक और वेद के कथानुकरण पर स्वीकार नहीं किया, बल्कि विवेक से उन धर्म, विश्वासों का पातण्डों की अपनी अर्थवात्क प्रकृति से तल्ल नल्ल करके ही दम लिया।

हिन्दू धर्म के बाजार बाहुस्य की कर्वात् उसकी पूजा, उत्सव, वेद पाठ, तीर्थ यात्रा, व्रत, पुवाव्रत, जलतारी-पासना तथा कर्मकाण्ड आदि पर कबीर ने कस कस कर व्यंग्य किये और पंडितों तथा ब्राह्मणों की बाड़े हाथों खर ली। इन्हीं सब बातों ने कबीर की स्वना शान्तिकारी भक्त और समाज सुधारक बना दिया। उनका कल्ला है कि यदि विचार सुद और पवित्र नहीं है तो धर्म भी सुद

बीर पवित्रक नहीं हो सकता । कबीर ने धर्म के लीन में बाजारण पर भी विशेष बल दिया । किन्तु बाजारों के बाहुल्य रूप से उन्हें घृणा थी । सामाजिक शोचण कानून और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में बाब भी कबीर का काव्य एक तोला बस्तु है। कबीर से हम रुढ़िगत धारणा, दुराचार और अन्यायी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध छटकर लड़ना सीखते हैं और यह भी सीखते हैं कि विद्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शोचण के दुर्ग के सामने अपना माथा ऊंचा रखता है।

कबीर ने गरीब और कमीर दोनों को ही भवर्ष भवर्ष माना है और उसी सबसे बड़ी बात यह कही कि यदि हम सर्वभूत को एक समझें तो यह सारा विवाद ही समाप्त हो सकता है।

कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों - परस्पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समानता का प्रतिपादन करते एवं पारस्परिक विरोध को समाप्त करते उन्हें एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया । यहाँ पुनः स्पष्ट कर दें कि कबीर की यह समन्वयवादी विचारधारा सापेक्ष नहीं अपितु निरपेक्ष है । उनके मूल्य में ऐसा विचार कभी नहीं रहा होगा कि वे एक सामाजिक नेता कथमा धार्मिक विचारक होकर समाज की साक्ष्यों को पाटनावासी हैं, वस्तुतः कबीर का मूल्य उद्देश्य केवल भक्ति है सच्ची भक्ति । यह भक्ति के वाहे जो भी धर्म रुढ़ि, मर्यादा, सीमा कथमा बाह्यम्बर जाता है, कबीर उसे तुरन्त बागे बंद बाँधे हैं। वस्तुतः वे सच्ची भक्ति के रास्ते में बाह्यम्बरयुक्त जीवन को बाधक समझते हैं ।

किन्तु खाना स्पष्ट है कि उन्होंने समाज,

धर्म, वाति कथा सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो भी विचार प्रकट किए हैं किसी के दबाव में बाकर नहीं प्रयुक्त प्रतीति निर्दिष्ट है, वात्सव्य स्वातन्त्र्य की भावना एवं पूरी अहिंसा है, सभी वर्गों में कबीर आन्तिका ही है।

कबीर का समाज में स्थान

समाज व्यक्तित्व का ही विकसित रूप है, जब व्यक्तित्व स्तरों के रूप में विचार न करके सामुहिक विचारधारा के अधीन सीधता है तो उसका दृष्टिकोण समाजवादी कहा जाता है। सामुहिक दृष्टिकोण में व्यक्तित्व का स्थिति तो सम्मिलित रहता ही है, परन्तु स्वार्थप्रिय व्यक्तित्ववादी दृष्टिकोण में समाज का अस्तित्व होने की सम्भावना रहती है।

समाज यद्यपि व्यक्तित्वों का ही सामुहिक स्वरूप है। इसलिए जब भी व्यक्तित्व कर्तव्य-अनुष्ठान होता है तो उसका प्रभाव समाज पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। समाज विस्तृत होकर गिरावट की ओर बढ़ने लगता है। व्यक्तित्व में किसी भी प्रकार का दोष समाज की गिरावट का कारण बनता है। व्यक्तित्व का आत्मिक पतन, व्यक्तित्व का नैतिक पतन, व्यक्तित्व का मानसिक पतन, व्यक्तित्व का बौद्धिक पतन, व्यक्तित्व का शारीरिक पतन, व्यक्तित्व का आर्थिक पतन, यह सभी उसके समाज में प्रतिबिम्बित हो उठते हैं। व्यक्तित्व को यह प्रवृत्तियोंने स्वार्थ से प्रेरित होकर समाज में विघ्न के समान फैल जाते हैं। समाज के इस विघ्न को दूर करने के लिए महापुरुषों ने बन्धन दिया है, और समाज के विस्तृत ढाँचे को फिर से मूलानुष्ठान करने के निमित्त अपना जीवन लगाया है।

समाजवादी भावना का तीव्र

एक काल में भारत के सामाजिक वातावरण में समाजवादी भावना का तीव्र हो चुका था। एक विस्तृत समाज तन्त्र-तन्त्र होकर पहले ही समूहों में विभाजित हो चुका था और यह समूह भी जाय जाय काल की वर्ण व्यवस्था के बाधित कार्य नहीं कर रहे थे। उनके पुत्र में कर्म की अपेक्षा जन्म की प्रधानता दी जाने लगी थी और फिर भाग्य की परिपाटी ने तो मानव समाज का भी वशित किया। वह कुछ करने की बात ही नहीं, भाग्य का सहारा लेकर पातण्डी धर्म और समाज के ठेकेदारों की अपनी पातण्डी विचारधारा, नीली नीली जनता के जन्मद फलाने में सहारा पिला और उन्होंने अपनी स्वार्थप्रिय प्रवृत्तियों के बाध पर व्यक्तिवादी परम्परा को प्रत्यक्ष किया। राजनीति के क्षेत्र में भी वह स्वतन्त्रवादी राज्य सत्ताओं का युग था जिसमें व्यक्तिवादी विचारधारा का ही प्राधान्य रहा, राजा या वादस्ताह और फिर सामन्त तथा उनके नायक जनता का कोई स्थान नहीं था, कोई मत नहीं था। वह काम करे और छेद करे। कबीर के युग में स्वामी रामानन्द ने धर्म के क्षेत्र में पातण्ड का तण्डन किया और उसी से प्रभावित होकर कबीर ने जनता में उनकी विचार धारा का प्रसार किया।

कबीर ने जाति पंक्ति की विचारधारा का तण्डन कर समाज की मिलाकर दृढ़ बना देने का प्रयास किया। धर्म की किसी वर्ग विशेष की बपीती न मानकर वापसी उठे सामंजसिक क्षेत्र में लाकर लड़ा किया। रामानन्द भी की 'भाव भगति' वाली विचार धारा की जनता आर्जन तक पहुँचाया। कबीर की विचारधारा धर्म,

जाति कच्चा समाज विशेष तक सीमित नहीं थी उसमें मानवमात्र के कल्याण की भावना थी। इस भावना ने समाज के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के उत्थान में सहयोग दिया।

वाचरण की सभ्यता

वहाँ कबीर ने धर्म के पीछे में स्मरण, नाम, वप, कर्मपात्रप और प्रपत्ति पर बल दिया है। वहाँ बुराई और वाचरण की सभ्यता पर भी कम प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया। वाचरण की सभ्यता के लिए व्यक्ति में जो गुण होने आवश्यक हैं, उन सभी का निर्देश कबीर ने अपनी वाणी में किया है- काम, क्रोध, आदि पाँच विकारों के लिए कबीर ने सिखा है।

कबीर पाटण कारिया, केव नीर दस बार।

वप राजा नदु में लिखी, सुमरि ले करतार ॥ १

वाचरण की सभ्यता व्यक्ति में स्थापित करने के लिए कबीर ने व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया है। वास्तव में चरित्र का उत्थान ही व्यक्ति का उत्थान है, और व्यक्ति का उत्थान ही समाज का उत्थान है। इसी विचारधारा के अन्तर्गत कबीर ने चरित्र पर विशेष रूप से बल दिया है, और सामा-
यिक वर्गगत की प्रधान गैरियाँ की अपनी उपेक्षा की ओर महान् व्यक्तित्व से तोड़ने का प्रयास किया है।

इस काल का समाज बहुत ही निरी दशा में था। समाजवादी भावना का लीप और व्यक्तिवादी भावना का प्राधान्य मिलता था। कबीर ने समाज की कलित की प्रेरणा दी थी। व्यक्ति की सदाचार का पाठ पढ़ाकर समाज की निरखी हुई दीवारों को फिर से नया जीवन प्रदान किया और समाजवादी का गुरु मंत्र बनता मैं फुल कर समाज को बस दिया। समाज के दीप्ति में कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान सभी को एक स्तर पर रखकर बताया है और एक ही स्तर पर सहयोग के साथ जीवन जीना शुरू करने का पाठ पढ़ाया है।

कबीर ने मध्यम के मानवीय समाज और धर्म का एक प्रकार हरदीन में मानें निर्देशन किया और मानव धर्म की एक नवीन स्फुरता बनता की प्रदान की। कबीर का साहित्य उनके हृदय की प्रेरणा है। उनके चरित्र की विचारधारा है और उस प्रेरणा तथा विचार धारा का प्रवर्तित भावना में सबसे भाव से स्पष्टीकरण है। न तो वहाँ लक्ष्मी का बटित भावा भाव है और न लक्ष्मी साधन का पाठित्य और लक्ष्मी की उल्लेख कृद, कबीर के साहित्य में तो विचारों का ही प्राधान्य है। भावना का पुट है।

कबीर का साहित्य लोकप्रिय साहित्य है, केवल जाचार्यों की कल की पीथी मात्र नहीं। कबीर का साहित्य कवि के हृदय की वह सबसे भावना और कल्पना है कि जिसमें कलकट के लिए तो कोई स्थान है ही नहीं। हाँ यह कल्पना कहा जा सकता है कि यह तान से निकला हुआ वह स्वर्ण है जिसे तपाया तो गया है परन्तु कृत स्वर्णकार द्वारा उस पर हाथमन्द नहीं काटा गया। कबीर ने एक स्वर्ण को स्वा-

भाषाशिक्षता द्वारा ही सौन्दर्य की अनुप्राप्ति प्रदान की है। उसमें बनावट की प्रशंसा नहीं दिया है। कबीर के साहित्य में बिनाहीं की वह ताकती है जो मध्यम के किसी भी कवि की रचना में उपलब्ध नहीं होती। बाब के कबीन्द्र रबीन्द्र भी कबीर की ही भाषा से अनुप्राणित होकर विश्व की नीतिनिति जैसा वनर ग्रंथ प्रदान कर रहे हैं।

कबीर साहित्य में स्वतन्त्र चिन्तन की जो रचाना पितृव्य है वह मध्यम के साहित्य की वनर निधि है। बाब के विचार तथा साहित्य के लिए भी पय-प्रवर्तक का मार्ग प्रस्तुत करती है। कबीर साहित्य ने समाज की वह स्वतन्त्र विचारधारा प्रदान की है जिसे वर्ण में समाज अपने चित्त की सभी प्रकार देत रहे और स्वतन्त्र रूप से उसको कवियों की ठोके कर रहे हैं। प्राचीन रुढ़ियों के प्रतिबन्धों से कबीर ने अपने साहित्य की मुक्त रत्ना है और विचार, भावना तथा भाषा तीनों ही स्तरों में सर्व भावना से काम लिया है।

कबीर का भाषा पता

कबीर की काव्य भाषा बहिर्लोक:

सरल का भाषा है। अत्यन्त भाषाशिक्षता का प्रयोग अल्प रूप में ही हुआ है। फिर भी दो या दो से अधिक शब्दों को मिलाकर समाज की तरह उनका प्रयोग कबीर में पर्याप्त रूप से मिलता है। जैसे- नदी-नाला, विवेक-विचार, मोहि-तोहि, नीर-तील, तप-तोष, ब्रत-धुवा, धी-धी, पाया-पीह, पाप-पुण्य, रात-विष, मुह-

भाषा , बाद- विवाद आदि ।

‘ संस्कृत है कृप क्त भासा बस्ता नीर ’ के छिद्धान्त की मानने वाले महात्मा कबीर ने अपने काव्य में १६ ही लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर की भाषा पूर्णतः तद्भव प्रधान रही है। प्राचीन भाषा संस्कृत के उन्हीं तत्सम शब्दों का प्रयोग कबीर ने इसी छिद्धान्त के अनुसार किया है। फारसी एवं अरबी के तद्भव शब्द ही कबीर ग्रन्थावली में प्रयुक्त हुए हैं। व्याकरणिक रूपान्तरों की सम्मिलित करते हुए कबीर ग्रन्थावली में समस्त शब्दों या फरी (एक फरी शक्ति की संख्या ७३० सात हजार तीन ही तीस है) इनमें से संस्कृत तत्सम शब्दों (क-प्राची) की संख्या केवल १३० है। प्रयुक्त तद्भव संज्ञा, विशेषण, क्रिया फरी की संख्या लगभग ११४० है, किन्तु संज्ञा ७२५ , विशेषण १२० क्रिया फरी की संख्या २८ है। कबीर ग्रन्थावली में कृत पिलाकर २८ विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं किन्तु ये समस्त शब्द अपने तद्भव रूप में ही ढाल लिए गए हैं ।

कबीरदास जी की भाषा फरीशानियों के लिए भी एक कठिन समस्या रही है। स्वयं प्रयुक्तः ही समस्याएँ पुनः रूप से विद्यमान रही हैं। उन्हें ही हलफाना कठिन रहा है।

भाषा के विषय में हम कुछ विद्वानों के मत यहाँ पर उद्धृत कर रहे हैं ।

१- डा० पारुषनाथ तिवारी ने पाठ-विज्ञान के आधार पर कबीर ग्रन्थावली का संपादन किया है जिसमें २०० पद, २० रमनियाँ तथा १ जौतीस रमनी तथा ७४४ सातियों कबीर की प्रायाणिक रचनाएँ मानी गई हैं । यदि काल के आधार पर क्रमानुसार इन

रचनाओं की भाषा १५ वीं शती ई० की छिदि हो गई थी जो संपादन की प्रामाणिकता की बहुत ही बात पित करता है।

२- बाबायं रायचन्द्र शुक्ल के अनुसार -
 वीह बाबा की भाषा छल्लुकी कर्तु राबस्थानी, केबाबी मिली लुही
 बीली है पर ऐसी बीर फ म माने के फ है किमें काव्य की ब्रम भाषा
 बीर कही कही जूनी बीली का भी व्यवहार है।

३- डा० श्याम सुन्दर दास की कबीर
 की भाषा की ' लिखी ' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार कबीर की
 भाषा का निर्णय करना टेढ़ी सीर है, क्योंकि वह लिखी है। यद्यपि
 उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरी बीली पुरबी है, तथापि लुही बीली, ब्रम,
 केबाबी, राबस्थानी, वरबी, फारसी बादि अनेक भाषाओं का पुट
 भी उनकी भाषा पर चढ़ा है। पुरबी से उनका तात्पर्य क्या है नहीं कह
 सकते हैं। उनका बजार निवास स्थान पुरबी से अंधी का कर्म देने के पदा
 में है परन्तु उनकी रचना में बिहारी का पर्याप्त प्रेम पितता है।

४- डा० उदय नारायण तिवारी भीमपुरी
 की कबीर काव्य की मूल भाषा मानते हैं और उसकी विविधता की कुछ
 बन्नों की सपता करते हुए अपना यह मत प्रकट करते हैं कि कबीर की मूल
 भीमपुरी में लिखी बाणी कुछ बन्नों की तरह कई भाषाओं में अनुचित
 हो गई थी। इसलिए उसमें अने प्रकार की विविधता पायी जाती है।

उपर्युक्त कर्तों से स्पष्ट है कि कबीर की
 साहित्यकार बने की हल्का न थी और नहीं भाषा की सुन्दर बताने
 की उन्हें तो बली बाणी द्वारा ज- जितना प्रशंसित करती थी। वही
 उनकी भाषा के द्वारा विकसित हुआ।

कन्दोकीका

उस जीर्णिक के अन्तर्गत हमारा प्रवास होगा कि हम कन्द- विज्ञान की योजना पर कबीर ग्रन्थावली के संदर्भ में कुछ अज्ञात होते हैं।

कबीर साहित्य के कन्दों का निरूपण मात्र गणना पर अधिक और नहीं केर बहुत कुछ तय के आधार पर ही हो सकता है। इसके लिए कहीं कन्द का दीर्घ और दीर्घ का कन्द उच्चारण करना पड़ेगा। कहीं कुछ कन्दों को (किन्हीं छटा देने पर भी क्वं में कोई व्याख्या नहीं पड़ता) छटाना पड़ेगा और कहीं तब कुछ पंक्तियों के मत में उन्हें कुछ तब लम्बित पंक्तियों में भी नहीं तब मान लेना पड़ेगा। तब के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण अपनाकर ही हम देख पायेंगे कि कबीर की प्रायः समस्त रचनाएँ कन्दोक्त हैं। बातों में मुख्यतः दोहे का प्रयोग होता है। कतिपय छोटों और कल्प्य भी मिल जाते हैं। कहीं कहीं दोहे के सम्बन्धों में प्रत्यक्ष ऐतिहासिक की मात्राओं की बुद्धि भी दिखता है पड़ जाता है। यथा-

“कबीर मारण कर्म है, सब मुनि जन बेटे पाकि ।” १

यहाँ सम्बन्ध में दो मात्राएँ अधिक हैं। भाषा की दृष्टि से “मुनिजन” के लिए “सब” विशेषण की आवश्यकता नहीं। यदि रहे तो यह दोहरीय की पंक्ति कहीं बायेली। कन्दः शास्त्रानुसार दोहे के प्रारम्भ में “कबीर” जैसा कण्ठात्मक सङ्घ नहीं रहना चाहिए। नाम से प्रारम्भ होने वाले दोहों के वर्णों में “कवनावली” में

‘कविरा’ का प्रयोग देखा जाता है, जो इन्हीं दृष्टि से ठीक है। जैसे-

कविरा सुमिरि ताहु की, जागे भुवा कान्त । १

कबीर साहित्य का एक भाग पद साहित्य है। पद की रचना कभी तो बाणीपान्त एक ही इन्द्र में कीर कभी दो तीन इन्द्रों के मेल से होती रही, कबीर के पदों के साथ भी यही बात है। कति-पय पद तो बाणीपान्त एक ही इन्द्र में निबद्ध हैं कीर कुछ की रचना तो दो तीन इन्द्रों के मेल से हुई है। कबीर के सम्पूर्ण पद साहित्य में ७००० कीर प्रकार के इन्द्रों का प्रयोग हुआ है। कुछ इन्द्र उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं :

महानुभाष

‘ मैं डोरे डोरे बाजेगा
तो मैं बहुरि न भीषति बाजेगा ॥
हुत बहुत कृप पाँरा
तापै ताँसे ते कथा डोरा ।
कथा डोरा सागा,
जब बरा मरण मो भागा ॥

इसमें ३ ही कीर पाँचवीं संश्लिष्ट महानुभाष की है। १ तो कीर ४ की बीपाई की तथा ६ ठी उसी इन्द्र की है।

बीपाई

रिषा कवत मैं रा सि लुकाव ।

प्रेम नाँठि दे ज्युं हूटि न जाइ ।
 कठ सिधि नव सिधि नाबि कैलारि ।
 कहै कबीर भवि बहत सुरारि ॥ १

बीपार्ह का स्वतन्त्र प्रयोग कबीर ग्रन्थावली में कीकरी पदों में हुआ है।

उपमान (२३ पा०)

उपमान का स्वतन्त्र प्रयोग ग्रन्थावली के
 १५६, १८८, १६०, ३६३ और ३७३ पदों में हुआ है।

विरहिणी (२३ पा०)

प्रेम पियासा पियाह के हो पिया पिया बीराय ।
 बिरह बनिनि एन तल्ल हो जिय कहू न होकाय ॥
 ऊँच बटारिया बदि दे हो जहाँ कास न जाय ॥
 कहै कबीर बिचारि के हो जग पैत उराय ॥ २

विरहिणी शब्द में निबद्ध केवल यही एक
 पद मिलता है, जो शब्दोद्भूति से बहुत दूरत व्यस्त है, किन्तु यह उसी
 शब्द में निबद्ध, बिसेय बिपापति ने भी एक पद लिखा है।

रूपमाता (२४ पा०)

रूपमाता का स्वतन्त्र प्रयोग ग्रन्थावली के

१- कबीर ग्रन्थावली १२३ पद

२- " १८० पद

३०२ बीर ३१७ में माना जा सकता है।

हरिणीतिका (२० पा०)

सुनता नहीं धुन की लहर, कहद बाबा बाबता ।
रुचक मीदिर नाबता, बाहर धुने तो क्या हुआ ।
नाबा बकनामी पीस्ता, मान की तराब पीबता ।
एव प्रेम रुच बाता नहीं, कपली हुआ तो क्या हुआ ॥ १

हरिणीतिका स्वतन्त्र प्रयोग बस एही उभय
पद में हुआ है।

दीहा (१६, १९, १३, १९ पा०)

कबीर ने दीहा का प्रचुर प्रयोग किया है।
ग्रन्थावली के पद ४ में दीहा के लिए प्रत्येक चरण के अन्त में ' १ '
को दीखाना की गहं है। दीहा का प्रयोग अन्य शब्दों के साथ हुआ है।

इप्पय (रीता + उस्ताता)

मन नहीं डाहे विनी, विनी न डाहे मन की ।

कहं कबीर प्येदहु नरा, ज्यू जल पूरया सकत रुच ॥ २

कबीर साहित्य में यह शब्द उपलब्ध होता है।

१- कबीर वचनावली पद १६४

२- कबीर ग्रन्थावली पद ६

कबीर के शब्द: प्रयोग पर भी कुछ दृष्टि डाल
लनी चाहिए। शब्द प्रयोग की मुख्यतः तीन विशेषतायें हैं :

१- कवि का भावानुसृत शब्द का प्रयोग

२- कवि का भावामिव्यक्ति के लिए नूतन शब्द का
निर्माण

३- कवि का विविध शब्द या शब्दों के प्रति सहमान

शब्द की दृष्टि में रत्नरत्न कबीर ने
किसी पद की रचना नहीं की होनी। अपनी मस्ती में जाकर उन्होंने जो
कुछ संझी पर ना दिया होना, वही शब्द के अर्थ में डल गया होना।
कबीर के लिए भावामिव्यक्ति ही मुख्य थी। इसीलिए उनका भाव कहीं
एक ही शब्द में निबद्ध हो गया और कहीं एक शब्द में बहता हुआ अन्य
शब्दों में निबद्ध हो गया और कहीं एक शब्द में बहता हुआ अन्य शब्दों
में भी फैल गया। यदि दोहा कहें हुए कहीं दोही दोहरीय की पंक्ति
जा गई तो कहीं दोहे की पंक्तियों के बीच सरसों का बरण बाकर बैठ
गया। अतः कहा जा सकता है कि अन्य पद रचयिताओं की तरह उनके
पदों में जो दो तीन शब्दों का मिश्रण है। वह भावानुसृतता के लिए
तो है ही उसमें प्रयत्न शैथिल्य तथा रचना का भी कुछ साध है। अपनी
भाषों को ठीक पीट कर शब्द के जोड़ने में बैठाने का प्रयास कबीर ने नहीं
किया। फिर भी कहीं कहीं उनके शब्द प्रयोग में काफी सतर्कता दिखलाई
पड़ती है। उदाहरण- रूप में उनके वे पद लिए जा सकते हैं, जिनमें महानु-
भाव, जीपाई, महानुभाव, सती, जीपाई, दोहा के चरणों का अपवाद
मिश्रण हुआ है।

कबीर ने जानबूझकर किसी नूतन शब्द का आविष्कार किया हीना, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। अपनी नीब में उन्होंने जो गया उसो में ही एक नूतन शब्द बन गए।

कबीर के साहित्य का एक बड़ा नाम दीह में लिखा गया है। जानीपैत देने के लिए यह छोटा शब्द अप्रति काल से ही लोगों का प्यारा रहा है। कबीर ने जो कुछ कहा वह पार्थिक शब्दों में ही निबद्ध है। किसी वर्णिक शब्द का प्रयोग उनके साहित्य में नहीं है।

कर्मकार

काव्य में कर्मकारों की पारम्परिक आविष्कार से जती जा रही है। संवितावी और उपनिषदों की अधिकृत उचितियों में स्वाभाविक कर्मकारों की योजना पाई जाती है, परन्तु यह ही सकता है कि उस समय तक उनका नामकरण न हुआ हो। नाट्यशास्त्र में सबसे प्रथम उप्ता, हफ, दीफ और यफ नाम के नाट्यात्मिकों का उल्लेख मिलता है। कर्मकार की विशिष्टता से ही उचित काव्य कहलाती है। इस उचित शब्दों का ही नाम कर्मकार है। कर्मकारों ने इस बात की दूसरे ढंग से व्यवस्था किया है। उनके मतानुसार काव्य को हीना बढ़ाने वाले धर्मों को कर्मकार कहते हैं।

कबीर को कविता कर्मकार रहित होने पर भी उसे काव्य का समान्यतः प्राप्त हो चुका है। कबीर ने अपनी काव्य की साहित्यिक बनाने को कभी नष्ट नहीं की थी, उनके जीवन का लक्ष्य भव-

सागर में डूबते हुए लीनों के लिए साती करना या न कि रक्षियों के लिए काव्य की निम्नकारी खाना, सातियों में यदि हम इन्व, गुण, कर्तार आदि साहित्यिक उपादानों को ढूँढने का प्रयत्न करें तो सम्भव है हमें निराश होना पड़े। उन्होंने अपनी उचितियों पर कभी गुण कर्तार आदि का कृत्रिम सुलझा पड़ाने की चेष्टा नहीं की थी, यह बात दूसरी है कि उचित और उचितों की अत्यधिक प्रभावोत्पन्न बनाने के प्रयत्न में स्वाभाविक कर्तारों की योजना स्वतः ही नहीं हो। कर्तार कबीर के लिए साध्य नहीं, स्वाभाविक साधन मात्र थे।

कबीर की रचनाओं में उन्हीं कर्तारों की स्मृति है, जिनकी योजना कवि की प्रतिभा अज्ञात रूप से मान की प्रभावोत्पन्न बनाने के लिए किया करता है। इन कर्तारों में सबसे प्रसृत उपमा एवं रूपक हैं। यह दोनों ही कर्तार साम्य युक्त हैं किन्तु वेद ज्ञाना है कि रूपक में साम्य की प्रतीति व्यक्तता से होती है। उपमा में साम्य की प्रतीति वयिधा से होती है जिस प्रकार कालिदास उपमा के लिए प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार कबीर अपनी रूपकों के लिए प्रसिद्ध हैं। कबीर के रूपकों की कुछ विशेषताएँ भी हैं। संक्षेप में हम उनकी प्रायः इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं। यथा-

१- साधक्य

२- व्यक्तित्व

३- उनमें उपमान या अप्रस्तुत वस्तु की एक

सामान्य जीवन से लिए गए हैं।

४- उपमान अधिकतर सैवात्म्य एवं प्रतीकात्मक हैं।

२- वे कलशाम्य या वस्तु- साम्य पर टिके हुए
हैं ।

३- कुछ मनीषिन होने के साथ साथ उल्टबाधियों के
रूप में व्यक्त हुआ है।

४- उनमें प्रभावात्मक प्रतीकों का प्रयोग अधिक
मिलता है।

कबीर में अधिकतर ऐसे ही रूप पाये जाते
हैं जिनमें उपमान प्रायः पूर्ण किया परिस्थिति या चित्र के रूप में प्रस्तुत
हिए गए हैं जिनके साथसाथ वर्णन से एकपुत्री बात स्पष्ट कह दो जाती है।
अन्त कबीर में इस कोटि के रूपों की भरमार है। कबीर में पाये हुए अधिकतर
रूप कव्यवसित रूप हैं। जिनमें रूपातिशयोक्ति की भाँति उपमेयों का विलम्ब
कथन ही नहीं किया जाता है। रूपातिशयोक्ति और कव्यवसित रूप में
इतना ही भेद है कि रूपातिशयोक्ति में उपमान्य अत्यन्त प्रसिद्ध परम्परा-
गत होते हैं किन्तु कव्यवसित रूप में उपमान परम्परागत न होकर मौलिक
एवं प्रतीकात्मक एवं सूक्ष्मात्मक होते हैं। कबीर के रूपों की एक और विशेष-
जाता है कि वे अधिकतर फल साम्य या गुण साम्य की ही प्रकट करने
जाते हैं। उन्होंने अधिकतर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के गुण साम्य पर ही ध्यान
रखा है। यथा-

नीनों की कर कीठरी, पुतली फल विजय ।

फलों की निक डालिक, पिय की लिया रिफाय ।

कबीर के बहुत से रूप भाषा और अभि-
व्यक्ति में अत्यन्त मनीषि हैं। बहुत कुछ फेरलियाँ से मिलते जुलते हैं ।

कबीर में दिया हुआ विवाह का यह रूप ऐसा ही है। कबीर में रूप के अतिरिक्त उनकी उम्माएँ भी बड़ी सुन्दर हैं। अपनी उम्माओं में कबीर किस उम्माओं को लाये हैं वे प्रायः परम्परागत नहीं हैं, वे सामान्य जीवन की वस्तुओं से सम्बन्धित हैं।

उम्मा और रूपों के अतिरिक्त कबीर में उत्प्रेक्षा, ज्योतिष, लोकोक्ति, विभावना, व्यङ्ग्यरसवाद, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त आदि अन्य उत्कारों की भी कमी नहीं है। किसी तथ्य को भावात्मक और कीर्तात्मक ढंग से कहने के लिए ज्योतिष उत्कार बड़ा उपयोगी होता है। कबीर की उपेक्ष प्रधान उचितियों में ज्योतिष की कमी नहीं। कबीर ने ब्रह्म निरूपण में विभावना उत्कार का अधिक सहारा लिया है।

इस प्रकार कबीर ने अपने काव्य में व्यर्थ के उत्कारों को वाच्य नहीं दिया है, उनमें जो उत्कार पाये जाते हैं वे अधिकतर स्वाभाविक रूप से उचित में वैशिष्ट्य लाने के प्रयत्न के फलस्वरूप जागर हैं। कबीर ने कभी व्यर्थ के उत्कारों की योजना करने की चेष्टा नहीं की थी। उनको अधिकृत उचितियों में साम्य मुक्त रूप और विरोध मुक्त विभावना, विरोध, वसति, विषम आदि उत्कारों की योजना प्रायः खर्च मिलती है। इससे उनके काव्य की भावात्मकता और नैसर्गिक सौन्दर्य दोनों ही बढ़ गए हैं।

वहाँ तक कबीर की रचनाओं का सम्बन्ध है उसमें पादुर्य गुण की प्रधानता है। उपेक्षात्मक उचितियों में प्रभाव गुण भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। कबीर का रहस्यवाद अत्यन्त पुर

एवं रसात्मक है। उसमें तुंगार के दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति हुई है। रहस्यवाद की तुंगाररूपपूर्ण उचित्यो में माधुर्य गुण की पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती है।

माधुर्य गुण के अतिरिक्त कबोर में प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है। उनकी उपेक्षात्मकता और सुधारात्मकतापूर्ण उचित्यो प्रसाद गुण सम्पन्न है। ऐसी उचित्यो अधिकतर लड़ी बोली में मिलती है। इनकी भाषा सरल सीधी और स्पष्ट होती है।

कबोर के काव्य में ऐसी प्रकार कुछ शब्दांश-कारों की भी नियोजना हुई है। उनका कवि का गूढ़ार्थ की अभिव्यक्ति में अधिक रमा है। क्योंकि वह अपनी काल में साधना द्वारा उपलब्ध विभिन्न आध्यात्मिक दशाओं और स्तरों के वर्णन में अतिशय सचेष्ट रहा है। अर्थात्-कारों की तरह शब्दांशकारों का प्रयोग बहुलता के साथ नहीं हुआ है और न वे इतने विशिष्ट हो रहे या सकते हैं।

कबोर काव्य में श्लोकारों का प्रयोग इतना सटीक एवं स्वाभाविक और जायाब हुआ है कि उसे प्रशंसित होता है कि काव्य में प्रयोग के लिए काव्य के अंग-उपांगों का सम्यक् अध्ययन न तो आवश्यक हो है और न अनिवार्य ही है। निरुद्ध होने पर भी कबोर की रचनाओं में प्रसन्न श्लोकारों की मार्फिता पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्ष

कबीर की कविता विभिन्न भाषाओं के शब्दों की वफाती हुई बनती है। उनका मत था कि "भाषा बस्ता नीर" है। उसमें प्रवाह होना चाहिए। श्रवण के लिए उनकी भाषा में हमें रावस्थानी, प्रभाषा, जयपी, पंजाबी, भीखपुरी आदि के शब्द और अनिगत विशिष्टताओं मिलती हैं। कबीर की वफाती बातें पूरे भारतवर्ष में चलती थीं। सभी से वे किसी केवल विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं। उनके शिष्य देश के कोने कोने में थे। अतः यह स्वाभाविक होना कि उन्होंने की बोली में वे वफा काव्य रचते और किसी भाषा में यदि दूसरी भाषा के शब्द आ जायें तो यह काव्यगत दोष नहीं है। बहुत सी जाधुनिभाषाएँ ऐसी हैं जिनके अधिकतर शब्द विभिन्न भाषाओं से लिए गए हैं। लेकिन उनका साहित्य विश्व साहित्य में खूबानी है। कौबो और ऊँ ऐसी ही भाषाएँ हैं। कौबो में हिन्दो के बंगल, जवान, गुण्डा और पन्का इत्यादि बहुत से शब्द प्रचलित हैं।

वास्तव में कबीर की भाषा दूसरे शब्दों की वफाती से ही सफ़र बनती है। बहुत से जालीबक यह भी कहती हैं कि कबीर ने शब्दों और पुराणों का गहन अध्ययन किए बिना ही उनकी जालीबना की है। कबीर स्वयं कहते हैं कि उन्हें पौनी और ग्रन्थों से चिद है। लेकिन केवल पुस्तकीय ज्ञान ही ज्ञान नहीं है, ज्ञान प्राप्ति के और पाठ्य हैं। मूल वस्तु है प्रतिभा। प्रतिभाशाली व्यक्ति जीवन के अध्ययन से ही अतुल्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जीवन स्वयं ही एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। यथा-

पंडित और मराहली दोनों ही नहीं नाहि ।

जीवन की हर लीनता आप कबिरे माहि ॥

यह भी कहना अनुचित होगा कि कबीर ने किसी साम्राज्य के प्रवर्धन या प्रसार के लिए काव्य रचना की।

कबीर कब्य उनका नहीं बल्कि उनके पक्षपाती शिष्यों द्वारा रचवाया हुआ है।

कबीर का उद्देश्य कवि बनना नहीं था फिर भी वह उत्कृष्ट कवि है। वे कवि धर्म और उनके उद्देश्य से परिचित न होते हुए भी महान् और श्रेष्ठ कवि रहे हैं। यह तर्क भी सुचित संभव नहीं है। कबीर ने जो कुछ लिखा है वह उत्कृष्ट काव्य है। जब हम यह धिक् कर लेते हैं तब यह तर्क कि कवयाने ही ऐसे कवि बन गए निर्णयक है। यह कविता रचना चाहते थे उन्होंने की। यही उनके व्यक्तित्व का ठीक प्रमाण है और उस काव्य के आधार पर ही हम समीक्षा करते हैं।

जब कभी किसी युग विशेष युग में व्यवस्था का साम्राज्य स्थापित हो जाता है तो वह युग विद्रोह करने लगता है। विद्रोह अधिकतर नयी पीढ़ी करती है। पुरानी पीढ़ी तो पुरानेपन से ही चिपटी रहती है। वह मानती है कि उसे चम्प दिव रहना है। इस लिए अभिनव साम्यवादी की ताने के लिए संघर्ष क्यों किया जाय ? दूसरी बात वह भुत बाराण की जीवन की सबसे बड़ी प्राप्ति मानती है। वह भुत बाराण वाले दूसरों का शोचण करे ही क्यों न फिरे ? भले ही वह शोचण की शोचण कल्याणार की कल्याणार न कहा जाए, क्योंकि सभी ऊँचे फलों पर वही विराजमान रहते हैं और उन्हीं के हाथों में सारे विधि-विधान संचित रहते हैं। लेकिन विद्रोही इन बाधाओं की कतरे भिन्ना नहीं

करते । वे अपनी सिर अपनी समाज के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं । यही ही उन्हें कितनी भी यातनायें सहनी पड़ीं । कबीर भी वही विद्रोही बीड़ी के नेता थे । पन्ध्रवीं सताब्दी ईसापूर्व की सती है। पुराने मूल्यों के विघटन और नवीन मूल्यों के निर्माण की सती है। उस युग में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और वाय्यात्मिक सभी क्षेत्रों में ज्ञान का विश्वास और स्वायं परवा की सुती बीकती थी । कबीर ने इन सभी के विरुद्ध बाबाबु उठायी । विद्रोह में मान बर्बाद, शीत और मरु मायण की भुमिका नहीं रखती । विद्रोह में केव बीज और सीते रखे हैं- भद्रकृति हुर । उनकी विधीनिका में समस्त बाह्याहम्बर और डीन भस्मीभूत हो जाते हैं। वहीलिए कबीर की भाषा, शैली, कथ्य इत्यादि सभी में वप्रतिम बीजस्थिता है। उनका दर्शन भी श्रान्तिकारी है। विद्रोही अपना पराया सभी नहीं बीकता उसका सर्वा-परि तत्त्व है अपनी मान्यताओं की स्थापित करना । ज्ञानार और कथ्याय का उन्मूलन करना, विगति परम्पराओं के स्थान पर विकासशील और प्रगतिशील शिद्धान्तों और विचारों की मान्यता देना उपयोगी जानना । कबीर ने यही सब अन्तिम सीध तक किया । वे अपनी मान्यताओं के बागे किरी को भी महत्व नहीं देते थे ।

कबीर का विद्रोह मुख्यतः सामाजिक,

धार्मिक और वाय्यात्मिक क्षेत्र में ही था । लेकिन अन्य अपेक्षाकृत गौण क्षेत्र भी वही अस्पर्श नहीं थे । धार्मिक और वाय्यात्मिक क्षेत्रों में भी कबीर का विद्रोह ज्ञान ही अस्पर्श और उग्र था । उसका प्रभाव वाता-वीथ रूप से पूरी भारतीय व्यवस्था पर पड़ा । कबीर की वृत्त और फी वृष्टि सभी धार्मिक सम्प्रदायों और वीस्थाओं पर थी । उन्होंने सभीधर्म

बीर सम्प्रदायों की निष्पक्ष भाव से कालोचना की बीर काव्यनिक बीर
 पाथि सिद्धान्तों को फिटाने के लिए बाहुवान किया। उन्होंने बीरहित बीर
 शोषित कला को बताया कि किसी भी धार्मिक सिद्धान्त या विचार को
 बलि देने की नहीं मानना चाहिये।

एक प्रकार कबीर के विद्रोह की परिधि
 बहुत बड़ी थी। उसमें पूरा भारतीय समाज समाहित था जिसकी उन्होंने
 उन्नति और उन्मेष का कालोत्पुर्ण सम्पान कर लिया।

...

अष्टम अध्याय

- कबीर निबन्धन
- कबीर निबन्धन की विशिष्टता
- कबीर निबन्धन की सामाजिक पक्ष
- कबीर निबन्धन का धार्मिक पक्ष
- कबीर निबन्धन की राजनैतिक पक्ष
- कबीर निबन्धन का साहित्यिक पक्ष

कबीर विदर्शन

प्राचीन काल ही से मनुष्य अपनी भीतर तथा अपनी बाहर प्रताण्ड में उस मूल तत्त्व की खोज की चेष्टा करता रहा है, जो इसलोक विश्व का आधार है तथा नियन्ता है, अधिष्ठाता है। अपनी अपनी योग्यता तथा परत के अनुसार अन्वेषकों ने उसका विविध नामा प्रकार है किया है। कबीर के वाक्यात्मिक छिदान्त दर्शन-शास्त्र की कभी परिधियाँ, मान्यताओं परम्पराओं तथा सामान्य स्वरूप के मूल्य हैं, वीर कबीर के ये छिदान्त दर्शन एवं जन-प्रेतना कहे जाने की योग्यता एवं साम्यता रहते हैं।

वात्म-विचार, प्रसन्न विचार तथा वात्म साधन इन तीनों स्वरूपों के माध्यम से कबीर ने तत्त्वबान्धन तथा साधना पला की बात कह दी, वीर हम कह सकते हैं कि दर्शनशास्त्र का प्रतिपादन करता कबीर का जीवनोद्देश्य था। कबीर ने केवल दार्शनिक छिदान्तों का प्रतिपादन किया वीर ने एक महान् दार्शनिक थे। उनका मूल स्वरूप दार्शनिक है। जिसके अन्तर्गत उनके कवि, समाज सुधारक, धर्मोपदेष्टा, जन-प्रेतना आदि के स्वरूप भी सम्मिलित हैं।

कबीर दर्शन के छिदान्त भारतीय है, कहीं बाहर के नहीं। भारतीय दर्शनों की तुलना वेदाँ से प्रारम्भ होकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्, गीता, केन तथा बौद्ध दर्शन, म्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य-योग, सांकर वेदान्त तथा विशिष्टाद्वैत आदि दर्शनों के रूप में प्रति-

स्थित है। कबीर वास्तिक थे, बीर उन्होंने अर्थाधिक वास्तिक दर्शन का ही अनुकरण किया। कबीर की संपूर्ण साधना ब्रह्म, भगवान् तथा राम ही के प्रति है। भारतीय दर्शन में कुछ साधान्त्र्य धारणाएँ हैं जो सभी धार्शनिकों को मान्य हैं।

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय ज्ञान-

विज्ञान विद्वान्त को मानते हैं। उनके विद्वान्त ज्ञान के विद्वान्त पर आधारित हैं। कबीर दर्शन भी ज्ञान-विद्वान्त को स्वीकार करता है। "कबीर दर्शन" के साधना यज्ञ में ज्ञान योपनिषा के अन्तर्गत कबीर के ज्ञान-विद्वान्त का प्रतिपादन है। कबीर की उक्ति से प्रतीत होता है कि ज्ञान का विचार करना उनका जीवनोद्देश्य था।

केन बीडादि दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन वेद में वास्त्यावसी हैं। वे अब सभी विद्वान्तों का प्रतिपादन वेदाँ से प्रमाण लेकर ही करते हैं।

कबीर की वेदाँ में ब्रह्म तथा वास्त्या बी^२।
कबीर दर्शन के कुछ विद्वान्त वेदादि तथा उपनिषद्, गीता आदि की श्रुतता के अनुस्यू ही हैं।

एकाध दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन

१- बी में ज्ञान विचार न पाया।

बी में बी ही ज्ञान गीतावा ॥ कबीर प्रन्धावली पृ० १६७

२- वेद कीव कही बड़ी झूठा ॥

- कबीर प्रन्धावली पृ० १७७

जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं। कबीर दर्शन में कबीर ने जगत् की वास्तविक सत्ता को जगत् व्यवहार तथा कर्मे पुनर्नि के हेतु माना है। मनुष्य जन्म को उन्होंने उस दशा में उत्तम कहा है। जब उससे बीबनीदृश्य की पूर्ति की जा सके, जसा राम या बपी सत्य स्वरूप को जाना जा सके । राम या बपी सत्य स्वरूप को जाना जा सके जस्यथा वह मिया ही है। इसी प्रकार वह मनुष्य जगत् को जगत् व्यवहार ही के हेतु सत्य मानते हैं।

भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। आत्म-तत्त्व ही सत्य तत्त्व है, यह सभी का सिद्धान्त है। कबीर दर्शन में भी आत्म तत्त्व की सत्ता स्वीकार की गयी है। कबीर कहते हैं कि सत्य विश्व में हमारा विस्तार है, हम ही व्याप्त हैं, केवल हम ही सत्ता प्राप्त हैं।

सभी दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त को स्वीकार किया है जो देखा करता है, उसे देखा ही फल भीगना पड़ता है तथा कर्मफल भीगने के लिए ही बीज को जन्म लेना पड़ता है। कबीर कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, जो देखा कर्म करना देखा ही फल भीगना है इसके समस्त हैं।

भारतीय दर्शन पुनर्जन्म को मानते हैं। कर्मा-

१- मनिषा जन्म --- जन्म मीठाया ।

कबीर प्रियावली पृ० २३३

२- कवन पुनर्नि की----- विस्तार मनुषा ॥ कबीर प्रियावली पृ० २२५

३- हम हम मरिहि ----- जाय ललावा ॥ कबीर प्रियावली पृ० २०९

४- जो बस करिहै----- राम निवाह ॥ कबीर प्रियावली पृ० १५६

नुसार बीज को जन्म लेना ही पड़ता है। कबीर पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पक्ष में है। उनका विश्वास है कि इस जन्म में जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी होता है, और जो नष्ट होता है, वह पुनः उत्पन्न भी होता है।

भारतीय दर्शन ने जीवन का चरम सत्य सुचित को माना है। सभी दार्शनिक पीढ़ा प्राप्ति को जीवनोद्देश्य बताते हैं। कबीर के अनुसार देव भावना का नाश करना सुचित है, और यही है जीवन का उद्देश्य^२

भारतीय दर्शन नैतिक संयम को प्राथमिकता देते हैं। उनका विश्वास है कि बिना नैतिक संयम के जीवन में सफलता मिल ही नहीं सकती। कबीर दर्शन सफल जीवन के लिए नैतिक संयम को अनिवार्य रूप से प्राप्त करने का उपाय देता है।

भारतीय दर्शन व्यावहारिकता को प्रोत्साहन देते हैं। कबीर दर्शन तो व्यावहारिकता पर ही आधारित है। कबीर दर्शन के अनुसार कबीर ने अपने सिद्धान्तों में व्यावहारिकता को प्रविष्ट नहीं होने दिया, वे तो उन्हीं सिद्धान्त तथा उन्हीं बात को अपनाने के पक्ष में हैं। जिसका जीवन में अनुभव किया जा सके तथा व्यवहार किया जा सके। उन्हीं बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने सभी भिन्न-भिन्न धार्मिकों के स्थान पर अस्त-सामना प्रतिष्ठित की। वह किसी की कही हुई बात को अंगीकार नहीं करते, अनुभव सिद्धान्त ही उन्हें मान्य है।

१- जो उपज्जा हो----- पोषित मरुत साग ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० १११

२- मुक्ति हो मे बापा----- मरमि मुक्ताने ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० २३३

३- बीजा बानि----- बहै रे ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० १६३-२१४

४- कन मय का ----- हो रानी है ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० २१५

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कबीर वर्तन भारतीय दर्शनों के मूल्य है। भारतीय दर्शनों की सभी प्रमुख धारणाएँ कबीर वर्तन में पायी जाती हैं। कबीर वर्तन प्रत्येक दृष्टि से भारतीय दर्शन मूल्य का उत्कृष्टतम नमूना है।

कबीर वर्तन जीवनीयानी, व्यावहारिक तथा लोदृश्य है। जीवन में स्वतन्त्र की स्वाप्ता कबीर वर्तन का मुख्य उद्देश्य है।

सकल विश्व के कार्यों में भेद बुद्धि जीवन की जाती है। जीवन हमारे सम्पूर्ण जीवन की धर होता है और सब जीवन के कारण ही हम सभी स्वतन्त्र की भूल कर परस्पर सकल तथा कानूनी दृष्टि में उत्पन्न पड़ते हैं। इन पारस्परिक विरोधों के कारण ही हममें अभिमान, मान, मोह, माया आदि विचारों का जन्म ही जाता है, और वे विकार द्वेष, घृणा, राग, काम तथा क्रोध आदि के द्वारा हममें भाँति भाँति के निकृष्ट कर्म कराते हैं। हमारा जीवन भय, निराशा, दुःख, व्याधि आदि से परि-
च्छिन्न ही जाता है। सभी स्वाग्नि में हम जलते रहते हैं। कराहते रहते हैं, और हमारा यह जीवन एक सुन-सुनान्तर एक ही ही चलता रहता है। जिस प्रकार वन में बाँधों की परस्पर रज्जु से अग्नि उत्पन्न होकर उन बाँधों को जलाती है, एवं स्वयं भी जलने लगती है एवं बाँध पास के वन की भस्म कर देती है। सभी प्रकार हमारा भ्रम, वैश्व, ज्ञान, भ्रम ज्ञान, ज्ञाना अभिमान हममें से ही उत्पन्न होता है। हममें जीवन तथा भेद बुद्धि उत्पन्न कर जीवनिता

१- बंदा कानि ----- दहे रे ॥

- कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १६३

का डंगार कर देती है। जिसकी जगहा में हम क्या खोजता करते हैं।

इन सम्पूर्ण समस्याओं का हल है नीकल में
सत्य की स्थापना और कबीर दर्शन का मूल मन्त्र भी यही है।

कबीर- निदर्शन की विशिष्टता

कबीर की दृष्टि में जगत् का मूल सत्य ही
सत्य है। कर्मसम अस्तित्व है। कर्म तथा चरम सत्य है। उल्लेखित सम्पूर्ण
विश्व का नाम स्थापक केतु ही नहीं है। यह नीलाकाश, विस्तृत जल-
राशि, ये तारे, चन्द्रमा और सूर्य, जगत् के सभी कृतकपूर्ण कार्य- कलाप के
दिताई हैं। वे ही नहीं हैं, बल्कि यही कर्मसम सत्य की जगम जगिहार
है। उनमें व्याप्त है, और उसी के प्रकाश से ये जगम अस्तित्व रहती हैं।

तत्त्वबोधन के उपरान्त कबीर ने स्पष्ट
तर्कों में कहा- " मुनि तो इस सम्पूर्ण विश्व में केवल हरि के, केवल सत्य-
सत्य के अतिरिक्त सत्यबोधन कर्म कृत दिताई ही नहीं करता । वह इस प्रकार
अभिव्यक्त हो रहा है कि कर्म कृत है ही नहीं, हममें यही प्रकाशित हो रहा
है, कि उस वैशा परमार्थ सत्य दुष्ट है ही नहीं । "

कबीर के सत्य विश्व की नामात्म पुर्तियाँ
में सत्यपूर्ण अंतःसत्य के परिधाय्य होने की बात कही । उन्होंने क-

१- कही भैया ----- कबीर नाहीं ।।

- कबीर ग्रंथावली पृ० १३३

२- दुष्ट दुष्ट ----- कस्तु न जाई ।।

कबीर ग्रंथावली पृ० १३३

साधारण की तरह माना के माध्यम से मूल तत्त्व की सीधे जानकारी विश्व के बीच बिखाने का प्रयास किया ।

नीह माया तथा प्रेमस्वी चरम के रहस्य हुए उलका स्वरूप नहीं देता वा करता, उसकी अनुभूति के लिए ज्ञान और योग के, प्रेम तथा भक्ति और निष्काम कर्म योग के सीधे साक्षात् अनुभूति चरम धारण करता होना । नीह माया के जिन चरम से संसार के सभी कर्म बर्ण रहित होते हुए भी जिन ही बिखारें फैले हैं। उनके बाह्यकर्मण से बचने के लिए नीह माया का निराकरण साधना द्वारा करे उस सत्य तत्त्व की देता वा करता है। वह मूल तत्त्व हमारे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह विश्व हमारा ही स्वरूप है। कबीर के शब्दों में- " हम सबमें व्याप्त हैं और सब हममें परि-
व्याप्त हैं। हमकी जोड़कर दुधरा यहाँ कुछ है ही नहीं, सभी लोकों और बिखावों में हमारा ही विस्तार है। जीवन और मृत्यु हमारी श्रुतिमात्र है। वः बर्ण हमारा ही रहस्य माते हैं, हम ही वस्तु हैं, निस्सीम हैं, बिकारी हैं, निर्गुण तथा अद्वैत हैं। अनेक नामधारीकम ही हैं तथा हम ही साधक हैं और हम ही हैं, साध्य भी ।

यहाँ कबीर ने मनुष्य की सन्निध उपस्थित , सामर्थ्यवान बनाकर अपना उत्थान स्वयं करने का उद्देश्य किया है।

स्वयं के सभी दुःखों का अन्त हमें स्वयं ही करना है, उनका उद्देश्य है। धम्मपद में उल्लेख है-हम ही हम अपने स्वामी हैं और अपने बाल्वा के बिना हमें तात्पेनाला दुधरा कोई नहीं है। बिना प्रकार व्यापारी उत्थान मोड़ का उद्देश्य करता है, उसी प्रकार हमें अपना उद्देश्य बाप

१- हम सब पाँहि----- बाप तसावा ।।

- कबीर प्रभावती पृ० २०१

ही भली भाँति करना चाहिए^१।

सुनिश्चित कीर कृपुण्ड्रि के साथ कबीर ने यह कहा
कीर वात्स्य वत्स्य के सम्बन्ध को बताते हुए यही छिद किया कि इन प्राणियों
में तथा विश्व के मूल में एक ही वात्स्य वत्स्य व्याप्त है। वह वत्स्य हम ही हैं,
कीर मुक्तः हम सब एक हैं, कीर कहते हैं।

जब सब हमारी हैं, फिर यह मानना, यह
विरोध यह घुणा क्यों। कीर कीर किसी नये देश करें। इस भाव से सभी
नामास्त्र की समाप्ति ही जाती है कीर दुःख के कहर की भी समाप्ति ही
जाती है। छिट्ठी के कोर कहीं का हम भिन्न भिन्न होता है। परन्तु वे सब
एक ही छिट्ठी के कोर हैं, टूट जाने पर छिट्ठी ही जाती है, कीर सभी
प्रकार स्वर्ण के गहने कल कल नाकार तथा नाम होने तक ही विभिन्न है,
टूट जाने पर एक स्वर्ण के रूप में ही रह जाती है। सभी भाँति विश्व के सभी
रूपों में एकत्व है, कीर उही एकत्व का ही कह बगत् रेत है। सबमें एक वात्स्या
व्याप्त है, इका कां है वात्स्य प्रतीति। वात्स्य प्रतीति का अर्थ है- सब
प्राणियों में प्रीति। बिछड़े मिलन ही, बिछड़े एकत्व की छिद ही, यही
सत्य है। वात्स्य वात्स्या ही सत्य है।

प्रेम एकत्व स्थापित करता है, प्रेम परस्पर
मिलता है। प्रेम वाक्केत्य की एकत्व में परिध्या है। प्रेम सत्य है, कीर प्रेम ही
वात्स्य वत्स्य कल्याण सत्य हमारा स्वयं है। नयनीत व्यक्तित्व कभी नखिमान्
एवं वादस्मान् नहीं ही करता। यहाँ प्रेम है, वेद दुःख है, कोकत्व है यहाँ
माया है। कीर यहाँ परस्पर के लगे हैं, पाछाट, छुट, १- १ है। कीर यहाँ

१- अतस्ति तपनी---- न बादी की ॥ धम्मपत् ३०

२- कबीर प्रभावली पृ० १५१

भय है, निराशा है, दुःख है और बन्धन । प्रेम कभी डर से नहीं होती, प्रेम की भित्ति है स्वाधीनता । मुक्त स्वभाव होने पर ही प्रेम होता है।

हमारा अपना स्वरूप अपना स्वभाव नित्य, मुक्त, सुद-सुद, बान्धव ही तो है। बान्धव प्रेम का परिणाम है। कतल्व प्रेम ही बान्धव है, और बान्धव्य से प्रेम है, हम प्रेममय हैं। अपनी सभी स्वरूप और स्वभाव को पहचानकर क्यों न हम प्रेम करें, भय छोड़कर क्यों न शिस्तही हो जायें। हम निराशा से कतल्व क्यों नहीं रहें। हम सक्त और सक्त हैं। तु और मैं सब वैतभाव ने ही हमारा अपना स्वभाव मुक्त स्वभाव अपना प्रेममय स्वभाव दिया रहा है। कबीर ने सभी प्राणियों में अपना ही स्वरूप देता, सब प्राणियों से प्रेम के साथ व्यवहार करना उनका उद्देश्य बन गया। यह प्रेम का तेल कोई घृत काम नहीं है। लक्ष्मी लिए फले अपना सर्वस्व हीम कर देना होता है, अपना सीत काटकर झेली पर रताकर ही प्रेम के घर में प्रविष्ट होना फलता है। कबीर ने सब प्रेम-प्रीति के तेल का रहस्य भी बता दिया, हमारा मन कदा बँधता है। यही सब उपकारों की कद है। स्वयं भी किराहों का बन्धन है। यह देखा चलता है देखा ही शरीर भी चलता है यही हमारा भिन्न है, और यही है हमारा बीर शत्रु।

मनीषीन दात मभारण कत्यावश्यक है।

कतल्व कबीर ने किराहों के मुक्ति का मन की बाधों और अपनी वल में करने के लिए साधना पला का प्रतिपादन किया। ज्ञान के द्वारा मन तथा बुद्धि को ज्ञात कर देने की शिक्षा दी। योग द्वारा शरीर की सक्तता जानने और मन की परितुष्ट करने केन्द्रीभूत करने का उपाय बताया। कबीर ने मन-बन्धन

१- यह तो घर है---- धी घर पाँहि ॥ कबीर प्रियावली पृ० ६६

२- कैसी लहर----- मन बाँधे हीर ॥ कबीर प्रियावली पृ० १५१

३- जाने बाधा ----- ज्ञान न हीर ॥ कबीर प्रियावली पृ० १५२

४- प्रेम जानि ----- ल्याँ लाने ॥ कबीर प्रियावली पृ० १०६

को एक झुठ में बाँध कर एकत्व का रूप दिया । भारतीय साधना पत्ता में ज्ञान, योग भक्ति तथा कर्म मार्ग की चारों चारों कल कल प्रवाहित होती बली जा रही थी । कबीर ने चारों को एक घुँघरे का सहाक नीर पुरुष बताकर जीवन की सफलता के हेतु चारों मार्गों का स्वीकृत रूप प्रत्येक साधक के लिए बँधीकार करना अनिवार्य बताकर साधना पत्ता में एक नीलिक देन दी । सब में अपना स्वल्प ही देना सुचित है। क्लेश होता है। मन के विकारों में, बाधित ही बन्धन है। सब मन निरासक्त, निर्बिजयी, निस्वीन ही जाता है, फिर बन्धन का उन्नीव ही जाता है, फिर तो मुक्त ही मुक्त बता है । मुक्त स्वभाव स्वाधीन स्वभाव ही प्रेममय है, आनन्दमय है, तथा कल्याणमय है। सब बता में दुःख का जन्म ही जाता है। और फिर मुक्त व सति की उपलब्धि ही जाती है। साधक को । कबीर दर्शन की साधना का रहस्य भी कूठा है।

उद्देश्यपूर्ण जीवन ही जीवन है। निरुद्देश्य जीवन, मोह माया से लिप्त जीवन तो मृत्यु है, पाप है, भ्रम है। जीवनी-देश्य की पूर्ति परमानन्द की स्थिति है, सुखावस्था है और है अमरत्व, महानात्माओं का जीवन परितः साधन में ही लगता है और उनके शरीरान्त होने पर पुनः पुनः पुनः पुनः उनके माहात्म्य का गुण गान होता रहता है। वह अमर ही तो ही जाते हैं उनकी प्रेरणार्थ सदा सर्वदा घुँघरी की उत्पत्ति करती रहती है, यही अमर जीवन है और यही है, मृत्यु पर विजय, यही है सुचित । कबीर दर्शन के सिद्धान्त स्वानुभूति की कधीटी पर कसे गये तथा ली और लोक कल्याणकारी छिद होने पर ही प्रतिपादित किये गए हैं । वह हः दर्शन और सभी पातण्डों की तिल्ली उठाते थे । उन्हींने न तो

हिन्दुओं की ही बीबी बात ग्रहण की और न मुसलमानों की ही^१।
 कृपा ही नहीं, गुरु की गोविन्द समान मानने पर भी कबीर ने उनकी
 ककड़ों के बपनों की भी अपनी अनुभूति की कलौटी पर ककर ही ग्रहण
 किया है।^२

अनुभूति की कलौटी पर कहे गये अनुभूत तथ्य
 तो और उदात्त ही होते हैं। वह सत्य तथा लोकोपयोगी होते हैं।

रत्ने मरान् पारली, सिद्धस्त साधक,
 ज्ञानी भक्त कबीर का दर्शन सभी अमूल्य सिद्धान्त रत्नों से परिपूर्ण हैं।
 कबीर दर्शन अनुभूतिपरक है और क्योंकि वह जीवनीकरीमी, व्यवहार सुन्म
 तथा लोक कल्याणकारी है। कबीर दर्शन व्यक्तिगत साधना और समष्टिगत
 साधना, दोनों पक्षों का समान भाव से प्रतिपादन करता है। व्यक्ति
 समाज की झार है। व्यक्ति का गुण दोष समाज का गुणदोष होता
 है व्यक्ति पतन के गहरे में गया तो समाज की गहरे में जाने से बचना कठिन
 है, अतएव व्यक्ति के उत्थान के लिए कबीर ने अपने दर्शन में पूरी पूरी व्य-
 वस्था की है।

नैतिक संयम द्वारा संयत व्यक्तित्व समाज
 के उत्थान के लिए कार्य करे, कबीर ने इसका निर्वृत किया। हम जैसे
 सुधर गये तो इसके अधिक लाभ नहीं होगा। अन्य की भी सम्मान पर न
 बली यही उत्तम है। कबीर ने सभी तो कहा -

“ सुनि तो भगवान् ने ही काजा दी

१- हिन्दु मुये ----- कहे न जाइ ॥ कबीर प्रभावली पृ० ५४

२- आनुर तत्ता कइयो ----- लीये विस्तार ॥ कबीर प्रभावली पृ० २१६

कि मैं दूसरों को भी सत्य तथ्य बताऊँ मैं तो कहकर बस गया कि सब एक ही है, कोई अब मुझे दीख नहीं दे सकता । कबीर ने जीवन पर्यन्त समष्टिगत साधना का प्रयत्न किया, कबीर की साधना का लक्ष्य है दैत भाव का नाश करना । समाज में यही भेद-भावना सब उत्पात सृष्टि का बीज है। कोई धन के लोभ में दूर, दूसरे की दीन-हीन समझकर व्यर्थ-व्यवहार करता है, कोई शिकार बना हुआ, रात दिन शिंका करता है, कोई अपने को जेब कहकर दूसरे की दीन कहता है और उसके साथ दुष्टता का व्यवहार करता है। यही नानात्व है जो समाज की दुःख की ज्वाला में जलाया करता है। कबीर का कथन है कि अब हम एक ही वायु, एक ही जल, एक ही भूकण्डार के द्वारा निर्मित हैं तो हम भाई भाई हैं, मुक्तः हम एक ही हैं, बंध नहीं । यह दैत व्यर्थ है, हम सब एक हैं । कबीर ने समाज के वार्त्तिक असमानता, सामाजिक असमानता, राजनैतिक असमानता, धार्मिक असमानता आदि सभी असमानताओं को बहुत ज़ोर से फिटाने का प्रयत्न किया और दूसरों को भी लोक कल्याण करने की प्रेरणा दी ।

इस प्रकार उनकी साधना पद्धति में व्यक्ति तथा समष्टि साधना का समावेश है, उनकी साधना दोनों के लिए ही उपयोगी है। कबीर ने कबीर दर्शन के माध्यम से विश्व की कई कमल्य सिद्धांत दी हैं । उनका विवरण निम्न प्रकार है :

१- इस विश्व के ज्ञान में सत्ता अवश्य है। उस सत्ता का कोई एक रूप, एक नाम, एक स्वभाव बताया नहीं जा सकता । वह पारी इन्द्रियों तथा बुद्धि की पहुँच के परे है। तर्क-वितर्क

१- मोहि वाग्या ----- दीख न लाइ ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २६६

२- हम तुम्ह ----- भये किनारा ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २४४

के भ्रमों में न पड़कर, स्वानुभूति और सत्य दृष्टि के द्वारा उसे विश्व के कण कण में अनुभव किया जा सकता है। तभी प्राणियों तथा सत्त विश्व में उसे व्याप्त समझ कर, उसके प्रति भक्त, वात्सल्य और प्रेम भाव रखी, उसकी कृति सत्त विश्व के प्राणियों के प्रति प्रेम सहानुभूति और सद्व्यवहार करी। यही उसकी सच्ची भक्ति है।

२- मूल सत्त्व हमारा बीजात्मा और प्रकृति के विविध नाम रूप, गुणतः एक ही हैं। तार्किक दृष्टि से उनमें कोई भेद क्या अन्तर नहीं है। जो भेद हमें दिखाई पड़ता है वह हमारे भ्रम, अज्ञान, संशय क्या अविद्या ही के कारण है। जैसे अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझकर डिया जाता है। प्रकाश होते ही रस्सी, उसी भाँति अज्ञान से विभेद है और ज्ञान से अन्त की सिद्धि होती है।

३- अज्ञान, अविद्या, संशय, भ्रम, भेद-बुद्धि सब माया है। माया का बाहु किसी की नहीं कीड़ता। माया ने ही सब दुःखों का पात माणी के लिए फैला रखा है। साधना से माया का निराकरण हो जाता है।

४- साधना के लिए योग्यतम तथा अनुभवी सद्गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु के कर्णों पर विश्वास करना चाहिए। गुरु सेवा साधुवन सेवा निष्काम भाव से सेवा और साधना करनी चाहिए।

५- कौरे पीछी ज्ञान से काम नहीं चलता, सुनी सुनाई बातों पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। अपने विवेक

से काम लेना चाहिए। अपनी क्रुध को कधीटी पर हर बात को कहना चाहिए, परसना चाहिए और ठीक होने पर ही निष्काम भाव से बिके। यदि से जो सत्य और उचित समझ पड़े उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए।

६- कठोर साधना और बाह्योपकार, आठम्बरपूर्ण साधना एवं पातक्य की संपूर्ण कृतीतियों से दूर रहना चाहिए। बाह्यम्बर एवं पातक्य अमपूर्ण एवं निस्सार व्यर्थ होते हैं। सहभाव की उपलब्धि करने चाहिए। उससे ही लोक कल्याण के कार्य में लग सकेंगे।

७- मन अत्यन्त चंचल है, हमारे सभी दुःख संताप का यही कारण है। काम, क्रोध, मोह, माया सब मन के भेल हैं। इसलिए मन पर नियम रखो।

८- संसार गृह आदि की नहीं छोड़ना चाहिए। संसार से मुक्त मोड़ना कठिन है। संसार में रहकर ही निर्लेप भाव से सभी कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

९- सार्वत्रिक धर्म के महत्व की सम्झकर ईमानदारी के साथ ही तोड़ कर परिष्कृत करो, दुष्टों की भेद्यता पर नहीं रहना चाहिए। स्वावलम्बी जीवन ही सुख होता है। आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं का उपभोग करना चाहिए। दुष्टों की आवश्यकता का भी ध्यान रहना चाहिए। स्वार्थी, साहसी, कष्टी तथा धीमेभाव बनना अनुचित है। धर्म है।

१०- अपनी ही उपभोग के हेतु संकलित धन पाप है। विनाशकारी है। धन सम्पदा मल व्यर्थ है। ऐश्वर्य का जीवन व्यर्थ

है। कृपाकारी, व्यभिकारी जीवन का त्याग करना चाहिए हावा जीवन बिताना चाहिए।

११- साम्प्रदायिकता, जाति पंथि के भेद, धनवान् तथा धनहीन के भेद, कत मतान्तर के भेद तथा अन्य प्रकार के सभी भेद जिससे एक प्राणी दूसरे प्राणी के बीच द्वेष भावना घूणा और ईर्ष्या उत्पन्न होती है। क्लृप्त हैं, दुःस्वायु हैं तथा विनाशकारी हैं।

१२- जिससे सबका हित हो, मानव्य और प्रेम का विस्तार हो वही सबका धर्म है सभी धर्म समान हैं। अतएव धर्मों उत्तम शिक्षाओं की हमें ग्रहण करना चाहिए। उद् शिक्षाओं की सभी जीवन में डालना चाहिए। उत्तम बातों का जन-साधारण के लिए प्रचार करना चाहिए।

१३- सब प्राणिमात्र हमारे ही स्वरूप हैं। जो आत्मा हममें है वही दूसरों में भी है। अतएव सब भाई भाई हैं, सभी को एक दुसरे के लिए निष्काम भाव से कार्य करना चाहिए। निष्काम एवं निष्कल भाव से किये गए कर्म का फल भी उत्तम होता है।

१४- हम सब मानव हैं, नर नारायण हैं। हमारा सबका स्वभाव नित्य, शुद्ध शुद्ध, शुभत और मानवमय है, सभी स्वरूपों परमानन्द ही अनुमान है। निर्द्वेष, निर्द्वेष एवं निराशयत, निर्द्वेष निस्संशय होकर अणु में व्यवहार करना ही सुचित की वला है।

१५- उपर्युक्त संक्षिप्त तत्त्व सार कबीर निदर्शन का एक संकेत है जिसे कलिकार करके धर्मधामों बनना परम कर्तव्य है।

कबीर निदर्शन सख्य मानव दर्शन है। कबीर दर्शन का आरम्भ होता है गुरुत्व से गुरु तथा गुरु से कठिन से कठिन से बरता। सरलता कबीर दर्शन की वात्सा है। साधना का वस्तुस्थित स्वरूप सख्य स्वरूप ही है यही सख्य साधना सभी प्राणियों का कल्याण करने में सख्य है।

कबीर निदर्शन में वाध्यात्मिक सिद्धान्त मात्र नहीं हैं, उसी जीवन के अन्य आवश्यक सिद्धान्तों का भी समावेश है, दर्शनशास्त्र की कबीर ने केवल फुटी पर विद्वानों की बातों को दिया वरन् जन-जीवन की सभी परमावश्यक समस्याओं से भी परिपूर्ण सामान्य मानवता की भूमि पर लाकर रखा किया है। इसी से कबीर दर्शन में हमें समाज, धार्मिक जनतु क्या राजनैतिक जनतु क्या आर्थिक जनतु और क्या नैतिक जनतु सभी का विवेचन मिलता है। सभी को कबीर दर्शन सर्वांगीण परिपूर्ण कृति है।

कबीर निदर्शन और सामाजिक पक्ष

स्व-कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान रखने वाले तथा अनुशासित होकर कार्य करने वाले व्यक्तियों के समष्टि रूप की समाज की सेवा हो जाती है। कबीर निदर्शन में समाज की कहां व्यक्ति को सर्वोच्च सदाचारणशील, निस्पृह, निस्संग तथा निर्बिर संत के रूप में कबीर ने प्रतिपादित किया है। कबीर एक विभूति थे। कबीर ने समाज के सम्मुख भावी समाज का स्वरूप प्रस्तुत किया, कबीर निदर्शन के अनुसार अनुकूल समाज भेद-विभेद वर्ग विहीन, वर्ण विहीन ही होना चाहिए। कबीर ने जन की

निस्वार्ता उद्धीर्णित की। कई कई मण्डक, वातावरण, धन की निस्वार्ता, सम्पत्ति बौद्धिक नारी से नारी राजा भी बने गए। करीबों, उर्वरों वातावरण करीबों हाथी वातावरण सब कहे हैं, व्यर्थ हैं। धन के घण्टे में भगवान् की भी भुल गया बीच के साथ कुछ भी नहीं जायगा। धनी और निर्धन मूलतः एक ही हैं, कबीर की दृष्टि में निर्धन बही है, जिसके हृदय में राम नहीं है। साम्प्रदायिकता एवं जाति पति का भेदभाव मानव समाज के लिए अभिज्ञाप होता है। हम सबका मूल एक है सबका स्वरूप एक है तो हम सब भाई भाई हैं भेदभाव को भुलकर सबको परस्पर मिल जुल कर रहना चाहिए। परस्पर कल्याणकारी सद्व्यवहार करना चाहिए।

भेद विवेक बाह्यीकार, बाह्यपर और पातक्य के कारण भी समाज में विग्रह कर कर लेता है। बाह्यमूर्तपूर्ण जीवन के पीछे छुट, पवित्र जीवन तुल्य हो जाता है। उन्होंने भस्म लेपन स्नान, व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा, वष तप काया कष्ट का विरोध किया। मुस्लिम धर्म में रोबा, नमाज, हुतपरस्ती तथा अन्य प्रकार के बाह्यमूर्तपूर्ण का विरोध करते सभी धर्म को कीर्तन करने की शिक्षा दी।

कबीर निवर्तन का धार्मिक पक्ष

धर्म का साधारण स्वरूप देखावट और व्यक्त की सीमाओं से परे रहता है जबकि धर्म का विशिष्ट स्वरूप देव कात और व्यक्त की सीमा के भीतर रहता है यों भी कहा जा सकता

१- कबीर प्रभावली पृ० १२०

२- .. १२०

३- .. १२०

४- .. १०२

५- .. १०६

है कि धर्म के संकृषित व्यक्तियों के अन्तर्गत, अन्ध विश्वास धार्मिक भावना, उपासना विधि, साधना पद्धतियाँ होती हैं। धर्म के साधारण स्वभाव के अन्तर्गत वे नैतिक संयम होते हैं, जिनका समावेश सर्वकालीन, सर्वदेशीय तथा सार्वभौमिक और सार्वप्राणिक होता है। कबीर ने ऐसे बाह्योपकार तथा आहम्बरूपी धर्म के विरुद्ध प्रवृत्त किये हैं। कोई वेद पढ़ता है, तो कोई उपासना शुरू करता है। कोई नैमा करता है। कोई योग साधना में लिप्त तरीर की काँटा खा हुआ हुआ है पर दुःख है कि राम की मूर्ति में इतना तस्तीन नहीं रह पाता है। कबीर ने इस आहम्बरूपी धर्म की तस्वीर की देखा सब और वही आहम्बर पातण्ड, अन्ध विश्वास, पाशाण ज्ञान, आदि काप्रानस्य वा, क्या हिन्दू क्या मुसलमान और क्या अन्य सब वही जैवाल में उत्पन्न हुए फलनाले ही रहे थे, परस्पर झगड़ता कर रहे थे। धर्म के इस संकृषित रूप की कबीर ने भर्त्सना की और सत्य धर्म की सिखा दी। कबीर ने समाचारण तथा इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा नैतिक संयम करने का उपदेश दिया उनके अनुसार सच्चा धर्म वही है वह कहते हैं-

“ जो मन से मुक्त करे उठे बल में करता है और मृत्यु पर विजय पाता है वही मुस्ता है जो रात-दिन ब्रह्म की शक्ति में अपनी काया की लीधता है वही काजो है। ”

कबीर की धर्म के बाह्यात्मक रूप से धृष्टता थी, धर्म का नैतिक और मानसिक रूप ही कबीर की पसन्द था। विश्व के सभी धर्मों में जितने नैतिक आचरण हैं, कबीर ने उन सबको अपनी सहायधर्म में स्थान दिया। यह सहाय धर्म मानव धर्म है और यह परहित साधन की

जाधार सिद्धा पर रूढ़ किया गया है। इस धर्म की विशेषता है नैतिक संयम। कबीर ने नैतिक आचरणों के परित्याग और नैतिक संयम के पावन पर जोर दिया है।

जीवन के सभी कर्मों में समरसता का भाव ही सर्व धर्मों का प्रसूत कर्म है। कबीर के अनुसार सर्व धर्मों के साधकों को सम-दर्शिता के भाव से परिपूर्ण होना चाहिए। उसे निन्दा, स्तुति, मान, अपमान समस्त समान भाव से व्यवहार करना चाहिए। वह दुःख सुख में मन को बृद्ध रखे, दम्भियों की वृत्तियों को केन्द्रित करे, द्वेषभाव का परित्याग करे उसे शोक उत्साह दूरे नहीं होता वह भगवान् परम की बातें है।

विष्णुता, अस्मानताही जीवन के लिए दुःस्वायी है और इसी से कबीर ने सभी सर्व धर्म-साधना में समरसता की प्रसूतता दी। सर्व धर्मों की साधना भी सर्व ही है। सभी विद्वष्ट साधनाओं का वहाँ तीव्र हो जाता है। इसमें नैतिक संयम की प्रसूतता है। मनीष्य और भक्ति का उच्च स्थान है, नावात्मकता की उसमें श्रुति है।

कबीर दर्शन मध्यम का यह स्वरूप निरूपित गया है। यह सर्व मानव कर्म सभी प्राणियों का कल्याण करने वाला है।

कबीर के धर्म का स्वरूप पहचानने के लिए प्रविष्ट धर्म परिभाषा के अनुसार है :

... है वाक्य। उसी ने सभी धर्मों को जाना कि जो कर्म है मन से और वाणी से ब्रह्मा दत्त करने में लगा हुआ है और जो सभी का नित्य सौख्य है :

“ सर्वार्था यः सुहृत्सर्वं सर्वार्था न हिरे रतः ।

कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद वाक्सी ॥

(प० भा० ता० पृ० २६१ श्लोक ६)

कबीर निवर्त्तन कीर राजसत्तात्मक पदा

सर्वव्यति सम्पन्न लोग एकत्र होकर कुछ विधि विधानों के सहारे सभी प्रकार की सक्ति का संभालन अपनी बाधनी कर लेते हैं। ऐसे लोगों का समुह ही राजसत्ता कहलाता है। वह कद्दी से बहुसंख्य समाज प्रजा बनकर उन फुट्ठीभर लोगों के भार को ढोता रहता है। समाज में दो पंक्तियाँ बन जाती हैं, एक पंक्ति सत्ताधारियों की है, जिनमें शासन का मुखधार राजा, उसके मंत्रीमण , कार्यधिकारी , सेना, उनके अधिनायक आदि तथा दूसरी पंक्ति होती है समाज की ।

कबीर ने स्वैच्छाकारी जीवन की मूर्ति बना की है। सेवा की एकत्रित कर्त्तव्य कीर नद की धार लिया, मुद का काँचल दिखाया । समस्त सेवा छूट गयी कीर, उसके बाधपण से नद छूट गया । बादशाह अपना लेल लेलकर चल दिया । क्या बादशाह का यही काम है ? क्या उसका यही कर्त्तव्य है ? कदापि नहीं - यदि राजा के पास करोड़ों की संख्या में तत्त्व कीर हाथी हैं तो क्या हुआ । यदि बहुत सम्पत्ति अपनी हीउपभोग के लिए है तो व्यर्थ है, वह कर्म का धन है।

१- कीरत कटक ----- बरुयी लकैला ॥ ५० ग्री० पृ० १६६

२- कीटि धन ----- कीर्त काजा ॥ .. पृ० १२०

यह महल, दुपहरी, ये पन्धिर बिना
 धनोत्त होता था तासी फेंकें हैं उनफेकन करते हैं।

कबीर ने सभी राबाओं, कपीरों के
 विलासी बोलन को धिक्कारा वीर कहा कि राबा, पहरा राबा, झपटि
 सबको सावधान हो जाना चाहिए । जब काल सबको फंद कर ले जायगा,
 तब यह विलासी बोलन, यह वैभवतासी महल सब यहाँ फेंकें रह जायेंगे ।

कबीर की उन उक्तिर्वा का तर्प यही
 था कि वह सत्ताधारी लोगों से समाज के अन्य लोगों के प्रति सद्भावना-
 पूर्ण व्यवहार करने की बात कहते थे । राबा अपने कोच से प्रजा का पालन
 को सम्यक् उल्टा धन कंठस के धन के समान व्यय है। केवल युद्ध करते हुए
 को परास्त कर बरबाद करता ही राबा का कर्तव्य नहीं है। प्रजा का सब
 प्रकार से पालन पोषण करना भी उसका कर्तव्य है।

धन पाप की फंद है। सम्पदा, महल,
 बेटा-लियारे सब यहाँ तो फंदें रह जायेंगी फिर इनका हना घमण्ड
 ही क्यों किया जाय । जब इन सबके विहीन होना ही है, तो क्यों न
 इनको समाज के कल्याणकारी कार्यों में लगाया जाय, सच्चा धन है, मानव-
 सेवा, परहित साधना ।

कबीर हरि भक्त के माज्जम से मानव
 सेवा की प्रोत्साहन देते हैं उनका निश्चित मत था कि राबा वीर प्रजा

१- सार्ती सबद ----- सांगे कागि ।। कबीर ग्रंथावली पृ० २०

२- राबा तरण ----- फंदें विहीन ।। .. पृ० ६

३- कबीरग्रंथावली पृ० २६४

का भेद भाव अशुद्ध है। उन्होंने यही कहा - हम सबके मूल में एक बौद्धि^१ है, राजा ही जन्मा प्रजा सबका एक ही उद्देश्य है। जब सब एक हैं तो राजा प्रजा का भेद भाव क्यों किया जाय सबको अपनी अपनी कर्तव्य को पूरा करना चाहिए ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे सबका हित हो सके ।

एक इतिहासकार ने लिखा है " सामाजिक शीघ्रता बनाकर और कन्याय के विरुद्ध संघर्ष में जाय भी कबीर का काव्य एक तीला वस्त्र है। कबीर से हम रुद्धिगत सामन्ती दुराचार और कन्यायो सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध छटकर खड़ना सीखते हैं और यह भी सीखते हैं कि विद्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शीघ्रता के दुर्ग के सामने अपना माथा ठोका करता है।^२

कबीर राजसत्ता को भी परहित साधन में ही लगाना कर्तव्य को पूर्ति करना मानते हैं वह शारीरिक बल से किसी को पराधीन बनाने को धर्म नहीं समझते , बल्कि प्रेम के साथ हृदय परिवर्तन द्वारा ही सदानुभूतिपूर्ण अनुभवहार करके शासन को बदलाना उचित समझते हैं । कबीर की समरसता से राजनीति भी नहीं बन सकी । संयमित , अनुशासित राजसत्ता ही तो राजसत्ता ही रहती है। उसमें विचलता को स्थान नहीं यदि विचलता है तो ऐसा राजा राजा नहीं, वह झूठ ही राज्य करता है।

कबीर निदर्शन का आर्थिक पक्ष

धन , सम्पत्ति की जन जीवन के लिए

१- कबीर ग्रंथावली पृ० २४४

२- प्रकाशचन्द्र गुप्त- हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा पृ० ६०-६१

३- कबीर ग्रंथावली पृ० २७६

महती उपयोगिता है। धन के आदान प्रदान से जीवन की सौंफिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। जीवन यापन के लिए धन अनिवार्य तत्त्व ही गया है।

मानव जीवन में जब धन- लिखा अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाती है,

तब वह हानिग्रस्त और दुःखदायी होती है। आर्थिक शक्तों को लेकर परस्पर के विचार सह ही जाते हैं, सामाजिक व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाया करती है, विनयता और सम्मानता का बोझ जाता ही जाता है।

कबोरे धन सम्पत्ता को जीवन यापन के लिए आवश्यक मानते हैं, परन्तु वह अत्यधिक संयम करने के पक्ष में नहीं हैं।

दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भली प्रकार हो ली तथा आतिथ्य उत्सव आदि कर्तव्य का पालन किया जा ली और साधु जन की सेवा की जा ली। इतना पर्याप्त धन प्रत्येक व्यक्ति के पास होना ही चाहिए। वह कहते हैं कि -

“ हे माधव ! तुम्हारे साथ बात करे

निनेगी ? तुम तो कुछ चीजें नहीं तो तो मैं ही नगि हूँ। मुझसे मुझे पेट नभित तो होगी नहीं। अतः यह अपनी माता संभालो, मुझ किसी का कुछ लेना देना नहीं। मैंकेवल यह मांगता हूँ कि मैं धनों का आदर कर लूँ ? सेवा कर लूँ। मैं केवल दी घेर बाटा चाहता हूँ और पाव भर भी चाहता हूँ, मैं बाधा घेर दास मांगता हूँ जिससे मैं दोनों समय भोजन कर लूँ। मैं आरपाह मांगता हूँ, सफिया तथा जीदने का वस्त्र, बिडाने का गदा चाहता हूँ और क्योंकि मैं कोई बालक सम्पा नहीं इसलिए ये वस्तुएं छोटी ही होंगी।

१- मुली भगति ----- तेरा मैं कबी ।।

- संत कबोर पृ० १४७- १४९

उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि कबीर परमा पोषण के निमित्त जीई ही पदार्थ उपयुक्त समझते हैं। कबीर ने प्राणक, जीवनरक्षक पदार्थों की ही माँग की है। उनके दृष्टिकोण से वारामदायक तथा विनाशिता के पदार्थों की कोई आवश्यकता मनुष्य के लिए नहीं है, क्योंकि उन पदार्थों से मनुष्य बालसी, बितासी तथा वाराम फलदायी ही जायेगा और जीवन ज्ये की प्राप्ति नहीं कर सकेगा।

कबीर धन संजय के विरुद्ध हैं धन संजय से धन सिखा की प्रीत्याह्न मिलता है। एक धनी बन जाता है। इससे दुसरा निर्धन हो जाता है। विनाशता एवं असमानता उत्पन्न होती है। जीवन में समरूपता की रहे यही अत्युत्तम है।

कबीर कहते हैं कि ऐसा धन संजय करो जो मविष्य में काम वा ली जब काम वा जाता है तब यह यहाँ फटा रह जाता है कोई भी धन की अधिकार नहीं ले जाता है, मरने पर तो लाली हाथ हो जाना पड़ता है। अतः जो धन साध वा ली वही संजय करो।

साध जाने वाला धर्म शुभ कर्म ही होती है। धन संजय के लिए धन सिखा प्रेरक भाव है। अतएव कबीर ने संतोष के साथ जीवन यापन की शिक्षा दी है। जो मिल जाय उसी में सर्वव्य प्रति में लगना आवश्यक है। संतोष उत्पन्न करने के लिए हँसकर में विश्वास रखना आवश्यक है।

कबीर का कथन है कि संत कभी भी धन की गठरी नहीं बांधता। उसे जिसकी आवश्यकता है उसी के अनुसार पदार्थ

ग्रहण करता है। उसे अपनी दृष्टिकोण पर विश्वास होता है कि भगवान् उसकी सहायता करेंगे^१।

प्रगाढ़ धर्मीयों स्वभाव से ही कर्तव्य धर्म का भी पालन किया जा सकता है। कबीर जीरी, कष्ट, इमिटा कष्टों के जीवन को जीवन ही नहीं मानते हैं। कबीर ने परवशता को कभी कष्टा नहीं बताया तथा दूसरे के सम्मुख हाथ बझाने को तो मृत्यु के समान ही बताया^२। समाज व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को नारीतिक भ्रम करना चाहिए।

कोई न कोई धन्धा करके जीवन यापन के लिए धन कमाना ही चाहिए। धन्धा करने से जो सुख से सुख प्राप्त हो वही उत्तम है। क्योंकि बिना धन्धे के कोई उत्पत्ति हो ही नहीं सकती जो धन्धे में लगे भी कुछ नहीं करते वे भार स्वरूप हैं तथा निर्गुल ही होते हैं।

नारीतिक भ्रम से धर्मोपार्जन के साथ साथ आत्म रक्षानि भी नहीं होती। मनुष्य का चरित्र लुप्त रहता है और उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। जो नारीतिक भ्रम नहीं करते उनका मन ऊपर उधर की फालतु बातों में ही लगा रहता है। मानसिक रोगों की ओर स्वस्थता खींच चरित्र का नष्ट हो बैठती है। वह जीवनादर्शों का पालन करने में असफल रहता है।

कबीर नारीतिक व्यवस्था को हिम्य भिम्य

१- संत न बधि----- तह देख ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ५८

२- मोठा ताण----- बितावति राधा ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० ५६

करना नहीं चाहते । यदि लोगों की संख्या में बाधक बार होकर जंगल में जाते जायें तो उनका सभी नार अन्य लोगों पर पड़ना ही स्वाभाविक ही है, इसके समाज के ढाँचे में अनुसूतन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी । वस्तु समाज में सभी की आवश्यकतानुसार धन संवय करना ही चाहिए ।

वार्षिक रूप से अनुसूतन के लिए तथा सामा-
यिक जीवन सुचारु रूप से चलने के लिए आवश्यक है कि -

१- सभी प्राणियों की क्यायचित्त शारी-
रिक भय द्वारा उत्पादन बढ़ाना ।

२- अपनी आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं
का उपयोग करना चाहिए जिससे अन्य लोगों के लिए क्भाव न होने पाये
सभी की आवश्यकतानुसार वस्तुएं मिलती रहें ।

३- धन का संवय न करना क्योंकि धन की
माद कर न रहना चाहिए वस्तु बर्जित धन की बलायमान बनाये रहना उस
धन की परचित्त कार्यों में व्यय करना ।

४- किसी के धन का लालच न करना,
और न उस कष्ट से दूराने क्यवा सधियाने की कृष्ण्टा करना।

५- स्वयं के पास जो है उसी में संतोष
करना ।

६- सादा जीवन और उच्च विचारों के
साथ समाज में रहना ।

७- निर्धन एवं धनवान की दो श्रेणियों का कनका समाज के लिए हानिकारक है। अतः सभी एक से ही धन वितरण की ऐसी व्यवस्था करना ।

८- अधिक धन की पाप सम्भन्ना अधिक संचित न होने देना ।

९- सम्भाव , संतोष , निर्दोष तथा निर्विषय होकर लोक हितार्थ धनोपार्जन करना ।

इस प्रकार कबीर निवर्तन जीवन के सभी दोषों में समरसता एवंक-वैतना का प्रचार करता है। जीवन के सभी दोषों में समरसता से हम मुक्त स्वभाव प्राप्त कर सकते हैं। वहाँ हम- विषम सुख-दुःख क्षान्त हानि , जय-पराजय, उत्कृष्ट-निकृष्ट आदि की परस्पर विरोधी बौद्धियों पर समाप्त हो जाती हैं । वहाँ समरसता का पूर्ण प्रभाव होता है। वह स्थिति कर्त की स्थिति अथवा अनिश्चय स्थिति होती है। इसी स्थिति में विश्व का संपूर्ण रहस्योद्घाटन हो जाता है एवं कबीर के शब्दों में मुक्त पक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

...

उपरीकार

उपलब्धि वीर प्रत्यभिनि

उपसंहार

बाधुनिक विद्वान् कबीर के दृष्टिकोण में प्रतिलिखितता का सम्बन्ध हुनकर चर्चा करते हैं परन्तु वाच का लेख कबीर की इस प्रतिलिखितता से कदापि सम्बन्धित नहीं करना चाहता, बिल्वे माधर्ष वादि से प्रेरणा ली है और जो प्रतिलिखितता के नाम पर खड़े बैठ गया है। प्रतिलिखितता का तात्पर्य प्रेरणा या गति से सम्बन्धित रहता है। कबीर के समय में जो स्थिति थी वह किसी प्रेरणा या गति की अपेक्षा रहती थी, वस्तुतः कबीर ने अपने युग की जो प्रेरणा दी उसमें किसी मार्ग पर चलने का संकेत, उपदेश और बाधा नहीं था। इसी से कबीर में प्रतिलिखितता के लक्षण प्राप्त होते हैं।

बाधुनिक प्रतिलिखितता ने जो वैलक्षण्य धारण कर रही है उसकी कबीर के समय में वैलक्षण्य व्यर्थ है। कबीर का युग वाच के युग से भिन्न था। उसकी अपनी परिस्थितियाँ थी फिर भी कबीर की प्रतिलिखितता वाणी का जो लक्ष्य था वही लक्ष्य बाधुनिक प्रतिलिखितता के स्वर में भी निहित है। यह बात दूधरी है कि बाधुनिक प्रतिलिखितता ने लक्ष्य के अनुकूल मार्ग या साधन न अपना कर अपने लक्ष्य को भी भुला दिया है और सम्भवतः वह साधन को ही लक्ष्य मानकर प्रान्त हो गया है।

बाधुनिक प्रतिलिखितता कुछ सांवाहिक विद्वान्तों की धारा पर फल कर पुष्ट हुआ, इसमें तो सन्देह करने की कोई बात नहीं है, अपने मौलिक रूप में इसका लक्ष्य स्वस्थ था। जिसमें विकल्पी समाज के उपकार की भावना थी। पतित को उठाना और प्रतिलिखितता देना इसकी साधना का प्रधान

सत्य था । समय उस साधना और सत्य की मान कर रहा था । इसी की प्रति के लिए कुछ युग मनीषियों ने , कुछ साहित्य शैलियों ने उन लोगों के उत्साह में अपना योग दिया जो किसी राजनीतिक विद्रोह से प्रेरित हुए थे ।

कबीर भी ऐसे ही युग में उत्पन्न हुए थे जिसका वन अपनी रुढ़ियों में छुट रहा था और जिसकी स्थापनाओं और मान्यताओं में दम्भ और अंध विश्वास का तोत्तापन निहित था । कबीर अन्दर और बाहर का साम्यवस्य चाहते थे । वे नहीं चाहते थे कि लोग करें कुछ और करें कुछ । इसीलिए उन्होंने कहा -

कबीर काजी खादि बसि, ब्रह्म हतै तब दीह ।
नहि मसीहि एकं कहै, हरि जगै साखा होई ॥

कोई भी धर्म झूठ बोलना नहीं शिखाता, झूठ का शिक्षक धर्म , धर्म नहीं । धर्म का वाचरण से सम्बन्ध है। जिस धर्म से वाचरण का सम्बन्ध नहीं वह धर्म कैसा ? जो प्रार्थना सत्य की झूठ के गर्त में धँसती है वह प्रार्थना कैसी ? इसीलिए कबीर कहते हैं ।

सचि भारै झूठ पढ़ि, काजी करै कथा ।
यह सब झूटी बँदिगी, बरियाँ पैव निवाज ॥

उस समय जो संघर्ष समाज में चल रहा था उसकी पर्यवेक्षा को कबीर मसी भाँति समझ चुके थे और वे उसके कारणों को भी तीव्र चुके थे । मार्क्स ने तो ' भौतिक वर्णवाद ' में सामाजिक संघर्ष के कारणों को तीव्र की, किन्तु कबीर ने संघर्ष के कारणों में धर्म विविधता

की प्रसूत ठहराया । इसीलिए उन्होंने एक 'प्रतिपत्त' पत्र 'का मुकाब
दिया । यथा-

कहै कबीरादास कबीरा, अपनी राह बलि पाई ।

हिन्दू गुरु का करता रई, ता गति लखी न पाई ॥

कबीर ने उन बाबाओं की निम्न की जिनमें
धर्म की कोई प्रकृति निहित नहीं है और जहाँ प्रदर्शन की ही धर्म मान लिया
गया है। यथा-

करता दीर्घ कीर्तन, ऊँचा करि करि छूँ ।

जाणै कुँभं कूह नहीं, यौही जधि रूँ ॥

जिस वर्णाश्रम धर्म ने महात्मा बुद्ध की वर्णश्र-
मक श्रान्ति की ओर प्रेरित किया था उसी ने कबीर की भी किया , किन्तु
कबीर के युग में धर्मान्धता के साथ धर्म विविधता बढ़कर विकृत रूप हो गई
थी । इस्लाम ने भारत में कबीर के समय जो स्थिति प्राप्त कर ली थी, बुद्ध
के समय किसी विदेशी धर्म ने वैसी स्थिति प्राप्त नहीं की थी । इसलिए यहाँ
के प्राचीन धर्मों के लिए उनके साथ सम्पर्कता करना एक समस्या थी , फिर
भी सम्पर्कता अनिवार्य का इसलिए कबीर की समाधान प्रस्तुत करते हुए कहना
पड़ा :

हमैं काजी मुला पीर फाँवर, रोवा पश्चिम निवावा ।

उनके पुरख पिछा देव दिख पूजा, ग्यारही गंग निवावा ॥

गुरु मसीति देहुरे हिन्दू, दहूँठा राम सुदाई ।

जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठहराई ॥

विविध धर्मों में धार्मिक कठोरता की कठोर वितनी स्थिति थी उतनी ही भयंकर भी थी। उस कठोरता और भयंकरता को मिटाने में अवश्य ही तत्कालीन प्रगति निहित थी। उन कथ्य विश्वासों और रुढ़ियों को मिटाने में भी प्रगति निहित थी जो मानव की मानव से मिलाने में बाधा डाल रही थी। कितना भयंकर हिन्दू मुसलमान का भेद भाव का उत्ता ही भयंकर ब्राह्मण और बूढ़ का भेदभाव भी था। यह भेद भाव समाज की न केवल दुर्बल बना रहा था प्रत्युत गतिहीन भी कर रहा था। इसके न केवल समाज का एक ही दुर्बल एवं निश्चेष्ट ही रहा था। इसके पातक प्रभाव की कबोर की वारि बढ़ी करणना और लीम से बस रही थी। उन्होंने वर्त्मन्य ब्राह्मण की फटकारा और हीमता की भावना से परावृत्त बूढ़ को भी जगाया।

जो लोग वर्ण और जाति के बाहुबानार या वेत की महत्व देकर उनकी प्रकृति की भूल बैठे थे उनकी कबोर ने बाढ़े हाथों लिया। इसके अतिरिक्त किसी पिटो मान्यताओं के निवारण के लिए और कोई चारा भी नहीं था। झूठ मुँहाकर संन्यासी बनने वालों की कबोर ने फटकारा।

कबोर ने सहेतुक केशों की बात को जगने बढ़ाया। उन्होंने कहा कि केशों के मुँहाने से कोई लाभ नहीं है, केश मुँहाने से कोई मुख्य संन्यासी नहीं बन सकता। क्योंकि संन्यास वेत से सम्बन्धित नहीं है, मन से सम्बन्धित है। जब तक मन को नहीं झूठा जायेगा, उसे वेत में नहीं किया जायेगा। तब तक संन्यास सार्थक नहीं ही सकता। यह समस्त ब्रह्मण मन में भरे हैं और इन्हीं को दूर करने के लिए संन्यास लिया जाता है, केश मुँहाने के लिए नहीं। इसलिए वे केश मुँहाने वालों को समझना कर करते हैं :

मन मेवासी घुंछि ते, केसी घुंछि कहि ।

ये कुछ किया हुंमन किया, केसी कीया नाहि ॥

इसी प्रकार बहुत से लोग 'भुति पूजा'

को ही धर्म मान बैठे थे, वे नहीं समझते थे कि उनका मन व्यर्थ ही रहा था । यह भी उपासना में कबोर की भुंत्ता के बिना किसी तत्त्व का दर्शन नहीं हो रहा था । पत्थर पूजा अज्ञान प्रेरित जाशाओं की वृद्धि करती है, जिसकी सफलता केवल स्वप्नित सम्पत्ति है। मला उस पत्थर से किसी सजानु-भुति की बजा जाशा की जा सकती है, जो जन्म भर पुजे पर भी उत्तर नहीं देता । फिर प्रस्तर पुष्क पानी को भी व्यर्थ बर्बाद होता है :

पाहन हूँ का पुजिर, ये जनम न देह जाव ।

बाधानर जासामुखी, यौं ही लीवे जाव ॥

मन की भ्रान्ति के निवारण से ही शीलता आती है, शीलिग्राम की सेवा से भ्रान्ति नहीं निवृत्ती । इसमें न तो सजानु-भुति है और न कोई तथित है, इसीलिए कबोर कहते हैं :

सबै सातिगराम हूँ मन की भ्रान्ति न जाह ।

शीतलता सुदिनै नहीं, दिन दिन जमा लाह ॥

इसी समय कबोर के सामने एक और भी प्रश्न था और वह यह कि कन्ध विश्वाशियाँ ने ईश्वर की सत्ता केवल मन्दिर मस्जिद में ही मान रखी थी । वे समझता हूँ कि कबोर को यह मानने में कोई आपत्ति न थी कि परमात्मा मन्दिर मस्जिद में भी है पर बाहर नहीं है, यह बात को वे कदापि मानने के पक्ष में नहीं हैं, इसके वतिरिक्त मन्दिर

मस्किर का मेद भाव भी दोनों धर्मों के बीच की लड़ाई को घाटने वाला नहीं था यही विचार कर कबीर ने कहा :

कबीर हुनियाँ देहरी, बीच नयाबड़ा बाह ।

हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही वीं रखी लाह ॥

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर ही परमात्मा की खोज करने लगे तो बाहरी मेद भाव भिट बायेला और मन की स्वाभ्रता और शक्ति प्राप्त होगी यही वास्तव है उन्होंने काबी की सम्पीजन करते हुए कहा -

‘ यदि है काबी की निबाबा, ल पबोति बसी दखाबा ।

जो लोग अपने बाहरणों को नहीं संभाल पाते क्या वे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ? यह प्रश्न किसी भी विचारक के सामने आ सकता है। कबीर ने देखा कि लोग एक ओर तो धर्म की दुहाई देते हैं, पूजा का नाम करते हैं और दूसरी ओर मछि मदिरा का लुत्कर प्रयोग करते हैं । इन बाहरणों का मन से सम्बन्ध है, जो लोग मस्का-मस्का का बिके नहीं रखते वे अवश्य ही इन्द्रिय लोलुप हैं, कम्हाकों के शिकार हैं, और मन के भ्रम से पीड़ित हैं। निस्सन्देह वे पापी हैं और धर्म की बाह में पाव करते हैं। उनकी मुतावर वे बोले-

पापी पूजा बेधि करि, मछी मछि मय दोह ।

खिन्की बस्या मुक्ति नहीं, कीटि नरु फल होह ॥

ऐसे लोग न केवल दुहरों को परमाते हैं,

प्रत्युत स्वयं भी भ्रम में पड़े हुए हैं। धर्म सम्बन्ध का ठीक करके कुछ ऐसे धर्म भी उस समय प्रकट होने लगे थे जो दूसरों को धोखा देकर अपनी बाख्ताबाई की वृष्टि के लिए एकत्र होते थे। कबीर ने ऐसे धर्मों की भी खबर ली।

कब्जाबाई के पास बाख्ताबाई के पुजारी बाबु

नाम्धारियों की बैठभूजा की बैठ बैठकर भी कबीर को बड़ा पानिम हुआ। उन्होंने देखा कि उनका बैठ तो बाबुबाई का था या बाबू बाबरन बाबुबाई के थे नहीं, वे तो पीकर मस्त रहते थे और बैन की बंसी बजाते थे ऐसे बाबुबाई की कबीर ने बड़ी भर्त्सना की।

कत्ता ही नहीं कबीर ने ऐसे लोगों की बधाभुता और भ्रष्टता की भी भर्त्सना की उ वे लोग बैठ भूजा थे बाबु बीस पड़ते थे किन्तु पन थे कुछ और ही थे। वे भीठा बीलते थे किन्तु वे पनके भ्रष्ट इसलिए कबीर ने उनके सम्बन्ध में अपनी खैत किया और समझाते हुए कहा कि वे उज्ज्वल बैठधारी एवं म्भुत्ताभी लोग बड़े पतित एवं कुकर्म हैं और दूसरों को धोखा देकर कुछ भी वनिष्ट कर सकते हैं। अतएव वे अविरत्वनीय हैं।

उन सब बातों के बतिरिक्त कबीर की

प्रतिपक्षिता इस बात में निहित थी कि वे उन लोगों को भी चेतावनी देकर तथा संभाकर सुमार्ग पर लायें जो धन, धाम, और धरा के ऐश्वर्य में पन विह्वल होकर मानवता की भुल बैठे थे, जो मानव को तुच्छ एवं हिन समझते थे। इस पन की प्रकृति करने में कबीर की यहाँ की वैराग्य परम्परा से बड़ी ही सहायता मिली। उस युग में इस पन को कबीर के पद-चिह्नों ने ही विशेष रूप से प्रकट किया। नीचे लिखी बातियाँ हैं कबीर के दृष्टिकोण

का अनुमान लगाया जा सकता है।

कबीर कहा गरबियाँ, ऊँचे देति जगद ।

कारि परतुं चैं छेदनाँ जपरि बाने बाध ॥

कबीर कहा गरबियाँ, जामि पौष्टे छड ।

देवर ऊपरि हनधिरि, ते भी देव छड ।

इस प्रकार कबीर की वाणी बाहे बाधुनिक

प्रतिवाद के अठथी में ठीक न बैठती हो किन्तु वह प्रतिरोधता के संपूर्ण गुणों से जो उस समय परिचित थे, विभूषित थे । यदि बाब का सम्बन्धित प्रतिवाद कुछ सिद्धान्तों का पिछलगू बनकर किसी जगहों में उतर जाया है तो वह उसकी प्रेरणा का दोष नहीं है, बल्कि उसी मोड़ का - उसी रुत का दोष है, जिसको अपनाकर उसने अपनी मौलिक व्यक्तियों को अपने तत्त्वज्ञ बहि-वेदन की पीछछा की भुला दिया है।

कबीर का प्रतिरोध दृष्टिकोण बाध्या-

त्मिक साम्य के परिवेश में है। कबीर नये वर्ग में न तो प्रतिवादी हैं और न उनके दृष्टिकोण में बाधुनिक साम्यवाद का रूप ही दृष्टिगोचर होता है। बाब प्रतिवाद ने साम्यवाद से जो गठबन्धन किया है उसमें वह अपने को तो बैठा है, साम्यवाद स्वतः गुरा नहीं है किन्तु बाधन और तत्त्व का सम्बन्धिता न होने से उसमें गुराहियों का समावेश हो रहा है। इसलिए प्रतिरोध दृष्टि-कोण ऐसे साम्यवाद का अवलम्ब लेकर प्रति की भूमिका पर नहीं ठहर सकता । यही कारण है कि प्रतिवाद बाब केवल बनकर रुढ़ियों की स्थापना कर रहा है, जिसमें समय की फुहार की उपेक्षा है।

प्रतिवाद का एक गुण यह होना चाहिए

कि वह स्वीकृति का परित्याग करके मनुष्य की उदार भावनाओं की प्रतीक्षा-
 बन है किन्तु बाब के प्रतिवादी साहित्य से ऐसे कैदों उदाहरण मिल सकते
 हैं जिन्हें उसकी स्वीकृति प्रमाणित ही सकती है यों तो प्रतिवाद कारण
 से ही साहित्यक्षेत्र में साहित्यिक सत्यहीन होकर उतरा । किन्तु कि विद्वानों
 के बावृत्त से वह साहित्य में उतरा था । वे प्रति के पक्ष से बहुरूप -
 विशेष में सीमित हो गये हैं। हमें समझ नहीं कि जो लोग प्रतिस्तिता की
 दुहाई समाज और साहित्य, दोनों क्षेत्रों में देते हुए जाये वे उनमें से बहुतों
 को तो उसके बने हुए रूप की देखकर बड़ी निराशा ही हुई । इसी कारण
 उन्होंने तब तक प्रति प्रतिवादियों का साथ छोड़ दिया क्योंकि वे भी प्रति-
 वाद के उद्देश्य के समर्थक थे । उसकी किसी असाध्य में ला लड़ा करने के समर्थक
 नहीं थे उनका सामाजिक सत्य उदार था और उनके साथ वे साहित्य का उदार
 सम्पर्कता चाहते थे ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर

की प्रतिस्तिता में मुक्तः कोई साहित्यिक सत्य निहित नहीं था , किन्तु
 भाषा के सम्बन्ध में अपना मत लेकर उन्होंने उसे लोकानुसृत बनाने की जो
 चेष्टा व्यक्त की है उसमें उनके दृष्टिकोण की प्रतिस्तिता स्पष्ट है। ' संस्कृत
 जैसे रूप का भाषा बहुत ही ' कहकर कबीर ने अपनी इसी दृष्टिकोण का
 परिचय दिया है । जिस प्रकार तुलसीदास और महावीर ने जन- भाषा को समायुक्त
 किया था । उसी प्रकार कबीर ने भी जन- भाषा को सम्पादित किया ।
 जन- भाषा को वाद देने में कबीर के सत्य की उदारता स्पष्ट है। बाब
 प्रतिवाद जिस क्षेत्र में जा गया है उसमें कबीर के प्रतिस्तिता दृष्टिकोण की
 सीधना व्यर्थ होना । कबीर किसी सामाजिक असाध्य के मस्त नहीं थे । वे
 एक सन्त थे और वह भी सच्चे अर्थ में ।

कबीर ने समाज में विषमता देखकर जो व्याकृतता प्रकट की उसमें कहना और सीम , दीनों का समावेश है । वे समाज की बर्गी में विभक्त नहीं देखा चाहते थे । और कदियों तथा बन्ध मान्यताओं ने तत्कालीन समाज में जो विकलता पैदा कर दी थी, वे उसको दूर कर देना चाहते थे । विकलांग समाज स्वस्थ की - यही कबीर की कामना और चेष्टा की और यही उनकी प्रगतिशीलता । कबीर ऐसा कोई भी प्रगति-शील व्यक्ति सामाजिक कृष्ठाओं में ऊबना पसन्द नहीं कर सकता । कदियों की छाधि में दम छूटने से ऐसा व्यक्ति न केवल स्वयं निकल भागने का उद्यम करता है प्रत्युत दूसरों को भी निकाल बचावे की चेष्टा करता है। वे ऐसे शास्त्रियों के बीच में बपे की कड़ा छुटा हुआ अनुभव करते थे , जो स्वामित्व तो चाहते थे , किन्तु स्वामी (गुरु) के गुण नहीं रखते थे । वे लोभी, काम ,वास-नाओं कादि से पराभूत थे । अतएव उनके सम्बन्ध में उन्होंने जतना कहा है, वितना सम्भवतः कोई दूसरा नहीं कह सकता था । क्या-

इसी उदर के कारणों, का बणिगी निष जाम ।
 स्वामी पणों तु धिरि पड्यो, बुरा न लो काम ।
 कलि का स्वामी लोभिया, मरवा धरी बधाव ।
 बेहि पसंदा व्याप की, सेरता करता बाव ।
 कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरी छटाव ।
 राज हुआ री यो फिरे जू हरि हाव नाव ।
 स्वामी हुणा बीत का, फाकार पवास ।
 राम नाम कठि रखा, करे बिजारी को वास ॥

उन शब्दों ने उन लोगों के दम्भ और पातण्ड की कतई तोल दी है जो मन को बल में करने के स्थान पर उसको और डील

है। बाबा और वृष्णा के त्याग के स्थान पर उनको और ब्याते हैं और वो पनाहीं केकई की सेवा से अपनी विहायिता को उत्प्रेषित करते हैं। कर्मे के लिए तो उनके कण्ठ में राम नाम ही रहता है। किन्तु उनके स्वस्थ प्रभाव से वे वर्णित रहते हैं। उक्त प्रभाव तो उन लोगों के अन्तर पर होता है जो युद्ध में रहते हैं और जो बाबा, वृष्णा आदि से मुक्त हैं। उन्होंने अपनी समय का एक चित्र या लीप दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में कलि युग के वर्णन में अपनी युग का चित्र प्रस्तुत किया है। उसी प्रकार कबीर भी कह चुके हैं। कबीर के युग में बीघे अपने मनुष्यों की कोई प्रकृति भी नहीं था और बाहर होता था ऐसे मनुष्य का जो लीपों, सातवीं और विद्वान्क मधुरा होता था। कबीर अपनी युग की इस दुर्लभता को न पना उसे और कदवी पाणी में बोल उठे :

कबीर कलि लोटी मई, मुनियर मिले न कोइ
सातव लीपों मकरा, किन्हीं बाहर होइ ॥

उसी प्रकार कबीर को उन लोगों की देखकर भी लीप हुआ जो कपर पर पानी में नहाकर मुनित की कामना करते थे। ऐसे उपवास की बात है कि लोगों ने मुनित की कृता उस्ता ककल लिया था कि पानी में नहाकर और राम हट कर ही उलकी या लेना चाहते थे। कबीर को उनके प्रवर्तनों की व्यर्थता पर लीप ही पना हुई और कभी लगे :

तोरेण करि करि जम मुर्दा, हूँ पाणी न्हाइ ।
रामहि राम बरैवडा, कास पडीह्या बाइ ॥

यह तो यह है कि यथाशक्ती कबीर ने अपनी समय की किसी दुर्लभता को ब्याता नहीं डीडा , किन्तु उन दुर्लभताओं में से

अधिकार, धर्म के किसी न किसी पक्ष से सम्बन्ध अवश्य रखती थीं। हम सम्पूर्ण देश जुके हैं कि वैष्णव धर्म के प्रति कबीर की कड़ी मर्दा थी। किन्तु उपेक्षा के उसकी दुर्बलता की भी नहीं कर सके। वे जानते थे कि वैष्णवों की मूर्खता साधना में कुछ विशेषताएँ हैं किन्तु यदि हाथा तिलक लगाकर ही वैष्णव का पैठा है और उसमें विवेक नहीं है, तो दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती। इस तथ्य की प्रशंसा करते हुए उन्होंने वैष्णवों के भी काव लीला दिये -

बैसनो मया तौ का मया, झुका नहीं विवेक ।

हाथा तिलक लगाह करि, बग्या लोक लोक ॥

बन्ध और पातण्ड साधारण लोगों में या भूतों में ही होता है, ऐसी बात नहीं है अपितु बड़े बड़े पीर और महन्त लोग भी उनसे मुक्त नहीं हैं। ये लोग यात्रियों से मुक्त से भी नहीं बोलते, उनका बर्तनार इस सीमा पर पहुँच जाता है। कबीर की मर्यादावादी प्रकृति इस तथ्य की भी हिंसा नहीं करती और वे एक बड़े व्यंग्य से कारण की ओर संकेत करते हैं :

हय कायें ह्वै ह्वै मया, कैतो बार कबीर ।

पीरा मुक्त में क्या तता, भुक्त न बोलै पीर ॥

ऐसे ही लोक उद्धारण कबीर की वाणी से दिये जा सकते हैं जिनसे कबीर की मर्यादावादिता और प्रगतिशीलता का संकेत मिल जाता है। भले ही कबीर के दृष्टिकोण में काव का प्रगतिवाद न मिले किन्तु आधारभूत भावनाएँ ऐसी ही थीं। यह नहीं भुलाया जा सकता कि

प्रातिमाद की बाधाश्रुति यथार्थ में निहित होती है यही कारण है कि बाधुनिक विन्दी साहित्य में भी प्रातिमाद विकसित हुआ उसका मूल बीच यथार्थवाद में दृष्टिगोचर होता है। यथार्थवाद का सम्बन्ध देश कास की रीति नीति और उनके सम्बन्ध में कवि या लेखक की प्रतिक्रिया है। यथार्थवादी साहित्यकार समाकालीन जीवन की प्रतिक्रिया का पट्टक होता है। जब यथार्थवादी अपनी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति कटुता के धरातल पर करने लगता है, तब वह कभी कभी वृत्ति 'उग्र' हो जाता है। इस धरातल पर वह सामाजिक कृत्ताओं और विचमताओं की कड़ी कटु बातचीत करता है। कतनी कटु कि वह निन्दा के शीघ्र से भी दो कदम आगे बढ़कर पत्थरों में प्रोस कर जाता है।

कोई भी कवि अपने युग की बातचीत में प्रयुक्त हो सकता है और उसमें उसकी प्रतिक्रिया भी साहित्य हो सकती है। तुलसीदास के 'कसियुग वर्णन' में समय की भाँकी और उनकी अपनी प्रतिक्रिया दोनों का पुट है। वह समय की भाँकी भीखले हुए, दोनों पत्नी को लेकर नहीं की गई, प्रयुक्त कवि की दृष्टि दोष दर्शन पर ही रही है। कतल्य उच्च स्थान पर तुलसीदास का दृष्टिकोण यथार्थवादी है, किन्तु उसमें भी उनका सत्य वादों पर निहित अवश्य रहा है, जिसका अनुमान पूर्ण ग्रन्थ से ही हो सकता है। केवल 'कसियुग वर्णन' से नहीं।

इस दृष्टि से कबीर तो कुछ और भी बड़े बड़े यथार्थवादी हैं। उन्होंने देश कास की दुबलताओं की समाज में ताण्डव-नृत्य करते देखकर न केवल कतण्ठा व्यक्त की है, वरन् लीन भी। उन्होंने समाज की उन दुबलताओं की कड़ी दृष्टि से देखा है, उनकी वे कटु निन्दा

बीर कहीं कहीं तोत्र मर्त्यता भी करते हैं। जहाँ वे निम्बा से मर्त्यता पर उतर जाते हैं। जहाँ वे निम्बा से मर्त्यता पर उतर जाते हैं, वहीं वे बलि उग्र ही जाते हैं। हमें समझ नहीं कि उस मर्त्यता के पीछे उनका प्रातिशील दृष्टिकोण भी बिना हुआ है। फिर भी वे बहुत बालीक हैं, बलि उग्र हैं, वह तथ्य के बलि नहीं मोड़ी जा सकती।

यथार्थवादी जब समाज के दुर्बल पक्ष की बातें साफ़ करे- सप्टन बीर प्राति की रीतों के पित प्रस्तुत करता है तो उनमें उस पक्ष का रीति भी मिल सकता है जिसका तथ्य सामाजिक प्राति होता है। ऐसे ही दुर्योधन में उनका प्रातिशील रूप का- रीत का दृष्टिकोण उभरता है। जब कवि का दृष्टिकोण किसी वादों की बीर प्रेरित होता है तो वहाँ वादोंमूलक यथार्थ की सीमाएँ निर्मित हो जाती हैं। इन सीमाओं के निर्धारण में किसी मान्यता का ही योग रहता है। कबीर के प्रातिशील दृष्टिकोण में यथार्थवादी बहुत ही है ही, किन्तु कहीं कहीं वादोंवादी प्रस्ताव भी हैं। कबीर के वादों की रीतें यद्यपि उनकी अपनी भावें हुई ही बलि हैं और वे इस दृष्टि से कि 'विधि' की विधित् 'एक' करने में उनका अपना प्रयत्न है। उन्होंने जो धर्म में से बार लेकर वो पक्ष तैयार किया है, वहीं कबीर पक्ष है और उन्हीं में हमें उनका प्रातिशील दृष्टिकोण वादों के साथ मिल बैठे दीस पड़ता है, वे वादों के सम्बन्ध में भी कुछ सीमाएँ निश्चय करते हैं जो कि व्यवस्था ही वादों की सीमाएँ हैं और वे किसी भक्त या शक्त के वादों की बीर इंगित करती हैं। जयदेव, नायदेव, बादि भक्त कबीर के वादों हैं और वादोंकता पड़ने पर वे अपनी वाणी में उन्हीं का प्रकाशन करते हैं।

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जहाँ यथार्थवादी की भाँति कबीर ने समाज की दुर्बलताओं का भण्डा फोड़ा है,

वहाँ प्रातिवादी की भाँति समस्या के नये हल की खोज भी छैल किया हे
 और वह सब धर्म की परिधियाँ से कलम नहीं होला फिर भी कबीर का धर्म
 किसी भी साम्प्रदायिक धर्मोपनिषत् से दूर रहने की खोज केष्टा करता हे। वह
 मानव मात्र का धर्म बनाने का अधिकारी हे, क्योंकि उसमें सार छैल हे। उसमें
 उन साम्प्रदायिकों की कोई स्थान नहीं दिया गया जिनकी 'वतिवाद' के नाम
 से हेय सम्मान जाता हे। 'वतिवाद' का विखर्न ही तो कबीर के मन्त्र की
 'मन्त्र मार्ग' कहलाने की योग्यता प्रदान करता हे।

वहाँ भी कबीर का प्रातिपक्ष दृष्टिकोण
 स्पष्ट हे। उनकी प्रातिपक्षता की सबसे बड़ी सफलता यह बात में हे कि
 उन्होंने ईश्वर की जो कल्पना की हे वह किसी भी धर्म में सम्मान पाने के
 योग्य हे यद्यपि दूधरी हे कि मान का प्रातिवाद जिसने साम्प्रदायिक की नई
 परिधियाँ में धर्म की ही उपेक्षा नहीं कर दी, अपितु ईश्वरवाद की ही
 जपस्थ कर दिया हे, उसकी स्वीकार न करे। कबीर ने सब धर्मों की एक
 धारातल पर लाने के लिए ही नहीं अपितु एक बनाने के लिए ही प्रयत्न किए
 उन सबका सम्मन्ध ईश्वर से हे। इसी प्रकार मानव मात्र में एकता लाने के
 उद्देश्य में भी उन्होंने ईश्वर की ही प्रतिष्ठित किया हे।

अतएव सामाजिक समता सर्व एकता के समस्त
 प्रयत्नों के परिवेश में ईश्वर की एकता का अनन्य योग हे और जब पाव तल
 पर भी कबीर की प्रातिपक्षता वास्तववाद का पल्ला फड़ती हे। इसका परि-
 णाम यह होता हे कि मनुष्य के वाचरण का वैतिम मानदण्ड समाप्त नहीं,
 ईश्वर बन जाता हे। उस ईश्वर में कबीर ने केवल मनुष्य का फितुत्व देखते हैं,
 अपितु अन्य प्राणियों का फितुत्व भी देखते हैं। अतएव कबीर वाणी में मानव

व्यवहार एवं वाचरण का क्षेत्र मनुष्य बनाम ही नहीं बल्कि निश्चित पैमाने विश्व है, यद्यपि कबीर सदा, दुःखानि के प्रति भी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। यह दृष्टि है कबीर की सहानुभूति मानव बनाम है जाने मनुकर समस्त प्राणितोके को अपना लेती है यद्यपि बाधुनिक समाकषित प्रातिवादी मनुष्य मात्र को भी नहीं अपना सकता, वाच का प्रातिवादी सामाजिक जीवन भाव कीवस्त पोषणा करता है और वह भी वेद दृष्टि है, किन्तु कबीर व्यापक जीवन की विधि जीवन दृष्टि है करते हैं। प्रातिवाद वर्णवाद के उन्मूलन काबीर उठाकर भी वर्णवादी हैं, किन्तु कबीर की प्रातिवैश्विकता में वर्णवाद के तिरकोई अवकाश नहीं है। कबीर की प्रातिवैश्विकता में मानवतावाद की मूल प्रेरणा है और उनका मानवतावाद ईश्वरवाद पर आधारित है। वाच प्रातिवाद मानवतावाद की प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहा है। उक्त कारण है उक्त जीवनवाद की और मुकाब। मानवतावाद की प्रतिष्ठा जीवन दृष्टि के बिना नहीं हो सकती और वेद दृष्टि उस समय तक नहीं मिल सकती जब तक कि उस पर किसी सत्ता का आरोप न हो।

कबीर का ईश्वरवाद किस अर्थतत्वाव पर

टिका हुआ है उन्मूलन ईश्वरवाद को भी वात्पसात् कर लिया है। अतएव कबीर का ईश्वरवाद, मानवा के माध्यम से ही नहीं, मानवमात्र को अपने से सम्बन्धित करने स्वत्व की प्रतिष्ठा करता है। नहीं ईश्वरवाद ज्ञान के क्षेत्र में भी सत्ता दृष्टि का विलय केन्द्र बनकर सत्ता का मूलधार बन जाता है यह ईश्वरवाद कोहं नहीं उपभावना नहीं है, किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में और सामाजिक सम्बन्ध से उसके उपयोग में नवीनता अवश्य है। उपयोग ही नहीं, प्रभाव भी तत्कालीन परिस्थितियों में प्रातिमूलक रहा, यह कबीर के प्रातिवैश्विक दृष्टिकोण की बहुत बड़ी विशेषता रही है।

कबीर स्वयं एक मजदूर थे और मजदूरी के एक छोटे सप्ते जीवन में ही उनके दर्शन, समाज, धर्म और मानव जीवन की परत की। अपने समय की कृत्तियों की परत, धर्मद्वन्द्वों की लड़ाई, दर्शन की नई रूपरेखा दीवार समाज की एक क्रांतिकारी कला का जन्म दिया।

कनता ही कबीर के लिए सब कुछ थी, वह भी नहीं कनता, वह कनता बिड़े धर्मशास्त्रों को पढ़ने और सुनने का अधिकार भी नहीं था, बिड़े जीवन में धार्मिक साम्प्रदायिकता करने का कोई आनंद नहीं था। मंदिरों में बिड़की पूजा नहीं थी, समाज में बिड़का निम्न स्थान था, उच्च वर्गीय लोग उन्हें घृणा करते हुए भी भगवान् के उपासक थे, उच्च भगवान् के जो दीनों का सहायक थे। धर्म और भगवान् का न जाने क्या संबंध था, उन कटिवादी विचारकों के मस्तिष्क में, परन्तु कबीर के लिए वह मान्य नहीं था।

कबीर की सबसे भावना कन-हित की भावना थी। धर्म के लोभ में प्रतिक्रिया का हीना भारत के एक बहुत बड़े कन-उत्थान के मस्तिष्क में जड़ता का कारण बनी हुई थी। कबीर ने क्रांतिकारी आन्दोलन की नींव रखी और समाज तथा धर्म के लोभों में संकुचित दृष्टिकोणों का सफाया किया तथा मानव मात्र के लिए धर्म का मार्ग उन्मुख कर दिया। अपने सबसे भगवान् के मार्ग से कबीर ने, मंदिर, मस्जिद, माता, छे, कटिवादी संत इत्यादि सब उठा लिए और कनता के लिए वह सबसे मार्ग सुझाया कि बिड़ पर चलने में किसी को भी कठिनाई और बाधित न हो सके।

कन हित की भावना कबीर के हृदय में वर्तमान थी। दलित, गिरे और पिछड़े वर्गों के उत्थान का कबीर ने संकेत

दिया और उन्हें उठाकर उच्च वर्ग वालों के पास बिछता दिया । मानवनाम की एक सम- भावना का मार्ग सुझाया ।

कबीर का सौम्य पूर्ण रूप से कर्म और समाज ही था । वास्तविक सौम्य में उन्होंने दुखने का प्रयास ही नहीं किया परन्तु स्मृता तो सत्य ही है कि कर्म प्रज्ञान वर्ग विशेषों का कबीर पर कोई प्रभाव नहीं था और ऐसे को उन्होंने व्यथित से ऊपर कभी भी विशेषता प्रदान नहीं की ।

कबीर कर्म का प्रसार साथ ही हम दक्षित वर्ग के ऊपर ही विशेष रूप से पाते हैं। कबीर का यही वह प्रतिबिम्बित दृष्टि-कोण था जो साथ के सुन में ह्रीन्मन्त्राय टैगोर की वाणी में भी प्रसफुटित हुआ और विश्व के कानों में नीतिविति काकर गुंम गया ।

कबीर ज्ञाता का विचार, ज्ञाता का धर्म-चार्य, ज्ञाता का सुधारक और ज्ञाता का प्रतिनिध था । उसी की वाणी के सङ्घ- सङ्घ से ज्ञात की भावना प्रकृत होती थी । कबीरवाद भारतीय परम्परा के अनुसार सम- दर्शन के ही पानने वाले थे , यों ऊपर से देखने पर तो साम्यवाद से उसके विचारों का पैर नहीं ला सकता क्योंकि कबीर वैष्णवी व्यथित न होकर वात्मवादी व्यथित थे और वेदिक सुस समुद्रि के परभाव भी वह कुछ अन्य प्राप्य वस्तुएँ मानते थे, परन्तु वहाँ तक ज्ञात के सौम्य में समता का सम्बन्ध है, यह तो कबीर की ही साधना ही थी ।

कबीर के समदर्शन और आधुनिक साम्यवाद में मौलिक अन्तर है। कबीर का वात्मवाद मनुष्य के सांसारिक और सामाजिक सुस संतोष की ओर एकदम उदासीन नहीं उसकी व्यवस्था करने में वह मौलिक

वाक्यावयव के पीछे नहीं प्रत्युत स्वाधित्व और व्यापकता की दृष्टि से उसके कहीं जाने ही बड़ा हुआ है। उसके विर मुक्त में धर्म के योग से निरन्तर ध्व-
कती रहने वाली अग्नि की तरह बढ़ती हुई दृष्टि साक्ष्य नहीं, स्थायी
दृष्टि और शान्ति है क्योंकि भीति मुक्त उसका साध्य नहीं, किसी की
साध्य के लिए साधन मात्र है, उसकी दृष्टि और शान्ति अन्तर्गत है जाती है
केवल बाह्य साधनों पर अन्तर्निष्ठ नहीं, वाक्यावयवी तरीर और मन की
बाधकताओं और रुकावटों का दास नहीं स्वामी है, इसलिए योग वाक्यावयवी
की वह योग की कृता है, कृता भी कृता है। उसके उच्च निर्द्वन्द्व मुक्त की
सुलना ही ही नहीं कृती। रही कृता की बात ही वाक्यावयवी का वाक्य
विद्वान्त केवल वेद का वर्ण विशेष के व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, न
वह केवल अपनी कट्टर अनुयायियों के लिए है। उसके विरव समाज में प्रत्येक वेद,
प्रत्येक वादि और प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए समान स्वतः है। भीति और
वाक्यावयवी वाक्यावयव में सबसे बड़ा अन्तर यह बात का है कि फलता ही
बाह्य भीति वाक्यावयवी पर नियन्त्रण करके उनके समान वितरण द्वारा व्य-
क्तियों की मुक्त सुविधा का प्रबन्ध करता है और दूसरा भीति परिस्थितियों
की अनिवार्य विषमता की वाक्यावयवी स्वतः वर्तन के द्वारा दुःख और कष्ट
के स्थान पर मुक्त और शान्ति का कारण बना देता है।

कबीर की हम भारतीय वाक्यावयवी सम-
वर्तन का प्रतीक मानते हैं। यह सत्य है कि कबीर ने वाक्यावयवी क्षेत्र में कोई
शान्ति का बीजारोपण नहीं किया, परन्तु वाक्यावयवी क्षेत्र में सम्भावना
का क्षेत्र दिया और बड़ी ही निर्मलता के साथ। पुराने पीनापीना वाक्या-
वयवी वाक्यावयवी का सीधा सीधा विरोध करके दिया। कबीर ने न तो
प्राचीन शास्त्रों के अपनाया और न समाज के वर्तमान तर्कोंकरणमें ही अपनी
वाक्यावयवी प्रकट की। वाक्यावयवी त्याग, तपस्या, सदाचार, समता और सम्मान

का यह साम्यवाद भारतीय जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसमें जन-हित की भावना विहित थी और भी मानव की बाह्य तथा आन्तरिक शान्ति ।

कबीर का हर छन्द किसी व्यक्ति, समाज याति, देश या वर्ग-विशेष के लिए नहीं है। यह तो मानव मात्र के लिए है, हम कबीर को मध्ययुग का सबसे बड़ा जनवादी विचारक मानते हैं, जिन्होंने जनता के बीच की अनेकों दीवारों को गिराकर समाज में एक समता लाने का प्रयास किया और धर्म की उन्होंने उस रुढ़िवादी विचारधारा के विरुद्ध बाधाबु उठाई थी इस युग की प्रधान शक्ति थी, राजनीति के क्षेत्र पर जिसका प्रधान प्रभाव था और जनता के भी स्वाधीन उच्च वर्ग की किसी बाध सहायुधुति ही नहीं उसमें मान्यता थी थी ।

संक्षेप में कबीर और कबीर साहित्य पर एक दृष्टि डालने के पश्चात् हम कबीर में उसकी कलात्मक प्रतिभा और उसकी सत्यानुभूति के दर्शन पाते हैं। सत्यानुभूति में उनकी कलात्मक प्रतिभा ने योग दिया, जिसके फलस्वरूप कबीर के दर्शन और उनके सिद्धान्तों का निर्माण हुआ । कबीर का जीवन हमें प्रयोगों और सत्यान्वेषणों की शृंखला ही प्रतीत होता है। शास्त्रत आत्म तत्त्व का कबीर की कलात्मक प्रतिभा द्वारा गुण गान नहीं किया गया । बल्कि इतिहास लिखा गया है। उन लोग और परम के प्रयोगों की करते समय की कृत्य और मियाँ बना है। उसके त्याग पर बल देने में कबीर ने संकोच नहीं किया । कबीर इस विश्व में महान् आन्तिकारी रहा है। महान् समदर्शनवादी रहा है और महान् जन हित का भावना की उन्ने अपनी बाणों द्वारा मुसहित किया है। मध्ययुग के विचारकों में कबीर की यह समदर्शन की भावना विश्व इतिहास में कान्ति कथाय के ही पन्ने पर लिखी बायनी ।

कबीर अपने लुन का एक सक्त प्रतिभाशाली
 कान्तिकारी था। प्रतिभा की चारों प्रधान शक्तियाँ तत्त्व ब्राह्म्य शक्ति,
 तत्त्व धारण शक्ति, उद्भावना शक्ति और अभिव्यञ्जना शक्ति कबीर में
 वपरिमित रूप से विद्यमान थी। केवल लुने मात्र से वह तत्त्व ग्रहण कर
 लेते थे। जटित से जटिल विषय उनके समस्त सरल और सहज थे। हिन्दू
 और मुसलमानों के दर्शन की वात्सल्यता कर अपना साम्यवादी दृष्टिकोण
 प्रस्तुत कर देना कबीर की प्रतिभा की तत्त्व ब्राह्मणी शक्ति के ही फल-
 स्वरूप सम्भव हो सका। तत्त्व जानने के साथ साथ ही उन्हें हर समय धारण
 किये रहने और स्मरण रखने की शक्ति भी कबीर में विद्यमान थी। कबीर
 का मस्तक एक खानर के समान था जिसके अन्दर में तप्य और लुपनों के
 अस्तित्व रहन विद्यमान थे।

✓ तत्त्व ग्रहण और धारण करने के साथ
 ही साथ कबीरमें उद्भावना और अभिव्यञ्जना की भी कमी नहीं थी। कबीर
 के कथन में एक मौलिक कल्पना का रूप हमें दिखलाई देता है। प्रपञ्च कल्पना
 कबीर साहित्य में विद्यमान है। कबीर की रहस्यवादी विरह पैवना का अर्थ
 कबीर की कल्पना शक्ति से ही हुआ है। वह कल्पना कितनीमधुर कितनी कोमल
 और कितनी हृदयवादी है। कबीर के रूपों की, उल्टपासियों, अन्धोचितियों
 इत्यादि में हमें कवि की मौलिक योजना के दर्शन होते हैं। कबीर साहित्य में
 हमें पिष्टपिचण नहोमिलता वहाँ तो हर अभिव्यक्त कबीर के अपने साथ में
 पुष्प से ढलकर जाती है। कबीर के विचारों का तो साथ ही जलन है और
 वह है सहज का साथ। केवल "सहज" शब्द में कबीर का दर्शन, कबीर
 की विचारधारा, कबीर की कल्पना, कबीर की अभिव्यञ्जना, कबीर की
 मौलिकता सभी छूटती जा जाती हैं। कबीर की अभिव्यञ्जना ही कबीर की

कल्पना , कबीर की अभिव्यक्ति , कबीर की मौलिकता सभी कुछ तो वा
 याते हैं । कबीर की अभिव्यक्ति ही कबीर की वाणजीका प्राण है। कवि
 की प्रतिभा की अनुप्राणित करने वाली शक्ति यही अभिव्यक्ति है और यही
 ने द्वारा कवि के भावों की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ वाचार्थ हवारी प्रसार
 दिव्यी का निम्नलिखित वाक्य फिर हमारे कानों में गुंथ पड़ता है,

“ कबीर भाषा का डिक्टेटर है-----

जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में
 उस भाषा से कहलवा दिया है, जो नबी तो सीधे सीधे नहीं तो बरेबर
 देकर । भाषा कुछ कबीर के सामने साधारण सी नजर आती है। उसमें नाना
 हतनी हिम्मत नहीं कि वह सामान्य फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं
 कर सके ।। ”

सातत्य यह है कि कबीर में अभिव्यक्ति
 जी-छत्र पूर्ण रूप से विद्यमान है।

✓ एक शक्तिशाली प्रतिभा सम्पन्न विचारक
 के नाते कबीर ने मध्ययुग की जनता को जो सित का मार्ग सुझाया । कबीर
 में प्रतिभा के साथ ही साथ अनुशीलन की विलक्षण शक्ति नही पड़ी थी ।
 अनुशीलन ही उनकी परत की कसाँटी थी । अनुशीलन के पश्चात् सत्य जेबने
 वाली वस्तु का समझें और असत्य लगने वाली वस्तु का सपहन करना वह
 अपना धर्म समझते थे । कबीर का अनुशीलन निष्पक्ष था, बरदियादी था ।
 पूर्ण रूप से बौद्धिक था , परन्तु कुछ मान्यताओं को लेकर कुछ विश्वासों के
 साथ । अपनी अनुशीलन में सत्य जेबने वाली प्रणालियों का प्रतिपादन कबीर
 ने जीर्णोद्धारों का सामना करते हुए भी किया । कबीर ने सर्वदा नीर

कबीर का निर्णय अपनी सभी कुशीलन प्रवृत्ति के आधार पर विश्व का वास्तव ग्रहण करते किया। समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य सब की कबीर ने सभी निष्पक्ष पर कहे।

विशुद्ध कुशीलन के फलस्वरूप कबीर की बहुत सी अच्छी बातें संग्रह करने का अवसर मिला, बहुत से ताजे विचारों की वह संग्रहीत कर ली और फिर अपनी वाणी द्वारा उन्हें कबीर ने जनता तक भी पहुँचाया। आत्मा और परमात्मा की घटित प्रक्रियाओं को तोलने के साथ ही साथ कबीर ने व्यक्ति के जीवन की सफाई पर भी विशेष बल दिया है। और वाचरण का आदर्श जनता के सामने रखा। कबीर ने हर स्वान पर मिलने वाले जैसे विचार को अपनाया है, उसका सम्मान किया है, और यही विचार वास्तव में कबीर की वाणी की वह असूक्ष्म सम्पत्ति है। जो गुण गुण तक मानव के अन्धकारपूर्ण मार्ग को प्रकाशमान करते रहते हैं।

✓ कबीर का समस्त जीवन उनके कलम की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है। कबीर के जीवन की क्रान्तिमय भावना कभी भी हमारे अन्धकार पूर्ण प्रवृत्तियों का साथ नहीं दे सकती थी। जहाँ धर्म और साधनाओं के बीच बाहुबाहम्परी और स्वार्थ की पीत देकर कबीर तिलमिला उठा। उसकी विचारधारा सदन ही न कर ली उन्हें और उनके विरुद्ध कबीर ने प्रसन्न रोष प्रकट किया। समाज, धर्म, दर्शन और सभी विचारों प्रवृत्तियों तथा साधनों पर कबीर की दृष्टि गई और कबीर ने सभी को अपनी दृष्टिकोण से देखा और कुशीलन द्वारा परखा। यह निरन्तर प्रयोग और कुशीलन की भट्टी में तपाकर यह विचार सन्त जो कुन्दन भी अपनी जीवन में तैयार कर सका उस वही कबीर की वाणी है, वही कबीर की मानव को देन है, वही कबीर के जीवन की साधना है, आराधना है, प्रयास है, विचार है- कबीर का सब कुछ वही तो है। ✓

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथों की सूची

संस्कृत

हिन्दी

ग्रेवी

पत्र- पत्रिकाएँ

संस्कृत

वष्टाध्यायी - बाणिनि

उज्ज्वलसप्तमिपणि - रूप गीत्वामी

रेतरेय ब्राह्मण

कैनीपनिषद्

कठीपनिषद्

गीक्य ब्राह्मण

बाल्मीकीयपनिषद्

नारद पश्चिरात्र

नारद पश्चित सूत्र

कण्व पुराण

श्रीमद्भगवद्गीता

श्री बाल्मीकि रामायण

हिन्दी

बहूण, बहूनाम विव	कबीर बाणी, रत्न प्रकाशन, बानरा, प्रथम संस्करण, १९७२
बाबकर, ए० के०	हिन्दी निर्गुण काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता
बी प्रकाश	फक्कलीन काव्य
उपाध्याय, कलदेव	भारतीय दर्शन, सत्यनारायण
उपाध्याय, कलदेव	भारतीय धर्म और दर्शन
.. ..	भारतीय दर्शन की स्मृति
.. ..	हिन्दी साहित्य का वृद्धि इतिहास प्रथम भाग
उग्रसी, डा० कृष्ण साह	लोक साहित्य के प्रतिभास, भारत प्रकाशन मंदिर, कलकत्ता प्रथम संस्करण
कुल्लिच, अर्जुन	बाधनिक हिन्दी काव्य में लोक-संस्कृति प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९७६
गुप्त, शान्तिस्वरूप	हिन्दी के प्रतिनिधि कवि दिल्ली

मुष्ट, गणपति चन्द्र	साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन
मुष्ट, बनदीत (डा०)	नई कविता के २
मुष्ट, प्रकाशचन्द्र	हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा प्रथम संस्करण, दिल्ली
मुष्ट, गदन गोपाल (डा०)	कथकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, नैसर्गिक व्यक्तिगत हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८
मुस्तावराय	भारतीय संस्कृति, ग्वा सियर प्रथम संस्करण
मुस्ता, बासा (डा०)	कथकालीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९७०
नाथी, साहवा	भारतीय दर्शन में प्रमाणवाद
नेरोता, बाबूपति	भारतीय दर्शन, कलकत्ता लोकभारती प्रकाशन, स्थापनावाद, प्रथम संस्करण १९६३
नीयल, यमनचान	कथकालीन काव्य : नया मुद्रांकन दिल्ली
नरुषिणी, कृष्णाकान्त (डा०)	द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुतीतन, दिल्ली

बलुर्वदी, बलुराम	साहित्यपत्र, बाराणसी
बलुर्वदी, बलदीश प्रसाद (डा०)	साहित्य और समाज
बलुर्वदी, बलुराम	संत साहित्य के प्रेरणा स्रोत
.. ..	वैष्णव धर्म
.. ..	कबीर साहित्य की परत
.. ..	संत साहित्य की भूमिका
बीबी (डा०)	कल्याणमय मन्त्र काव्य में विरहानुभूति की व्यंजना
बीधरी, के० ल०	भारतीय संस्कृति
बीरान, प्रतापसिंह (डा०)	कबीर : साधना और साहित्य , कानपुर, १९७६
बाल्कटा, गी विन्वत्ता	कान्तिकारी कबीर दिल्ली- १९७९
बायबलास, माताकनक	कबीर की भाषा : व्याकरणिक प्रयोग- वृत्तियों का विशेष अध्ययन, लखनऊ , १९६५
बीबी, बलुराम (डा०)	संत काव्य में परीक्षासूत्र का स्वयं व्याख्यान, १९६८

द्विवारी, रामचन्द्र	कबीर नीमशिवा
द्विवारी, नन्दकिशोर(डा०)	कव्यकुल के प्रसिद्ध काव्य में पाया स्तावकावाद, १९७७
द्विवारी, कन्हैया (डा०)	हिन्दी काव्य में नारी
द्विपाठी, वार्ताप्रसाद(डा०)	कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, संशोधन प्रकाशन, स्तावकावाद १९७७
द्विपाठी, साहित्यसूत्र	संस्कृत कवित्व के विकास का निर्माण काव्य पर प्रभाव रक्षाधीन प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली - १९६८
द्विपाठी, लक्ष्मणरायण	नयी कविता में वैयक्तिक चेतना, मधुरा
द्विपाठी, हविनाथ	प्रकाशनीय कवियों के काव्य सिद्धान्त
द्विपाठी, विश्वम्भर नाथ	सतसङ्गता और संस्कृति
द्विगुणाकृत, श्रीविन्द(डा०)	कबीर की विचारधारा
विनेत, रामजीपाल तर्मा	साहित्य के नये उन्मेष दिल्ली

दाधीप, महावीर (डा०)	अस्तित्ववाद : आधुनिकता और भारतीय परम्परा बीकानेर
द्विवेदी, रामकवच (डा०)	आलोचना
द्विवेदी, क्वारी प्रसाद	हिन्दी साहित्य की भूमिका, बम्बई
दुवे, राधेश्याम (डा०)	शैत साहित्य
निगम, ल० २०	भारतीय संस्कृति की कुछ आधारणाएँ
नवीर मुहम्मद (डा०)	कबीर के काव्य-रूप भारत प्रकाशन मैदिर, कलकत्ता प्रथम संस्करण
नगेन्द्र (डा०)	आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
..	मानविकी पारिभाषिक कोश नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६५
..	हिन्दी बाहुल्य : बीसवीं सदी दिल्ली, प्रथम संस्करण
..	भारतीय साहित्य संस्कृति एवं कला दिल्ली, १९७२

रैना, कृष्णा (डा०)

हिन्दी निर्गुण सप्त काव्य दर्शन और
भक्ति ,

सारदा प्रकाशन, दिल्ली,

१९७८

राधेश्वर बघात (डा०)

मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति परम्परा और
लोक संस्कृति ,

वाण्डुसिद्धि प्रकाशन, दिल्ली

१९७५

बर्मा, धीरेन्द्र (डा०)

मध्ययुग

बर्मा, सत्यभामा

नयी कविता के प्रतिभान
दिल्ली

कवर्क १००००००००

विन्दु माधव (डा०)

कबीर सम्भावली की भाषा

विद्यालोक, निरुपण (डा०)

भारतीय धर्म में स्त्रियों की स्थिति

विद्यालोक, सत्यमेव (डा०)

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

विकेकवास

कबीर साहित्य की प्राचीनता

वेदन (डा०)

सम्कालीन साहित्य और समीक्षा

भाटिया, कर्णनम्बिनी

सम्कालीन हिन्दी साहित्य में नारी
होनार की प्रकृति और परम्परा ,

१९६६

- भार्गव, विश्वेश्वर स्वरूप (डा०) भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास
बनारस, प्रथम संस्करण, १९६८
- भाषा, पुण्यनन्द (डा०) हिन्दी सावनी साहित्य पर हिन्दी संत
साहित्य का प्रभाव
बानरा, १९७२
- मीर, प्रस्ताव (डा०) कबीर का सामाजिक दर्शन,
कानपुर
प्रथम संस्करण
- मी, धर्मपात (डा०) मध्ययुगीन निर्गुण भक्तता
इलाहाबाद, १९७२
प्रथम संस्करण
- .. संतों के धार्मिक विश्वास
- महेन्द्र कबीर की भाषा
दिल्ली, १९६६
प्रथम संस्करण
- सिंह, बलदेव सफासोम दर्शन
- सिंह, रामेश्वर प्रसाद (डा०) संत काव्य में यौन का स्वरूप
पटना, प्रथम संस्करण
१९७७
- सिंह, रायदेव (डा०) संत साहित्य की भूमिका

सिंह, रावदेव

सन्तों की सत्य साधना

सिंह, चन्द्रमोहन

कबीर : व्यक्तित्व एवं साहित्य
इलाहाबाद

सिंह, रावदेव

सन्त साहित्य : पुनर्मुद्रण
नई दिल्ली, १९७३
प्रथम संस्करण

अष्टाक, रामचरित

महात्मा कबीर एवं महात्मा गांधी के
विचारों का तुलनात्मक अध्ययन,
दिल्ली, १९७२

..

कबीर दर्शन
सप्तम अंश प्रथम संस्करण

स्नातक, विवेकानन्द

कबीर,
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
१९७०

सुखसात बी

दर्शन : विस्तार

शिष्य, कबीर सात व्यास

भारतीय संस्कृति

सुखसात, सावित्री (ठा०)

संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक
पृष्ठभूमि
सप्तम अंश, १९६३

श्री-ना, बा विहारी चंद्र	समाज और धर्मकृति दिल्ली, १९७६ प्रथम संस्करण
सर्मा, रामनाथ	संस्कृतनीति दर्शन, मेरठ
सर्मा, श्रीराम (डा०)	लोकसाहित्य विज्ञान और प्रयोग जानपुरा, प्रथम संस्करण
सर्मा, रामजीकाका (डा०)	हिन्दी साहित्य का इतिहास : प्रवृत्तियों का मूल्यांकन
सर्मा, श्रीनिवास (डा०)	हिन्दी साहित्य का इतिहास
सर्मा, नित्यानन्द (डा०)	हिन्दी साहित्य का मन्थन
सर्मा, रामनाथ (डा०)	भारतीय दर्शन के कुछ तत्त्व मेरठ
सर्मा, रामनाथ	भारतीय संस्कृतनीति दर्शन मेरठ
सर्मा, रामपतिराय	निर्गुण काव्य पर मुफ्ती प्रभाव कानपुर, प्रथम संस्करण १९७७

सर्मा, रामाय सिंह

कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त,
जयपुर, प्रथम संस्करण
१९७६

..

कबीर बाणी .

बाजरा

संस्करण, १९७२

सर्मा, यशवन्त

कबीर साहित्य का र सिद्धान्त
दिल्ली
प्रथम संस्करण

सर्मा, नित्यानन्द (डा०)

हिन्दी काव्य में अव्यक्त तत्त्व

सर्मा, रामाय (डा०)

भारतीय नीतिशास्त्र

परमार, श्याम

लोक साहित्य विमर्श

पुरीहित, हरिद्वारा (डा०)

वाधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा
पर वास्तविक प्रभाव

पाण्डेय, रत्नाकर (डा०)

हिन्दी साहित्य : सामाजिक चेतना
दिल्ली
प्रथम संस्करण

पाण्डेय, राजकिशोर (डा०)

हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्ययुग

पाण्डेय, प्रिलोचन	लोक साहित्य का अध्ययन
पाण्डेय, संजय लाल	भारतीय दर्शन के बौद्ध प्रश्न
पाण्डेय, उषा (डा०)	मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में नारी- भावना , दिल्ली प्रथम संस्करण, १९५६
पाठक, पी०डी०	शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त
पारीस, लखन्य (डा०)	हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का वालीजनात्मक अध्ययन प्रथम संस्करण
मीनास्त्व, पुरुषोत्तम लाल	कबीर साहित्य का अध्ययन बनारस प्रथम संस्करण, २००८
कुविकान्त, (डा०)	भारतीय देव भावना और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य, बाण्डी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण १९७३

संपादित पाठ

कबीर ग्रंथावली - श्यामसुन्दर दास , ना० प्र० उभा, काशी
प्रथम संस्करण

कबीर ग्रंथावली - पारुष्नाथ तिवारी , प्रयाग विश्वविद्यालय,

कबीर ग्रंथावली - माता प्रसाद गुप्त, लीकभारती , ललाहाबाद

कबीर वचनावली , श्यामसुन्दर दास, काशी

बीक - विद्यादास शास्त्री, रामनारायण शास्त्र, ललाहाबाद

कीस

हिन्दी साहित्य कीस	श्रीति क्वाकल
मुसद् हिन्दी कीस	कालिका प्रसाद, प्रयाग
मानविकी पारिभाषिक कीस	डा० नरेन्द्र, दिल्ली, १९६५
.. दर्शन सङ्घ	.. १९६६
हिन्दी साहित्य कीस	डा० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल, वाराणसी २०२०
मानक हिन्दी कीस	राम चन्द्र वर्मा
ज्ञान सङ्घकीस	मुसद्दी लाल श्रीवास्तव

ENGLISH

- Aiyangar, T.K.** Early History of Vaishnavism in South India, Oxford University Press
1920
- Atreya, B.L.** Indian Culture, Delhi.
- Bhandarkar, R.G.** Vaishnavism Sahivism and other minor Religious Systems, Oxford University Press, Bombay.
- Carpenter, J.E.** Theism in Mediaval India, London
1926
- Dasgupt, S.N.** A History of Indian Philosophy II
Cambridge, 1966
- Harang, S.P.** Bhakti Kavya : Study , Current Book House, Bombay.

पत्र- पत्रिकाएँ

वर्धनव भारती, हिन्दी विभाग, कनिष्ठ मुस्लिम वि०वि०
बालीबना, दिल्ली

कल्याण- हिन्दू संस्कृति के , गोरखपुर

कल्याण - पश्चिम के , गोरखपुर

वार्धनी पत्रिका, कलाहाबाद २०२० वि०

हिन्दुस्तानी, कलाहाबाद